धर्मनिरपेक्षवाद और भारतीय प्रजातंत्र

एम. पी. दुबे

प्रस्तावना

डॉ० एम० पी० दुबे द्वारा धर्मनिरपेक्षवाद और भारतीय प्रजातन्त्र' शीर्षक पर पुस्तक की रचना बहुत ही समीचीन एव सामयिक कदम है ।

भारत की प्राचीन सस्कृति एव उसका इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत द्वारा विभिन्न भाषाओ एव धर्मों के मानने वालो को पूर्ण श्रद्धा प्रेम और सौहार्द के साथ गले लगाया गया तथा उन्हे अपने रीति रिवाज एव आचार विचार एव धर्म के अनुपालन मे पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त रही है । हमारे ऋषि-मुनियो ने न केवल हमे बल्कि विश्व को एकता, सद्भाव, शाति सहअस्तित्व तथा वसुधैवकुटुम्बकम्' का उपदेश दिया । इसका अनुसरण करने या मानने की बात कौन कहे हम दूसरे देशवासियो को यह उपदेश देने वाले थे । समय बदलता गया — सदियो हम दासता की बेडियो मे रहे । स्वतन्त्रता प्राप्त की । इसके बाद हमने अपने प्राचीन धर्मनिरपेक्षवाद एव प्रजातन्त्र को अपनाया और अपनी प्राचीन सस्कृति की महत्ता को समझने का प्रयास किया ।

सारे धर्म मानव-जाति के उत्थान के लिए अवतरित हुए हैं न कि मानव जाति के पतन के लिए एव मानव जाति से घृणा करने के लिए । किसी भी मानव जाति को ठेस पहुचाना ही 'अधर्म' है । सभी धर्मों मे अच्छी बाते पायी जाती हैं । हमे सभी धर्मों का आदर करना चाहिए क्योंकि उनके मूल सिद्धान्त एक ही हैं । धर्मनिरपेक्षता देश की एकता अखडता एव राष्ट्रोन्नति के लिए एक अमूल्य धरोहर व वरदान है । यदि किसी प्रकार मतभेद इतने बडे समाज मे उत्पन्न होते भी है तो उन्हे बगैर द्वेष और वैमनस्य के सद्भाव एव शातिपूर्ण ढग से सुलझाने का प्रयत्न करना चाहिए ।

धर्मनिरपेक्षता के बिना प्रजातन्त्र जीवित नही रह सकता । भारतीय प्रजातन्त्र विश्वविख्यात है । कितने ही देशो ने भारतीय प्रजातन्त्र के आदर्श से प्रभावित होकर इसे अगीकार किया है । विद्वानो ने प्रजातन्त्र की परिभाषा "जनता की सरकार जनता के लिए तथा जनता के द्वारा' की है जिसमे प्रजातन्त्र का पूरा भाव स्पष्ट हो जाता है । प्रजातन्त्र मे जनता की आवाज ही सब कुछ है और प्रत्येक नागरिक को अपने विचारो की अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता है । प्रत्येक को अपने-अपने रीति रिवाज, आचार विचार

एव धर्म अनुपालन की पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। जनता को अपने प्रतिनिधि चुनने एव उनके द्वारा—अपनी सरकार बनवाने का पूर्ण अधिकार होता है। इस स्वच्छ शासन प्रणाली एव निष्पक्ष मताधिकार का नाम 'प्रजातन्त्र' है। प्रजातन्त्र मे जन-प्रतिनिधियो की बहुत बडी जिम्मेदारी होती है। उन्हे अपने को जन-सेवक समझना चाहिए चाहे वे सत्ता मे हो या बाहर *यहा तक कि कोई भी बडा-से-बडा पद धारण करते हो। भारतीय प्रजातन्त्र* को आदर्श रूप देना हर नागरिक का सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य होना चाहिए।

स्पष्ट है कि धर्म-निरपेक्षवाद एव प्रजातन्त्र दोनो ही बडे महत्त्वपूर्ण मुद्दे हैं। इनको आधार बनाकर ही सारे भारतवासियो मे आपसी प्रेम सद्भाव भाई चारे की भावना सदैव कायम रहेगी तथा राष्ट्रीय एकता एव अखडता अक्षुण्ण बनी रहेगी।

धर्मनिरपेक्षवाद और भारतीय प्रजातन्त्र शीर्षक पर पुस्तक की आज समाज के लिए बहुत आवश्यकता है। मुझे आशा है कि यह पुस्तक समाज के हर वर्ग के लिए बहुत लाभदायक सिद्ध होगी। लेखक का यह कार्य प्रशसनीय है एव वह बधाई के पात्र है।

—बी सत्यनारायण रेड्डी
राज्यपाल उत्तर प्रदेश

दो शब्द

धर्मनिरपेक्षता एक बहुचर्चित विषय होने के साथ-साथ विवादास्पद भी रहा है। मेरी दृष्टि म इसका अध्ययन इसक व्यक्तिगत एव सामाजिक पहलुओ के परिप्रेक्ष म किया जाना आवश्यक है। व्यक्तिगत रूप म धर्म विवादास्पद नही समझा जा सकता क्योकि मनुष्य मात्र का स्वय कोई-न-कोई धर्म अवश्य होता है और उसके लिए उसी मे सीमित रहना श्रेयस्कर भी है स्वधर्मे निधन श्रेय परधर्मो भयावह । लेकिन स्वधर्म स्वय को ही पवित्र कर दैवी क्रिया-कलापो के महत्त्व व रहस्य का ज्ञान अर्जित करने के लिए है। हर *धर्म के व्यक्ति के लिए इस लक्ष्य की प्राप्ति के स्वय विभिन्न प्रकार और विधिया हैं। यह* पूर्णतया व्यक्तिगत है इस प्रकार के धर्म-पालन म निरपक्षता का कोई प्रश्न ही नही उठता है। इस प्रकार के व्यक्ति की दृष्टि मे बाह्य जगत के लिए भी एक ही 'सर्वोच्च धर्म दृष्टिगोचर होता है वह है—'मानव धर्म । लेकिन समाज के परिप्रेक्ष मे व्यक्तिगत अथवा मानव धर्म भी बहुधा दूषित हो जाता है और यही पर धर्मनिरपेक्षता की समस्या उत्पन्न होती है। विश्व का इतिहास साक्षी है कि बहुधा धर्म के सहारे शोषण और भ्रष्टाचार अधिक फैला है। इस प्रकार का धर्म अधविश्वास व रूढिवादिता का प्रेरक होता है जो मानव धर्म का विरोधी है। जिन राष्ट्रो मे एक ही धर्म प्रचलित है उसम धर्म के नाम पर विभेद की समस्या अधिक होती है लेकिन वे राष्ट्र जिनम विभिन्न धर्मावलम्बी निहित है धार्मिक पक्षपात की सभावना बढ जाती है जिसके परिणाम कभी-कभी भयानक हो सकते हैं अत शान्ति और सद्भावना की दृष्टि स धर्मनिरपेक्षता की अत्यधिक आवश्यकता *प्रतीत होती है ताकि राष्ट्र राज्य का विकास हो और शान्ति बनी रह।*

धर्मनिरपेक्षता का भाव भी समय के साथ परिवर्तित होता रहा है। पूर्व म इसका तात्पर्य केवल धर्म जैसे — मदिर मस्जिद गिरजा आदि की रूढिवादी परपरा के विरोध मे जुडा था लेकिन अब इसका तात्पर्य विविध प्रकार की भेदभाव की भावना को दूर करन से अधिक है। वह भेदभाव जो समाज मे आर्थिक राजनीतिक रहन-सहन आचार विचार आदि के रूप मे दृष्टिगोचर होता है। इन तत्त्वो का धर्म मे पूर्णतया अलगाव तभी धर्मनिरपेक्षता है जब धर्म परमात्मा और मनुष्य के बीच केवल व्यक्तिगत मामला ही रह जाये और यही धर्म का स्वरूप हो जाये।

डॉ० एम० पी० दुबे द्वारा लिखित इस पुस्तक 'धर्मनिरपेक्षवाद और भारतीय प्रजातन्त्र' में विषय का विवेचन विविध पहलुओं से किया गया है—ऐतिहासिक, संवैधानिक, जातीय आदि जो विशेषकर भारत से संबंधित हैं। समाजशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र के पाठकों, अध्यापकों, विद्यार्थियों तथा इस विषय में रुचि रखने वाले विद्वानों के लिए यह पुस्तक निश्चित ही उपयोगी सिद्ध होगी। आशा है डॉ० दुबे का परिश्रम सफल होगा।

—एम० डी० उपाध्याय
कुलपति
कुमायूं विश्वविद्यालय, नैनीताल

प्राक्कथन

धर्मनिरपेक्षता (पंथ निरपेक्षता) और धर्मबद्धता शब्द पिछली शताब्दी में ही समाज वैज्ञानिकों का ध्यान अपनी तरफ खींचते रहे हैं। लेकिन बीसवी सदी मे बढ़ते आधुनिकीकरण, औद्योगिकीकरण तथा नगरीकरण ने वैज्ञानिक तथा धर्मनिरपेक्ष भावना को काफी बल प्रदान किया है। उदारवादी प्रजातंत्र के विकास ने भी धर्मनिरपेक्षीकरण (लौकिकीकरण) मे अपूर्व योगदान दिया। इस प्रक्रिया मे धार्मिक चिंतन आचरण और संस्थाएं धीरे-धीरे सामाजिक महत्त्व खोती जा रही हैं। यह प्रक्रिया विभिन्न देशों मे भिन्न भिन्न गति से चलती रही है। डेविड मार्टिन ने अपनी पुस्तक ए जनरल थ्योरी आफ सैक्यूलराइजेशन (1978) मे इससे संबंधित चार प्रतिरूपों (पैटर्न) का वर्णन किया है। इन चार लक्षणो को उन्होंने संक्षेप मे बडे सुदर ढंग से व्यक्त किया है

1. **एंग्लो-सैक्शन** संस्थात्मक अपरदन, धार्मिक लोकाचार (ईथॉस) का अपरदन अव्यवस्थित धार्मिक विश्वासो का अनुरक्षण इसके लक्षण हैं।
2. **अमरीकी** इसमे संस्थात्मक विस्तारण धार्मिक लोकाचार का अपरदन अव्यवस्थित धार्मिक विश्वासो का अनुरक्षण होता है।
3. **फ्रांसीसी अथवा लैटिन** प्रभावशाली धार्मिक विश्वास लोकाचार तथा संस्थाएं—सामना करते हुए प्रभावशाली धर्मनिरपेक्षवादी विश्वास लोकाचार और संस्थाएं इसके लक्षण है।
4. **रूसी** इसमे धार्मिक विश्वासो, प्रकृति और संस्थाओं का प्रभावशाली अपरदन, किंतु बची हुई धार्मिक संस्थाओ के विश्वासो और लोकाचारो का अनुरक्षण होता है शेष अन्य प्रतिरूप इन्ही के रूप भेद हैं।

भारतीय संविधान मे उपबंधित धार्मिक स्वतंत्रता की अवधारणा काफी कुछ पश्चिमी विचारो पर आधारित है। फिर भी ये भारत की दार्शनिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि ही थी जिसने इस अवधारणा को स्वीकार करने के योग्य अनुकूल वातावरण प्रदान किया। अगर हम इतिहास की दूरबीन उठाकर अतीत की लगभग चार

हज़ार वर्ष लंबी पगडंडियों पर विहंगम दृष्टिपात करें तो हम पाते हैं कि सभी धर्मों और मत मतान्तरों के प्रति उदार सहिष्णुता भारत की महान परम्परा रही है। सभी धर्मों के अनुयायियों को अपने सिद्धान्तों का मंडन और प्रचार करने तथा अपनी पूजा-प्रार्थना और रीति-रिवाजों को निभाने की स्वतंत्रता रही है। ब्रिटिश सरकार ने भारत के अंदर व्याप्त धार्मिक जातीय प्रजातीय भाषीय क्षेत्रीय तथा जनजातीय आदि भिन्नताओं का जमकर फायदा उठाया और फूट डालकर शासन किया उसने सम्प्रदाय को सम्प्रदाय से जाति को जाति से क्षेत्र को क्षेत्र से और भाई को भाई से आपस में लड़ाया। अंग्रेज अधिकारी राष्ट्रवादियों के खिलाफ दमन का कुचक्र चलाते रहे। आर्थिक व्यवस्था प्रगतिरोध के दौर से गुजर रही थी। सामंतवादी परंपराएं तथा आर्थिक शोषण किसानों की कमर तोड़ रहे थे। जहां एक तरफ प्रेम सद्भावना आपसी सहयोग का भाव छलकता था वहीं पर दूसरी तरफ अंधविश्वास धार्मिक कट्टरता भुखमरी बीमारी तथा अशिक्षा का अंधकार छाया हुआ था छुआछूत का कोढ़ समाज के पूरे शरीर में फैला हुआ था। स्त्रियों की स्थिति बड़ी दयनीय थी धर्म के ठेकेदारों ने उन्हें जीवनसंगिनी नहीं गृहदासी मान लिया था गृहस्वामिनी नहीं पैरों की जूती समझते थे बामाग नहीं वासना-तृप्ति का साधन बना रखा था। विवाह विच्छेद उत्तराधिकार दत्तक ग्रहण विरासत तथा वसीयत आदि में वे किसी दशा में पुरुषों की बराबरी नहीं कर सकती थीं। धर्म और राजनीति का गठजोड़ बना हुआ था। साम्प्रदायिक हिंसा लूटपाट तथा आगजनी समाज में विद्वेष और घृणा फैलाकर उसे खोखला बनाते जा रहे थे। अभाव ही अधिकांश का जीवन था दरिद्रता ही कुटुंब था आह भरकर सिसक सिसककर प्राण दे देना ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य था। वे जीते थे इसलिए कि मौत नहीं आती थी और मरते थे इसलिए कि जीने का कोई सहारा नहीं होता था। अत भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के कर्णधारों के लिए व्यक्ति की गरिमा और उसका आत्मसम्मान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था। उनका अपरदन बर्दाश्त करना उनके लिए संभव नहीं था। वे मानवमात्र की पूर्णीयता में विश्वास रखते थे। उनकी आस्था मनुष्य जाति की असीमित उन्नति में थी। पूर्ण मूल्य के रूप में नागरिक स्वतंत्रता में उन लोगों का अटूट विश्वास था। वे मानते थे कि लगभग डेढ़ सौ वर्षों से गुलामी की जंजीरों में बंधे चले आ रहे आर्थिक रूप से शोषित तथा सामाजिक रूप से कुंठित शैक्षिक रूप से उपेक्षित और सांस्कृतिक रूप से अवमानित भारतीयों की गरिमा और आत्मसम्मान को धर्मनिरपेक्ष प्रजातंत्र के द्वारा ही प्रतिष्ठित किया जा सकता है और भारत को एक मजबूत आधुनिक राष्ट्र-राज्य के रूप में विकसित किया जा सकता है। धर्मनिरपेक्ष प्रजातंत्र नेहरू आदि नेताओं के लिए एक धर्म सिद्धांत बन गया। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्रेम की स्वतंत्रता, नागरिक स्वतंत्रता, सार्वजनिक वयस्क मताधिकार विधि का शासन और स्वतंत्र न्यायपालिका में उन लोगों की गहरी आस्था थी।

सभी धर्मों जातियों वर्गों, जनजातियों, भाषा भाषियों और क्षेत्रों को राष्ट्रीय एकता के सूत्र में पिरोने के लिए, लोगों को सामाजिक आर्थिक तथा राजनीतिक न्याय दिलाने तथा स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व की भावना का विकास करने के लिए हम

भारत के लोगों ने प्रभुसत्ता सपन्न समाजवादी धार्मिक निरपेक्ष प्रजातंत्र स्थापित करने का संकल्प लिया । इतिहास साक्षी है कि धर्म के नाम पर अनेक जघन्य और समाज विरोधी कार्यों का भी संरक्षण देने का प्रयत्न किया गया है । अनेक दृष्टान्त मिलते हैं जब एक धर्म के अनुयायियों ने दूसरे धर्म के अनुयायियों पर घोर अत्याचार किये हैं । धर्म के नाम पर ही अनेक प्रकार की कुरीतियों और नृशंसताएं पनपती रही हैं । भारत में *नरबलि बाल विवाह शिशु बालिकाओं को नदियों में फेंक देना सती प्रथा देवदासी प्रथा बहु विवाह अस्पृश्यता आदि कुरीतियाँ किसी-न किसी प्रकार धर्म से जुड़ी थी ।* यही कारण है कि हमारे सविधान में धर्म की स्वतंत्रता के साथ-साथ कई परिस्थितियों में मनुष्य को धर्म से स्वतंत्रता दिलाने के लिए अनुच्छेद 25 से 28 में व्यवस्था की गयी है । धर्म मूलवंश जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर विभेद का प्रतिषेध किया गया है । वैज्ञानिक दृष्टिकोण मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करने पर बल दिया गया है । धर्म मूलवंश जाति या लिंग के आधार पर किसी *व्यक्ति का निर्वाचक-नामावली में सम्मिलित किये जाने के लिए अपात्र न होने और उसके द्वारा किसी विशेष निर्वाचक-नामावली में सम्मिलित किए जाने का दावा न किये* जाने का उपबंध किया गया है । अनुसूचित जातियों अनुसूचित जनजातियों तथा पिछडे वर्गों के लिए विशेष उपबंध किये गये हैं । अल्पसंख्यक वर्गों के हितों के संरक्षण के लिए मौलिक अधिकारों की व्यवस्था की गयी है । शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन करने का अल्पसंख्यक-वर्गों को अधिकार दिया गया है । हमारे सविधान में धर्मनिरपेक्षता का स्वरूप सब धर्मों के प्रति समानसम्मान-सर्वधर्म सद्भाव में अभिव्यक्त होता है । *भारतीय राज्य किसी विशेष धर्म को मानने के लिए न तो प्रोत्साहन देता है और न ही* हतोत्साहित करता है । किसी व्यक्ति को किसी विशेष धर्म के मानने के परिणामस्वरूप राज्य की ओर से न कोई हानि होती है और न ही कोई लाभ ।

सविधान लागू होने के बाद आरभ के वर्षों में प० जवाहरलाल नेहरू और उनके सहयोगियों ने धर्मनिरपेक्ष प्रजातंत्र की अनेक स्वस्थ परम्पराओं को विकसित किया । धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकारों को साकार बनाने के लिए अनेक कदम उठाये गये । अछूतों और स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए अनेक व्यवस्थाएं की गयी । अस्पृश्यता निवारण पर विशेष बल दिया गया । हिंदू कोड बिल पारित किया गया । अल्पसंख्यकों में आत्मविश्वास फिर से वापस लाने के लिए अनेक उच्च पदों पर उन्हें प्रतिनिधित्व दिया *गया । किंतु सन् 50 का दशक समाप्त होते-होते यह लगने लगा कि भारतीय धर्मनिरपेक्ष मूल्यों के महल में जंग और नुनखार का प्रकोप हो रहा है । धीरे धीरे देश का नेतृत्व ऐसे* लोगों के हाथों में आता गया जो न तो नेहरू के समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांत को भली भांति समझते थे और न उसे व्यवहार में अमल करने को तत्पर थे । धीरे धीरे सांविधानिक नैतिकता में गिरावट आने लगी । विघ्नकारी तथा विभाजक प्रवृत्तियां देश की एकता और अखंडता और राजनीतिक स्थायित्व को धमकी देने लगी । जातिवाद सम्प्रदायवाद, भाषावाद और क्षेत्रवाद अपने सूनी पंजे सामाजिक शांति सुरक्षा, सद्भाव और प्रगति की तरफ बढ़ाने लगे । धार्मिक कट्टरवाद और उग्र राष्ट्रवाद अपनी तलवारें

पैनी करने लगे।

आज आजादी के चार से भी ज्यादा दशकों के बाद भारत का नागरिक क्या पढ़ेगा क्या नहीं पढ़ेगा। किससे मिलेगा किससे नहीं मिलेगा। क्या पहनेगा क्या नहीं पहनेगा। यह बोहरा आदि के लिए दाई बनायेगा। एक तलाकशुदा पत्नी भूखों मरे या अपने जीवन की रक्षा करने के लिए शरीर को बेचने के लिए मजबूर हो जाये लेकिन सपन्न पति भरण पोषण देने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता क्योंकि धर्म ऐसा करने की अनुमति नहीं देता है। स्वीय विधियां चाहे कितनी ही असंगत क्यों न हो गयी हों राज्य उनमें संशोधन नहीं कर सकता क्योंकि वे ईश्वरीय कृति है। आज भी ओमकुंवर जैसी विधवाएं चिता मे भून दी जाती हैं। विधवाओं को कौन कहे शादी शुदा स्त्रियों के मान-सम्मान को दहेज प्रथा ने रौंद डाला है। स्त्रियों को मारना-पीटना तथा दहेज प्रथा की अग्नि में आहुति दे देना आम बात होती जा रही है। सवर्णों और अवर्णों के बीच की लक्ष्मण रेखा मिटा दी गयी हो ऐसा तो बिलकुल नहीं लगता जातिवाद का कोढ़ सामाजिक ढांचे को विद्रूप बनाने मे कोई कसर नहीं छोड़ रहा है। पंडों पुजारियों महंतों तथा प्रबंधकों द्वारा तैयार किया गया हरिजन मंदिर प्रवेश निषेध का दुर्ग ढह चुका होता तो हरिजनों को मंदिरों में प्रवेश दिलाने के लिए पुलिस बल की आवश्यकता क्यों पड़ती? जगह-जगह पर साम्प्रदायिक हिंसा लूट-पाट तथा आगजनी ने अहिंसा रहम, शांति और सद्भावना का गला घोंट दिया है नफरत द्वेष हिंसा और पाप अपनी सफलता पर अट्टहास कर रहे हैं। जुल्म शोषण अत्याचार और भ्रष्टाचार आपसी भाई-चारे की कब्र पर घी के दीये जला रहे हैं। छोटी से छोटी घटनाएं साम्प्रदायिक दंगों मे बदल जाती हैं। (इन्सानियत) मानवता गायब हो जाती है रह जाती है हैवानियत, विधवाओं का रुदन बच्चों का करुण क्रंदन मुहब्बत के स्थान पर नफरत कुरान के रहम और रहमत की तिलांजलि दे दी जाती है। हिंदू ऋषियों मुनियों और महात्मा बुद्ध के करुणा के पाठ को भुला दिया जाता है प्रभु यीसू के प्रेम के उपदेश से मुंह फेर लिया जाता है। अत टी० एन० मदान जैसे लेखक यह कहने को मजबूर हो गये हैं कि वर्तमान परिस्थितियों में दक्षिणी एशिया में धर्मनिरपेक्षता जीवन के ऐसे सिद्धांत के रूप में जिसमें सामान्यत भागी हुआ जा सके असभव है राज्य कार्य के आधार के रूप में अव्यावहारिक है। आगे आने वाले भविष्य की रूपरेखा के रूप में कमजोर है। क्योंकि अधिकांश लोग अनेक धार्मिक विश्वासों के सक्रिय समर्थक हैं। राज्यों के लिए सभी धर्मों के साथ समान दूरी बनाये रखना बड़ा कठिन है तथा धर्मनिरपेक्षता धार्मिक कट्टरवाद का मुकाबला करने में असमर्थ रही है।

प्रश्न उठता है कि क्या भारत जैसे देश मे धर्मनिरपेक्षता सभव नहीं है? क्या धर्मनिरपेक्षवाद के पनपने के लिए यहां वातावरण उपलब्ध नहीं था? क्या धर्मनिरपेक्ष प्रजातंत्र का कोई विकल्प हो सकता था या है? क्या संविधान बनाते समय हमने धर्मनिरपेक्ष मूल्यों को सही अर्थों में न अपनाने की भूल की है? क्या हम धर्मनिरपेक्षवाद के सिद्धांतों को व्यवहार में नहीं बदल पाये? अगर नहीं तो क्यों? धर्म के नाम पर या तो मंदिर मस्जिद गुरुद्वारा और चर्च हमारी स्मृति मे आते हैं या फिर गीता, रामायण,

कुरान, गुरुग्रंथ साहिब और बाइबिल क्या यही धर्म है ? क्या राजनीति वही है जिसे हम नंगी आंखों से देखते महसूसते हैं ?

ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनके उत्तर देश की अखंडता, राजनीतिक स्थायित्व और राष्ट्रीय पहचान को सबल बनाने के लिए आवश्यक हैं। अतः वैज्ञानिक विचार पद्धति का अवलंबन करके उपपत्ति और युक्ति के सहित समझने के लिए विषय के इतिहास और विकास के साथ-साथ इसकी वर्तमान अपेक्षित परिस्थिति को ठीक-ठीक जानने का इस पुस्तक में प्रयास किया गया है। अगर इस पुस्तक से विभिन्न सम्प्रदायों में सक्रिय शक्तियों की समझदारी बढ़ती है तो निश्चय ही इससे उनके बीच आपसी सद्भाव की उम्मीदें और मजबूत होंगी।

मैं प्रो० एम० डी० उपाध्याय, कुलपति, कुमायूं विश्वविद्यालय का बहुत आभारी हूं जिनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन का मैं ऋणी हूं। विचार विमर्श और प्रोत्साहन के लिए मैं डॉ० ए० डी० पंत, निदेशक, गोविन्द बल्लभ पंत समाजविज्ञान संस्थान, इलाहाबाद का अति आभारी हूं। प्रो० बी० के० पंत तथा प्रो० पी० सी० पांडे, कुमायूं विश्वविद्यालय को मैं धन्यवाद देना चाहूंगा जिन्होंने इस विषय का अध्ययन करने के लिए मुझे लगातार प्रेरित किया। मैं प्रकाशकों का समय से पुस्तक प्रकाशित करने के लिए बहुत आभारी हूं उन्हें मैं धन्यवाद ही दे सकता हूं।

अंत में मैं अपने सभी मित्रों एवं शुभचिंतकों के प्रति आभारी हूं जिन्होंने पुस्तक को पूरा करने में समय-समय पर सहयोग दिया है। मैं मधुमय और तनमय को धन्यवाद देता हूं जो मुझे परेशान करने के बजाय 'कॉलिज होमवर्क' से अकेले जूझते रहे।

—एम० पी० दुबे

नैनीताल
1 मार्च 1991

अनुक्रम

1

धर्मनिरपेक्षता का ऐतिहासिक सदर्भ

धर्मनिरपेक्षवाद की अवधारणा

राजनीतिशास्त्र मे अनेक शब्द ऐसे है जो सुस्पष्टता की पकड मे भली प्रकार नही आते। राजनीतिशास्त्रियो द्वारा परिभाषाओ के बधन म बाधने के प्रयास के बावजूद उनके दामन की डोर ढीली ही नजर आती है। धर्मनिरपेक्षता शब्द उनमे से एक है। अनेक विचारको ने इस शब्द के अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयास किया है किन्तु उनमे मतैक्य का अभाव आज की सच्चाई है। कुछ ने अगर इसकी व्यापक अर्थो म व्याख्या की है तो कुछ ने बिलकुल सकुचित अर्थो मे परिभाषित करके इसे ईश्वर विरोध और नास्तिकता से जोड दिया। अभी तक धर्मनिरपेक्ष राज्य का कोई सार्वभौमिक मान्य मॉडल अथवा सिद्धान्त विकसित नही हो सका है। आज जितनी तरह की धर्मनिरपेक्ष सरचना का दावा करने वाली राजनीतिक व्यवस्थाए है उतने प्रकार के धर्मनिरपेक्षवाद की चर्चा की जाती है तथा तदनुसार धर्मनिरपेक्षीकरण की भी विद्वानो एव बुद्धिजीवियो ने अलग-अलग ढग से व्याख्या की है।

'सेक्यूलर' शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन भाषा के 'सेकुलम' शब्द से हुई है जिसका मौलिक अर्थ 'युग' अथवा 'पीढी' था किन्तु क्रिश्चियन लैटिन मे इसका अर्थ 'लौकिक जगत' हो गया। एक अग्रेजी शब्दकोश मे इसका आशय धर्म के साथ किसी भी प्रकार के सबधो का अभाव है।[1] एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका म धर्मनिरपेक्षवाद को मानवजाति के भौतिक सामाजिक और नैतिक उन्नति के लिए प्रचलित उपयोगितावादी नैतिकता को एक शाखा के रूप मे परिभाषित किया गया है। इस शब्द का अर्थ उससे है जो अध्यात्म से विलग हो, धार्मिक या आध्यात्मिक विषयो मे असबद्ध हो या कोई भी ऐसी वस्तु हो जो धार्मिक वस्तुओ से पृथक् हो या आध्यात्मिक या धर्म सबधी मामलो के विपरीत सासारिक हो।[2] कुछ विद्वानो ने धर्मनिरपेक्षवाद को कुछ लोगो द्वारा महज प्रतिवाद के आदोलन अथवा अस्थायी असतोष और प्रतिक्रिया के रूप मे देखने का प्रयास किया है. ऐसा

सामाजिक राजनीतिक और आर्थिक अपकृत्यों के विरुद्ध था, जिसे धर्मानुयायी दैवीय विधान के रूप में देखते थे। ऐरिक एस० वाटरहाउस के अनुसार 'धर्मनिरपेक्षवाद धर्म द्वारा प्रस्तुत धारणाओं के विपरीत जीवन व आचरण की धारणा का दर्शन है।" वाटरहाउस ने धर्मनिरपेक्षवाद का अत्यधिक वैज्ञानिक ढंग से वर्णन किया है। उन्होंने एक व्यापक आंदोलन के रूप में इसके दार्शनिक इतिहास का आरंभ यूरोपीय पुनर्जागरण काल के राजनीतिक और सामाजिक दर्शन में खोजा है।[3] कुछ विद्वानों ने इस शब्द का इतने व्यापक अर्थों में प्रयोग किया है कि इसमें वैज्ञानिक मानववाद प्रकृतिवाद, भौतिकवाद अज्ञेयवाद प्रत्यक्षवाद बुद्धिवाद उपयोगितावाद आदि को सम्मिलित कर लिया है।

धर्मनिरपेक्षवाद (सेक्यूलरिज्म) शब्द को गढ़ने और उसे प्रचलन में लाने का श्रेय उन्नीसवीं शताब्दी के उग्र सुधारवादी अंग्रेज विचारक जार्ज जैकब होल्योक को जाता है। धर्मनिरपेक्षता की दार्शनिक जड़ें उपयोगितावादी विचारकों— जेम्स मिल और बेन्थम के चिंतन से प्रारंभ होती है। किंतु आधुनिक रूप में धर्मनिरपेक्षवाद की अवधारणा की स्पष्टता होल्योक द्वारा दी गयी। सन् 1850 में उसकी मुलाकात ब्रैडलाफ से हुई और उसके दूसरे वर्ष उसने सेक्यूलरिज्म शब्द की कल्पना की तथा 1859 में उसने प्रिंसिपुल्स आफ सेक्यूलरिज्म नाम की पुस्तक प्रकाशित किया। यद्यपि होल्योक ब्रैडलाफ का सहयोगी था किंतु दोनों ने धर्मनिरपेक्षता के बारे में अलग-अलग रुख अपनाया— आस्तिकतावादी और अनास्तिकतावादी ये दोनों प्रकार के धर्मनिरपेक्षवाद संबंधी विचार आज विश्व के अनेक भागों में व्यवहार में लाये जा रहे हैं। आस्तिकतावादी अथवा होल्योक के धर्मनिरपेक्षता के दृष्टिकोण में धर्म को स्थान दिया गया है उसमें इस बात पर बल दिया गया है कि धर्मनिरपेक्षवाद का धर्म से संबंध शत्रुतापूर्ण होने के बजाय परस्पर अपवर्जी होता है। होल्योक ने ऐसे नैतिक सिद्धांतों का विकास किया जो बिना किसी देवता के अथवा अगले जन्म का उल्लेख किये जीवन और आचरण का एक निश्चित सिद्धांत प्रदान करता है और इस प्रकार धार्मिक संघों से पृथक् धर्म के कार्य को पूरा करने का प्रयास करता है। उनका मानना था कि शुद्धत धर्मनिरपेक्ष विचारों के द्वारा नैतिकता को प्राप्त किया जा सकता है तथा उस पर ही सदाचार को आधारित किया जा सकता है। धर्मनिरपेक्षवाद सदाचार को एक आधार प्रदान करता है जो सभी तरह के धार्मिक विश्वासों से स्वतंत्र होता है। दूसरी तरफ ब्रैडलाफ ने धर्म विरोधी रुख अपनाया। उसका मानना था कि जब तक धर्म अंधविश्वास और ईश्वर मीमांसा से संबंधित भावशून्य सिद्धांतवाद समाज में व्याप्त रहेंगे तब तक भौतिक उन्नति असंभव है। उसके किस्म का धर्मनिरपेक्षवाद पूर्णरूप से धर्म का अस्वीकार करता है तथा विज्ञान को अपना देवता मानता है। इस प्रकार होल्योक का मॉडल धर्म और राज्य के मामलों को पृथक् रखता है। सभी धर्मों से बराबर दूरी बनाये रखना है। सभी धर्मों के साथ तटस्थता रखना है तथा धर्म को व्यक्ति के निजी जीवन तक सीमित रखना है। लोक-जीवन में विवेक का मापदंड मार्ग निर्देशक सिद्धांत होता है। दूसरी तरफ ब्रैडलाफ का मॉडल धर्म का विरोध करता है और धर्मनिरपेक्ष राज्य अपने मामलों में धर्म को बहिष्कृत तो करता ही है साथ ही अपने

नागरिकों के व्यक्तिगत निजी जीवन में निषेध करता है। बैडलाफ के मॉडल अर्थात् मार्क्स के साम्यवादी परंपराओं के धर्मनिरपेक्षवाद को साम्यवादी देशों में अपनाया गया है, जबकि होल्योक के मॉडल अर्थात् पश्चिम के उदारवादी प्रजातांत्रिक परम्पराओं के धर्मनिरपेक्षवाद को पश्चिमी देशों तथा भारत में अनेक विभिन्नताओं के साथ अपनाया गया है। साम्यवादी धर्मनिरपेक्षवाद का दृष्टिकोण आत्यतिक है। इसके विपरीत पश्चिम के उदारवादी परंपराओं में धर्मनिरपेक्षवाद का अर्थ ईश्वर विरोधी अथवा नास्तिकतावादी नहीं है बल्कि इसे एक ऐसे सक्रिय माध्यम के रूप में देखा जाता है जो कि मनुष्य को अपनी प्रकृति के पूर्ण विकास के लिए उत्साहित करता है यह मनुष्य के व्यक्तित्व का भौतिक और शारीरिक के अतिरिक्त जीवन के अन्य पहलुओं के विकास का साधन है अर्थात् धर्मनिरपेक्षवाद में वे सभी मानव विचार एवं क्रियाएं आ जाती हैं जिनका बिना दैवी अथवा अदृश्य शक्तियों का सहारा लिये मानव कल्याण प्राप्त करना लक्ष्य होता है।

धर्मनिरपेक्ष राज्य में राज्य धर्म से पृथक् तथा असबद्ध होता है। राज्य और धर्म—दोनों का अपना अलग-अलग क्षेत्र होता है, व्यक्ति की नागरिकता धर्म पर आधारित नहीं होती है। इन उक्त जटिलताओं को ध्यान में रखते हुए डी० ई० स्मिथ[4] ने अपने प्रशंसनीय तथा अनुबोधक अध्ययन में धर्मनिरपेक्ष राज्य की व्यवहार्य परिभाषा दी है। उनके अनुसार, "धर्मनिरपेक्ष राज्य एक ऐसा राज्य है जो व्यक्तिगत व सामूहिक रूप में धार्मिक स्वतंत्रता की सुरक्षा करता है, व्यक्ति को किसी धार्मिक भेदभाव के बिना एक नागरिक के रूप में देखता है, संवैधानिक दृष्टि से किसी धर्म विशेष से असयुक्त रहता है। यह किसी धर्म के प्रसार में सहायक या बाधक नहीं होता। सूक्ष्म परीक्षण से यह देखा जा सकता है कि धर्मनिरपेक्ष राज्य की धारणा में तीन विभिन्न परंतु अंत संबंधित संबंधों के स्तर—राज्य, धर्म और व्यक्ति—निहित हैं। संबंधों के तीन समूह हैं

1 धर्म और व्यक्ति (धर्म की स्वतन्त्रता)
2 राज्य और व्यक्ति (नागरिकता)
3 राज्य और धर्म (राज्य और धर्म का पृथक्करण)

धर्मनिरपेक्ष राज्य व्यक्ति को एक नागरिक के रूप में देखता है न कि किसी विशेष धार्मिक समूह के सदस्य के रूप में। नागरिकता की शर्तों को निर्धारित करते समय धर्म अप्रासंगिक होता है। अधिकार और कर्तव्य व्यक्ति के धार्मिक विश्वासों से प्रभावित नहीं होते। स्मिथ के अनुसार धर्मनिरपेक्ष राज्य की मूलभूत मान्यता यह होती है कि उसका धार्मिक मामलों में कोई लेना-देना नहीं होता है। इससे किसी भी प्रकार का विचलन युक्तियुक्त धर्मनिरपेक्ष आधारों पर अवश्य उचित होना चाहिए। स्मिथ की धर्मनिरपेक्ष राज्य की अवधारणा पूर्णतया आदर्श कही जा सकती है। जो सही अर्थों में अभी तक किसी भी देश में प्राप्त नहीं की जा सकी है। फिर भी इस परिभाषा को भी अपर्याप्तता की आलोचना का शिकार होना पड़ा है। अगर हम तीन सिद्धांतों, जो स्मिथ की धर्मनिरपेक्ष राज्य की व्यवहार्य परिभाषा में समाविष्ट होते हैं, पर विचार करें—धर्म की स्वतंत्रता (व्यक्तिगत तथा सामूहिक), संबंधों में समानता (राज्य की तटस्थता) —तो हम पाते

हैं कि वे परस्पर सबल प्रदान करने वाले सिद्धांतो के एक सुव्यवस्थित समूह नहीं हैं, जिनके द्वारा कोई भी राजनीतिक व्यवस्था किस मात्रा तक वास्तविक रूप से धर्मनिरपेक्ष है हम निर्धारित कर सकते हैं। बल्कि वे सभवत असगत सिद्धांतो के समूह हैं जो निश्चित स्थितियो मे परस्पर-विरोधी हो सकते हैं।[5] धर्मनिरपेक्षवाद के विश्लेषण मे धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया का ज्ञान बहुत महत्त्व रखता है। धर्मनिरपेक्षीकरण का अभिप्राय धार्मिक सस्थाओ से धर्मनिरपेक्ष निकायो मे सत्ता के हस्तातरण से है। इसके व्यक्तिनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ दो पहलू होते हैं। व्यक्तिनिष्ठ पहलू मे सासारिक चीजो की समझ से धार्मिक चिंतन अनुभव और कल्पना का धीरे-धीरे गायब हो जाना शामिल होता है। जिससे धर्म या तो एक स्वतन्त्र शक्ति के रूप में नहीं रह जाता है अथवा लोकोत्तर की सामान्य उपासना तक सीमित हो जाता है। परिणामत लोग दैनिक जीवन के दायित्वो कार्यों और सस्थाओ का अनुभव इस प्रकार करते हैं कि उसका ईश्वर से कोई सबध नही रह जाता है। धर्मनिरपेक्षीकरण के वस्तुनिष्ठ पहलू मे वे प्रक्रियाए सम्मिलित होती हैं जिनके द्वारा लोक जीवन से धार्मिक उपासनाओ सस्थाओ और अनुष्ठानो को बाहर कर दिया जाता है—शिक्षा मे विधि निर्माण मे प्रशासन और सरकार मे, अर्थात् सामान्य जन-जीवन के प्रमुख क्षेत्रों से धर्म को पृथक् करने की प्रक्रिया वस्तुनिष्ठ पक्ष प्रस्तुत करती है। एम० एन० श्रीनिवास के अनुसार

> धर्मनिरपेक्षीकरण शब्द मे अभिप्राय है कि जो पहले धार्मिक समझा जाता था अब वैसा नहीं है। इसका अभिप्राय विशिष्टीकरण की प्रक्रिया से भी है, जिसका यह भी परिणाम होता है कि समाज की विभिन्न आर्थिक, राजनीतिक, वैधिक और नैतिक पक्ष एक-दूसरे से सबधो मे अधिक-से-अधिक पृथक् होते जाते हैं। राज्य और चर्च के मध्य अतर तथा धर्मनिरपेक्ष राज्य की भारतीय अवधारणा—दोनो विशिष्टीकरण के अस्तित्व को अपनाते हैं।[6]

वास्तव मे धर्मनिरपेक्षीकरण आधुनिकीकरण प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण सहायक है। सज्ञान पर बल वैज्ञानिक भावना वैयक्तिकता और व्यक्तिवाद सर्वमुक्तिवाद विशिष्ट निष्ठा, जैसे—जाति रक्त—सबध क्षेत्र धर्म आदि मे स्वतन्त्रता विधि का शासन, सफलता प्राप्त करने तथा उपभोग करने की मानसिकता आधुनिकीकरण और धर्मनिरपेक्षवाद की मूलभूत विशेषताएं हैं। इस प्रकार धर्मनिरपेक्षीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा सस्कृति राज्य, अर्थव्यवस्था विधि और समाज के अधिक-से-अधिक क्षेत्र धर्म से तब तक पृथक् होते जाते हैं, जब तक कि धर्म प्रत्येक व्यक्ति और उसके ईश्वर के बीच शुद्धत निजी मामला नही बन जाता है। इसकी अवधारणा को भली प्रकार समझने के लिए इसके राजनीतिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि का ज्ञान आवश्यक है।

राजनीतिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि

धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा की आधुनिक उत्पत्ति पश्चिमी यूरोप के मध्ययुग के बाद के वर्षों मे मानी जा सकती है। ईसाई सभ्यता मे पूर्व धर्म और राज्य म कोई अतर नही

किया जाता था। सर्वोच्च धार्मिक कार्यों के सपन्न करने का दायित्व धर्मनिरपेक्ष शासको पर होता था। भारत को छोडकर लगभग सभी प्राचीन सभ्यताओ मे पुजारी और शासक की महति सतत विशेषता रही है। ईसाई धर्म के उदय ने ऐसे नये प्रकार के सबधो को विकसित किया, जिससे आदिकालीन विश्व अनभिज्ञ था तथा धर्म और राज्य की समस्या जिसका परिणाम थी।

यूनान रोम और फिलिस्तीन पश्चिमी सस्कृति के मूल्यो और सिद्धातो के उद्गम स्थान हैं। यूनान और रोम ने जहा समीक्षात्मक दृष्टिकोण, पर्यवेक्षण विधियो राजनीतिक सिद्धात, कानून और व्यवस्था-सबधी नियम दिये हैं, वहीं पर फिलिस्तीन ने *एकेश्वरवाद और ईश्वर के निर्देशानुसार आचरण करने वाले नैतिक मानव के विचार* प्रदान किये। इस प्रकार पश्चिमी परपरा के तीन अवयव तत्त्व— विचार, अनुपालन और आस्था— से यूनान, रोम और फिलिस्तीन क्रमश जुडे हुए हैं। मानव विवेक की शक्ति मे *आस्था यूनानियो की प्रमुख विशेषता थी*। उन्होंने हमेशा अपने नैतिक और धार्मिक दृष्टिकोणो का युक्तियुक्त आधार प्रस्तुत करने का प्रयास किया। उनके मस्तिष्क तर्क प्रधान थे। सत्ता और ऐश्वर्य प्राप्त करने के बजाय उन्होंने मानसिक शक्तियो के विकास और उपभोग को अधिक महत्त्व दिया। प्रकृति के प्रति वे तर्कसगत और सृजनात्मक दृष्टिकोण रखते थे। प्राचीन यूनान मे तर्कशास्त्र, जतुविज्ञान वनस्पतिविज्ञान भौतिकी, ज्यामिति, खगोल, काव्यशास्त्र मनोविज्ञान भूगोल नीतिशास्त्र और राजनीति पर काफी कुछ लिखा गया। पश्चिम को बौद्धिक और नैतिक अनुशासन प्रदान करने का श्रेय यूनानियो को जाता है। उनकी व्यक्तिगत प्रेरणा को स्वतत्र रूप से कार्यशील होने देने मे गहरी आस्था थी। होमर, एसाइलस एरिस्टोफेन्स पेरीक्लीज थ्यूसीडाइड्स प्लेटो और अरस्तू, पिंडार, साइमोनाइड्स ने विवेकशीलता, मानववाद और नागरिक गुणो पर बल दिया। वे मानववाद के प्रतिनिधि हैं। किंतु वे आदिकालीन समाज की कुरीतियो को दूर न कर सके। जहा वे अपनी स्वाधीनता के प्रति जागरूक थे वहीं वे भारी सख्या मे गुलाम बना रखे थे।

यूनान मे एल्यूशीनियाई, डायनीसियाई और आर्फियाई मतो के अतिरिक्त होमरी धर्म प्रचलित था। समग्र यूनानी समाज ने कभी रहस्यात्मक धर्मो को स्वीकार नही किया। ये धर्म सदैव नगण्य और विदेशी माने जाते रहे। धर्मसचालन राज्य द्वारा अपने हितार्थ होता था। नागरिक की हैसियत से प्रत्येक व्यक्ति को राज्य के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करना पडता था। गार्हस्थ्य जीवन मे उसे हर्मेज या अपोलो की पूजा करने की स्वतत्रता थी। रहस्यात्मक धर्म चूकि अनिवार्यत व्यक्तिगत थे और राज्य की सत्ता की उपेक्षा करते थे, इसलिए उन्हे धर्म नहीं अधविश्वास माना जाता था।[7] निश्चय ही यूनानी धर्म राजनीतिक और अ रहस्यात्मक था।

यूनान के नगर-राज्यो की उत्पत्ति धार्मिक थी। प्रत्येक राज्य ईश्वर का नगर था। सरकार की गद्दी को ईश्वर का मदिर समझा जाता था तथा उस ईश्वर की उपासना सभवत राज्य की नागरिकता प्राप्त करने की पूर्व शर्त थी। प्लेटो के अनुसार "नगर राज्य राजनीतिक व्यवस्था से कुछ ज्यादा था यह धार्मिक सप्रदाय और नैतिक

समाज भी था।" प्लेटो की दृष्टि मे आत्मा व्यक्ति का सबसे महत्त्वपूर्ण अग है, उसका सबध शाश्वत जगत से है, नश्वर जगत से नहीं। मृत्यु कोई बुराई नहीं है, शरीर-कारागार से मुक्ति है, जिसके बाद आत्मा विचार-समार मे पुन पहुच जाती है, जिसके साथ पृथ्वी पर जन्म लेने से पहले उसका नाता था। मानव का उद्देश्य परमात्मा के साथ यथासभव पूर्ण ऐक्य-स्थापना ही होना चाहिए। सुकरात ने प्लेटो की 'रिपब्लिक' मे आदर्श राष्ट्रमडल का वर्णन किया है हालाकि उस आदर्श के अनुरूप राज्य पृथ्वी पर कही नहीं है। किंतु शायद स्वर्ग मे ऐसा कुछ है जो केवल उसे दीख सकता है जो देखना चाहे और देखने के बाद अपनी आत्मा मे भी वैसा ही नगर बसाने का यत्न करे। 'रिपब्लिक' मे प्लेटो ने ईश्वर की धारणा और नैतिक आचरण के नियमो को विश्लेषित किया है। प्लेटो ज्ञान को एक गुण मानता है किंतु ज्ञान चेतन जगत का ज्ञान नही, वरन् इसमे परे के अत्यत श्रेष्ठ जगत और परम यथार्थ का ज्ञान है। अरस्तू राजनीतिक सगठन को सर्वोच्च मानता है जिसमे सभी तरह के सगठन सम्मिलित हैं जो नैतिक और सामाजिक सभी पहलुओ को नियमित करता है।

यूनान के नगर-राज्य के समान रोमक 'सिविटाज' भी धर्म और राज्य मे कोई अतर नहीं करता था। रोम का सम्राट् अपनी प्रजा की निगाह मे ईश्वर का अवतार माना जाता था। राज्य की सदस्यता के लिए उसकी पूजा करने की परपरा थी। नैतिकता और धर्म का कार्य राज्य मे निहित था। सम्राट् मे राजनीतिक और धार्मिक—दोनो शक्तिया निहित थीं। रोम के देवताओ की पूजा करना नागरिको के नागरिक कर्तव्यो का आवश्यक भाग था।

जूडावादी परपरा मे भी नैतिक मूल्यो का महत्त्व सर्वोपरि था। हिंदू समाज एक प्रकार का धार्मिक सगठन था। वे एक ईश्वर की पूजा करते थे जिसे वे सम्राट् विधायक, न्यायाधीश और युद्ध मे अपना नायक मानते थे। इजराइली राज्य की धारणा मे राज्य तथा उसके सस्थानो का स्वरूप धर्मतंत्री था। वहा जब राजकीय शासन स्थापित होता था तो राजाओं को प्राचीन धर्मतत्री परपराओ से जकडा हुआ दिखाया जाता था और उनकी शक्ति का मूल तथा प्रयोग दोनो ही पादरियो तथा पैगबरो द्वारा निर्धारित होता था, जिनके द्वारा ईश्वर की इच्छा अभिव्यक्त होती थी।

ईसाई धर्म का उदय

यदि यूनान ने स्वतंत्र विचार-क्षमता को प्रोत्साहित किया और रोम ने काम करने का सकल्प पैदा किया, तो फिलिस्तीन ने सवेगो को काम मे लगाने वाला ईसाई धर्म यूरोप को प्रदान किया। ईसाई धर्म ने रहस्यात्मकता को प्रोत्साहित किया, आशा का सिद्धात प्रचारित किया। उसकी पूजा विधि आदर्श थी। उसकी शिक्षा थी कि ईश्वर की दृष्टि में दास और सम्राट् समान हैं। उसने भ्रातृत्व प्रेम, क्षमा शाति, दया, अहिंसा और मादृनर्य को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। इस धर्म ने शीघ्र ही यूनानी दर्शन को भी अपना लिया। आरभ से ही ईसाई धर्म ने आधारभूत द्वयात्मकता को मान्यता और शिक्षा दी। सेंट मार्क

के गॉस्पेल्स में लिखा हुआ है कि ईसा ने उपदेश देते हुए कहा था 'लौकिक बातों में राजा का और पारलौकिक बातों में परमात्मा की आज्ञा का पालन करो।' वास्तव में इस वाक्य में प्रध्वसक निहित था। इसका अभिप्राय राज्य के क्षेत्र से समाज के क्षेत्र को पृथक् करना था। इसमें दो साध्यों का सिद्धांत अंतर्निहित था—लौकिक जो केवल राज्य में निहित है आध्यात्मिक जिस पर चर्च का प्राधिकार है।[8] राज्य की सत्ता वैधिक सत्ता के रूप में समझी गयी जिसमें आनुषंगिक नैतिक और धार्मिक कार्य सम्मिलित थे जबकि चर्च की सत्ता मुख्यतः धार्मिक के साथ-साथ शैक्षिक और सांस्कृतिक भी थी।

आरंभ में ईसाई धर्म के दिन बड़े संकटपूर्ण बीते। लगभग तीन शताब्दियों तक उन्हें अपराधी आगजनी करने वाले विधि विद्रोही साहित्यिक चोरी करने वाले लुटेरे और मानवता के दुश्मन समझा जाता रहा। उन्हें नास्तिक अराजकतावादी और यहाँ तक कि देशद्रोही माना जाता रहा। कई को तो भूखे शेरों के सामने डाल दिया गया अनेक तरह की यातनाएँ दी गयीं कुछ को मौत के घाट उतार दिया गया। नीरो के समय में चर्चों को अवैध घोषित कर दिया गया उनकी संपत्ति को जब्त कर लिया गया उनकी बैठकों पर मनाही लगा दी गयी तथा अनेक प्रकार से उत्पीड़ित किया गया।

उत्पीड़न के बावजूद ईसाई धर्म का विकास नहीं रुका बल्कि शैशवावस्था का ईसाई जगत मजबूत होता चला गया। सन् 311 में कान्स्टेंटाइन ने सहिष्णुता की राजाज्ञा इस शर्त के साथ जारी किया कि अनुशासन के विरुद्ध ईसाइयों द्वारा कुछ नहीं किया जायगा। एक वर्ष बाद कान्स्टेंटाइन और लिसिनियस ने युगांतरकारी मिलान की राजाज्ञा जारी करके बहुत बड़ा कदम उठाया जो शायद पश्चिम में धार्मिक स्वतंत्रता का प्रथम चार्टर था। इसमें व्यवस्था थी कि किसी को उपासना की स्वतंत्रता की मनाही नहीं होगी बल्कि अपनी इच्छानुसार धार्मिक मामलों का प्रबंध करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र होगा। ईसाई धर्म पर लगे सभी प्रतिबंध हटा दिये गये। जो ईसाई धर्म अपनाने की इच्छा रखता था बिना किसी बाधा के अपना सकता था। कान्स्टेंटाइन के समय में ही ईसाई धर्म को राज्य की मान्यता प्राप्त हो गयी और थियोडोसियस (379 95) के शासनकाल में वह साम्राज्य का सर्वमान्य धर्म हो गया। तत्पश्चात् वह धर्म जो कभी उत्पीड़ित रहा फिर सहन किया गया तत्पश्चात बराबरी का दर्जा दिया गया अंततः विजयी होकर अपने विरोधी पंथों को उत्पीड़ित करने लगा। काउंसिल सहधर्मियों को धर्मच्युत होने के अपराध में दंडित करने लगीं। बंधुत्व प्रेम की शिक्षा के स्थान पर अगली तीन शताब्दियों में सुसंगठित प्रभुता के बंधन की स्थापना हो गयी जिसमें शारीरिक दंड देने का विधान भी शामिल था। यह प्रभुता धार्मिक विश्वास के अन्य रूपों के प्रति असहिष्णु थी। सन् 346 में राज्य ने गैर ईसाई मंदिरों को बंद करने का आदेश दे दिया तथा अन्य देवताओं को बलि चढ़ाने पर मृत्युदंड की व्यवस्था कर दी। राज्य चर्च के धार्मिक मामलों में भी हस्तक्षेप करता था। ईसाई धर्म की आदिकालीन सरलता और पवित्रता नष्ट हो गयी और उसमें जटिलता और कट्टरता आ गयी। यह अब एक विशुद्ध धार्मिक आंदोलन नहीं रहा बल्कि एक धार्मिक राजनीतिक शक्ति बन गया। आगे चलकर पोपशाही को जन्म दिया तथा चर्च ने एक अत्यंत केंद्रीकृत और शिखरान्मुखी

संगठन का विकास किया। यह आध्यात्मिक क्षेत्र को लौकिक क्षेत्र से अलग करके यूनानी दर्शन के इस सिद्धांत— मनुष्य जीवन समस्त मूल्यों की प्राप्ति राज्य की सदस्यता द्वारा ही कर सकता है— की जड़ पर आघात करता है। वह व्यक्ति को नगर अथवा धर्म राज्य की जैविक एकता से निकाल लेता है और उस एक एस संसार के संबंध में रख देता है जो कि उत्तम ऊपर है। यह अधिक प्रारंभिक और कम व्यक्तिकृत समाज के ढांचे और उस मनोवैज्ञानिक एकता को ढहाता है जिसके कारण प्रारंभिक समाज दृढ़ और स्थिर बने रहे थे भले ही वे भावुक न हो।[9]

धीरे धीरे ईसाई धर्मानुयायी रूढ़िवादी विवादों में उलझने लगे। अन्तियाख के अभिनायस मार्सेलिनस ने लिखा है

> सम्राट कान्स्टेन्टियस द्वितीय के शासन के प्रारंभ में ईसाई धर्म विशुद्ध एवं सरल था किन्तु उसने अंधविश्वासों से उसे गड्डमड्ड कर दिया। धर्म संबंधी तर्क वितर्क में उसकी रुचि अधिक थी और अनुरूपता बनाये रखने के उत्तरदायित्व की भावना कम फलतः अनेकानेक भिन्नताएं पैदा हुईं। विभिन्न रूपों में शास्त्रार्थ आयोजित करके वह आग में घी डालता रहता था।[10]

संत आगस्टीन के अनुसार मानव समाज पृथ्वी पर स्वर्ग का संगठित राज्य है जिसमें जो विधि शाश्वत विधि से मेल नहीं खाती वह सही मायने में विधि नहीं है। इसी से बाद में सार्वभौमिकतावाद तथा ईसाई जगत की एकता का सिद्धांत विकसित हुआ। ईसाई धर्म के राज्य का धर्म घोषित हो जाने के बाद भी चर्च के पादरी जैसे आगस्टीन और पोप गैलाशियस प्रथम नागरिक और धार्मिक सत्ता की द्वयात्मकता पर जोर देते रहे। गैलाशियस ने दो तलवारों का सिद्धांत दिया। जिसमें उसने समाज का दोहरा संगठन प्रतिपादित किया—एक धर्म पर आधारित जिसका नियंत्रण धार्मिक अधिकारियों के हाथ में हो तथा दूसरा लौकिकता पर आधारित जो लौकिक अथवा नागरिक शक्तियों के क्षेत्र के अंतर्गत है। किंतु यह सिद्धांत पूर्णतः समानता पर आधारित नहीं था।

पोप गैलशियस प्रथम ने सम्राट आन्स्टोशियस को लिखा था 'महान सम्राट इस संसार पर दो शक्तियों— विशपगण तथा राजाओं— का शासन है। इन दोनों में पादरियों का उत्तरदायित्व अधिक भारी है क्योंकि उन्हें स्वयं राजाओं के कार्यों के लिए भी ईश्वर को हिसाब देना है

मध्यकालीन चिंतन का कद्र बिंदु था कि दोनों शक्तियों को राज्य के अंदर कैसे संतुलित किया जाय। राजा और पोप के अधिकारों के बीच विरोध काफी लंबे समय तक चलता रहा और काफी व्यापक था। वस्तुतः यह दो तरह के उद्देश्यों की पूर्ति में लगे हुए दो तरह के पदों की सत्ता के बीच पारस्परिक सामंजस्य स्थापित करने का प्रश्न था। यह मूलतः एक राज्य बनाम चर्च की समस्या नहीं थी जैसा कि आधुनिक भाषा में बड़ी सहजता से कह दिया जाता है बल्कि यह अनवरत एक रेस्पब्लिका क्रिश्चियाना (Respublica Christiana) के अंदर थी। निश्चय ही आरंभ में इस रेगनम (Regnum) और सैसरडोटम (Sacerdotium) के मध्य विरोध कहा गया यद्यपि आगे चलकर रेगनम

को राज्य और सैसरडोटम को चर्च कहा जाने लगा किंतु मध्यकालीन चिंतन में इन्हें कभी दो पूर्णतया अलग समाज के रूप में नहीं देखा गया अथवा आस्तिकों के उस कॉमनवेल्थ के साचे में जिसके भिन्न-भिन्न उद्देश्यों को ये अलग-अलग पूरा करते थे कभी अलग करके नहीं देखा गया।[11] इस प्रकार साम्राज्य और चर्च विभिन्न सदस्यता रखने वाले दो अलग-अलग समाज नहीं थे। यह एक ही रेस्पब्लिका क्रिश्चियाना था जिसमें चर्च का सदस्य होना और नागरिक होना एक ही बात थी।

शक्ति के लिए पोप के समर्थकों और साम्राज्यवादियों द्वारा परस्पर विरोधी दावे किये जा रहे थे। दो शक्तियां (तलवारों) के मौलिक विचार को संशोधित करते हुए पोप के समर्थकों ने इस बात पर बल दिया कि आरंभ में सभी तरह की सत्ता ईश्वर ने चर्च को दिया था आध्यात्मिक शक्ति को अपने पास रखते हुए चर्च ने लौकिक शक्ति को राज्य को निष्पादित करने के लिए दे दिया। किंतु मूलतः और अततोगत्वा सभी प्रकार की लौकिक शक्तियों का स्वामित्व चर्च के पास है। दूसरी तरफ साम्राज्यवादी इस बात पर बल दे रहे थे कि दोनों प्रकार की शक्तियां— धार्मिक और लौकिक— ईश्वर ने सीधे राज्य और चर्च को प्रदान किया। राजनीतिक महत्वाकांक्षा रखने वाले शासकों ने राष्ट्रीय स्वायत्तता का दावा किया तथा पोप की सत्ता को सभी क्षेत्रों में नहीं स्वीकार किया। लौकिक और पारलौकिक सत्ताओं का संघर्ष धीरे-धीरे व्यापक होने लगा। सन 800 में पोप ने शार्लमेन को पवित्र रोमन साम्राज्य का राजा बनाया। इस अधीनता के भाव को दूर करने के लिए उसने अपने पुत्र को स्वयं उत्तराधिकारी नियुक्त किया।

लौकिक और पारलौकिक सत्ताओं की मुठभेड़ नवीं शताब्दी में हुई जब पोप निकोलस प्रथम ने लौरेन के राजा को अपनी परित्यक्ता स्त्री को फिर से स्वीकार करने पर विवश किया। सबसे ज्यादा नाटकीय संघर्ष पोप ग्रेगरी सप्तम और सम्राट चतुर्थ के बीच, धर्म संघ के पदों पर अभिषेक को लेकर हुआ था। धर्म बहिष्कृति के परिणामस्वरूप सिंहासन से बैठने के भय के कारण हेनरी चतुर्थ को पोप के सामने झुकना पड़ा सम्राट को पोप ने अपने द्वार पर तीन दिन तक कड़ाके की बर्फ में पड़ा रहने और नाक रगड़ने के लिए विवश कर दिया। इस प्रकार पोप ईसाई मत के मानने वाली दुनिया का सर्वप्रभु बन गया था। आगे चलकर धर्मयुद्धों तथा वाणिज्य की वृद्धि के द्वारा उत्पन्न हुई परिस्थितियों में एक नवीन राजनीतिक तथा बौद्धिक समाज का निर्माण हुआ। विभिन्न राज्यों की अधिकांश जनता में आत्मनिर्भरता तथा देशभक्ति की एक नवीन और सच्ची भावना उभरने लगी। *सामंतवादी राज्यों के स्थान पर राष्ट्रीय राज्य स्थापित होने लगे।* राजाओं ने सामंतों की शक्ति को कुचलकर प्रजा पर सीधा अपना आधिपत्य जमा लिया जिससे उनके विरुद्ध इस्तेमाल किया जाने वाला विद्रोही सामंतों का अस्त्र पोप के हाथ से निकल गया। इस नवीन समाज में पोपशाही के प्रति दृष्टिकोण में एक भारी परिवर्तन हुआ। पोप बोनीफेस और सेंट लुई में जब संघ की भूमि को कर से मुक्त करने के प्रश्न पर झगड़ा चला तो पोप को हार माननी पड़ी। इसके बाद पोप की शक्ति घटती गयी और राज्य का प्रभुत्व बढ़ता गया। निःसंदेह मध्यकाल में कुछ लेखकों ने जैसे मार्सिलियो आदि ने धर्म के पालन में दबाव न प्रयोग करने के पक्ष में तर्क दिया। उसने राज्य को

लौकिक शक्तियो को युक्तियुक्तता प्रदान करने का प्रयास किया। अपनी पुस्तक डिफेन्सर पासिस मे धर्मनिरपेक्ष सरकार का सिद्धात प्रतिपादित किया तथा पोप बिशप आदि के बल प्रयोग के अधिकार अथवा निषेधादेश अथवा बहिष्कृति के अधिकार को अस्वीकार किया। उसका मानना था कि कानून अपनी सत्ता राष्ट्र से प्राप्त करती है तथा बिना उसकी स्वीकृति के अवैध होगी। उसने कहा कि नागरिको के अधिकार उसके धर्म से स्वतंत्र होते हैं तथा किसी भी व्यक्ति को उसके धर्म के लिए उसे सजा नही दी जानी चाहिए। किन्तु उसकी बातो की तरफ उस समय बिलकुल ध्यान नही दिया गया। मध्ययुग मे धर्मशास्त्र का बोलबाला था। ईसाई धर्म मे आतरिक एकता थी।

पुनर्जागरण और धार्मिक सुधार

रोमन कैथोलिक चर्च की सत्ता को सबसे बड़ा आघात पुनर्जागरण और धार्मिक सुधार से पहुचा। यूरोप मे पुनर्जागरण के परिणाम थे—मानववाद प्राकृतिक विज्ञानो का उदय नयी दुनिया की खोज और धर्म-सुधार। अनेक विचारक मानववादी दृष्टिकोण के हामी थे। किंतु उसकी रूढियो और साप्रदायिकता के कठोर आलोचक थे। वे व्यक्ति के अधिकारो तथा स्वतंत्र निर्भय तर्कपद्धति पर जोर देते थे। यूनानी कला के प्रति नयी रुचि जागी। इस युग के अनेक महान चित्रकारो की कृतिया अमर हो गयी। मुद्रणयत्र के आविष्कार से ज्ञान के प्रसार मे निश्चित योग मिला जिसने एक नवीन तार्किक प्रवृत्ति को जन्म दिया जो सोलहवी शताब्दी के प्रोटेस्टेंट धार्मिक सुधार के लिए उत्तरदायी थी। पोप की कर लगाने की नीति सम्पत्ति के प्रति चर्च की लालसा पादरियो की प्रभुता और अनुग्रह के कारण लोगो मे असतोष फैलने लगा। चर्च के उपदेश विधियो और नीतियो के प्रति भी धार्मिक अशांति और असतोष के लक्षण चौदहवी शताब्दी में प्रकट होने लगे थे। विरोध करने वालो का दमन किया गया कुछ को तो जला दिया गया। मुद्रणयत्र के आविष्कार के पश्चात बाइबिल हजारो पाठको के हाथ तक पहुची जिससे लोग उसके विभिन्न विषयो से अलग अलग निष्कर्ष निकालने लगे। लूथर के नेतृत्व मे एक आदोलन चला जिसकी घोषणा थी— मानव अपने कार्यो से नही अपितु धर्म से ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है सभी धर्मात्मा पुजारी है पुजारियो को विवाह की आज्ञा मिलनी चाहिए निजी प्रार्थना सभाओ का अत होना चाहिए पोप वस्तुत ईसाई धर्म विरोधी है। लूथर के आदोलन ने राष्ट्रीय भावना को बढाया। यूरोप के अनेक भागो मे राष्ट्रीय चर्च स्थापित हुए। जान कैल्विन मध्ययुग को अज्ञान का युग मानता था, पोपो के सिद्धात सच्चे धर्म के दूषित परिवेश थे। साथ ही कैल्विन और उसके शिष्यों ने यह शिक्षा दी कि चर्च को राज्य पर अधिकार और उसके सदस्यो पर नियंत्रण रखना चाहिए। यद्यपि लूथर, कैल्विन ज्विगली आदि सुधारवादियो ने चर्च राज्य के लिए कोई धर्मनिरपेक्ष सिद्धात प्रतिपादित नही किये फिर भी इनके विचारो का परिणाम यह हुआ कि मध्यकालीन रिपब्लिका क्रिश्चियाना ध्वस्त हो गयी और अनेक स्वतंत्र राज्य सत्ता मे आये। साथ ही सुधार से असहिष्णुता का एक नया युग भी आरभ हुआ। कैथोलिक और प्रोटेस्टैंट एक-दूसरे से

टकराये। प्रोटेस्टैट और कैथोलिक दोनो प्रकार के शासक अपनी धार्मिक निष्ठा का प्रजा मे *पूर्ण अनुपालन पर बल देने लगे। स्कैडिनेविया अर्थात् डेनमार्क नार्वे और स्वीडन* के शासकों ने लूथर के धर्म को रोमन कैथोलिक धर्म के समकक्ष स्वीकार किया। इस पर रोमन कैथोलिको ने विद्रोह किया। अत मे स्कैडिनेविया के देशो की सरकारो ने लूथर के प्रोटेस्टैट धर्म को अपना राजधर्म मान लिया। सन् 1558 मे रानी इलिजाबेथ (प्रथम) ने इग्लैड के चर्च की स्थापना की और उसे राजकीय चर्च घोषित किया। यह चर्च भी प्रोटेस्टैट था किंतु रोमन कैथोलिक धर्म के सिद्धातो से इतना भिन्न नही था जितने कि अन्य देशो के प्रोटेस्टैट धर्म।

पद्रहवी शताब्दी के मध्य से सोलहवी शताब्दी के अतिम भाग तक यूरोप मे जितने विशाल परिवर्तन हुए उतने पिछले हजार वर्षो मे नही हुए थे। यूरोपीय समाज की राष्ट्रीयता, आर्थिक शक्ति, विदेशी व्यापार खोज आदि अनेक दिशाओ म विशाल वृद्धि हुई और साथ-साथ धार्मिक सत्ता—जिसका कार्य था सामाजिक जीवन की अनगढ शक्तियो को एक व्यवस्थित सस्कृति का रूप देना—अत्यधिक क्षीण होकर बिखरने लगी।

आधुनिक धर्मनिरपेक्ष चिंतन

धार्मिक सुधार आदोलन के बाद भी अत्याचार करना जलाना सताना और बहिष्कृत करना चलता रहा। यद्यपि प्रत्येक मत के प्रोटेस्टैट पोप की महत्वाकाक्षाओ का खडन करने के लिए सयुक्त हो गये थे तथापि वे इस विषय म कि किस व्यक्ति अथवा सगठन को धार्मिक विश्वास और व्यवहारो पर प्राधिकार प्राप्त होना चाहिए असहमत थ। अल्पसख्यको के प्रति सहिष्णुता को कोई स्थान प्राप्त नही था। सहिष्णुता के स्वर को अधिकाशत दुष्टतापूर्ण सकटकारी माना जाता रहा। समय-समय पर अनक लखको एव विचारको ने असहिष्णुता के दुर्ग को ढहाने म बहुत बडी भूमिका निभायी। सोलहवीं शताब्दी मे राबर्ट ब्राउन और विलियम साटलट ने मनुष्य के विश्वास की उपेक्षा करके उसे प्रताडित करने की प्रवृत्ति की घोर निंदा की थी। पहल बैप्टिस्ट्स म स बुशर और रिचर्ड्स ने भी धर्म के नाम पर प्रताडनाए देने की वास्तविकता को खडित किया था। *अमरीका मे राजर विलियम और इग्लैड मे मिल्टन न भी इस प्रताडना के नैतिक औचित्य* और राजनीतिक उपादेयता का घोर खडन और विरोध किया था। यही नही पादरियो में से हेल्स और टेलर ने एव सभ्रात जनो मे स चिलिगवर्थ ने जहा घृणा और तिरस्कार पर आधारित धर्म को ईसामसीह की शिक्षा के विपरीत कहा था उसकी खुली भर्त्सना की, वही मार्वेल ने इसे राज्य की शक्ति और एकता के लिए घातक कहकर निंदित किया। हालैड की धार्मिक स्वतत्रता बहुत ही सकीर्ण थी फिर भी वह निश्चय ही पूर्ण स्वतत्र था। रहोड द्वीप, पेन्सिल्वेनिया, साउथ कैरोलिना और मेस्सेचुसट्स ने नय प्रयोग प्रारभ कर दिये थे। सहिष्णुता का एक अपेक्षाकृत अधिक महान और प्रभावशाली समर्थक विलियम पैन था। उसने कहा कि कोई भी मनुष्य प्रार्थना करने के लिए किसी भी छोटे गिरजे म जा *सकता है, उसके लिए चर्च मे जाना अनिवार्य नही है। वह इस प्रकार भी कर्तव्यपरायण*

रहकर धर्म का निर्वाह कर सकता है।

सत्रहवीं शताब्दी के दौरान सम्प्रभुता के सिद्धांत ने बाह्य धार्मिक सत्ता से राष्ट्र-राज्यों की स्वतंत्रता को निश्चित कर दिया। थॉमस हाब्स वह विचारक था, जिसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'लेवियाथन' (1651) में धर्मनिरपेक्ष सम्प्रभु राज्य से संबंधित बहुत ही मौलिक और सुसंगत सिद्धांत प्रतिपादित किया। चर्च और राज्य से संबंधित रचनाओं में 'लेवियथन' आगस्टीन की और मध्यकालीन परंपराओं से एकदम भिन्न है। हाब्स दो तलवारों के सिद्धांत को न केवल बिलकुल नकार देता है बल्कि उसके स्थान पर वह शक्तिशाली 'लेवियथन' धर्मनिरपेक्ष शासक को स्थापित कर देता है जो एक हाथ में तो सम्प्रभु राज्य की शक्ति रखता है और दूसरे हाथ में राष्ट्रीय चर्च की पुरोहिती छड़ी धारण किये रहता है। हाब्स ने धर्म को राज्य के विभाग का एक अंग माना है और उसने स्टुअर्ट राजाओं और क्रामवेल को उसी बल के साथ प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। जहां तक राज्य में संगठित धर्म के स्थान का संबंध था, इस संबंध में अधिकांश लेखक चर्च को राजधर्म के रूप में स्थापित करने के पक्ष में थे, जिसका कार्य था—सार्वजनिक अवसरों पर एक समान धर्मानुष्ठान संपन्न कराना और मताग्रही, अयुक्तिक अथवा अंधविश्वास पर आधारित सिद्धांतों के बजाय विवेक के प्रयोग की शिक्षा देना। दूसरी तरफ कुछ लोग ऐसे थे, जो चर्च को राज्य से अलग करने के पक्ष में थे। वे मानते थे कि ईसाई धर्म का संबंध सर्वप्रथम मुख्यतः मनुष्य की आंतरिक पवित्रता से है। इन दो अतिशय स्थितियों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास जॉन लाक ने किया। जो लोग यहां तक कि इंग्लैंड की उदारपंथी चर्च के साथ मेल से नहीं रह सकते थे, ऐसे असहमति व्यक्त करने वालों के लिए लाक ने विधिक सहिष्णुता का समर्थन किया। वह इस बात को नहीं मानता कि किसी भी धर्म-सापेक्ष सरकार की सत्ता का कोई राजनीतिक महत्त्व भी हो सकता है। उसके अनुसार चर्च उस समय के विचारों के विरोध में प्रस्तुत होती है। इसीलिए वह चर्च को ऐसी संस्था के रूप में स्वीकार करता है, जिसकी सदस्यता स्वेच्छा पर आधारित होनी चाहिए, क्योंकि बिना उसके, सदस्य उसके कुप्रभावों से नहीं बचाये जा सकेंगे। चर्च स्वतंत्र रूप से अपने त्यौहारों को मनाने के लिए स्वतंत्र तो हो सकती है किंतु वह अपने सदस्यों में से किसी पर उन त्यौहारों को आरोपित नहीं कर सकती। यही नहीं, चूंकि स्वयं क्राइस्ट के विचारों के अनुसार प्रताड़ना दना अन्याय और असंगत है इसलिए चर्च की नियंत्रित शक्ति केवल धार्मिक सीमाओं तक ही सीमित रहनी चाहिए। हम सहिष्णुता के लाभों को कभी भी नहीं भूलना चाहिए। सहिष्णुता का प्रथम शिशु वह उदारता है, जिसके बिना किसी भी प्रकार की विचार संबंधी ईमानदारी सम्भव नहीं हो सकती।[12]

अठारहवीं शताब्दी में प्रबोधन के रूप में पुरोहित विरोधी आंदोलन ने यूरोप के धर्म निरपेक्षीकरण की प्रक्रिया में बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में वैज्ञानिक आंदोलन ने मानव-मस्तिष्क को उजागर कर दिया था तथा दर्शन और धर्म को अत्यंत प्रभावित किया था। धीरे-धीरे दृष्टिकोण का केंद्र ईश्वर के बजाय मानव हो गया। आधुनिक दर्शन अधिकाधिक धर्मनिरपेक्ष होता गया। अन्यत

सिद्धान्त प्रतिपादित किये। उनके विचारो ने दार्शनिक उग्र सुधारवाद का आधार तैयार किया और विक्टोरिया काल के महत्त्वपूर्ण सुधारो को काफी हद तक प्रभावित किया। उसने विधिक प्रत्यक्षवाद के सिद्धात का समर्थन किया। उसने कहा कि अधिकार और कर्त्तव्य अभिसमयो द्वारा निर्मित होते हैं तथा विधियों और नियमो के गुणो को निर्धारित करने का मूल मापदड उपयोगिता होनी चाहिए— अधिकाधिक मनुष्यों की अधिकतम प्रसन्नता।

उन्नीसवी शताब्दी के दौरान धर्म को सबसे बडी चुनौती उदारवाद द्वारा दी गयी। धर्म पर आरोप लगाया जा रहा था कि वह निरकुश सरकारो को मजबूती प्रदान कर रहा है और अवैज्ञानिक चिंतन को पुष्टि प्रदान कर रहा है। इस युग मे तीव्र औद्योगीकरण अत्यधिक तेजी से नगरीकरण को बढावा दे रहा था जिसने धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया को अत्यधिक सहायता पहुचायी। वैज्ञानिक खोजों द्वारा उत्पन्न की गयी गभीर बौद्धिक समस्याओ से धर्म को मुकाबला करना पड रहा था। आधुनिक उदारवाद ने धर्मनिरपेक्षीकरण मे अत्यधिक सहायता पहुचायी। इसके मुख्य सिद्धान्त थे— प्रकृति के सबध मे प्रत्यक्ष नैतिक निर्देशन का अभाव सत्ता के ऊपर स्वतत्रता को वरीयता, राजनीति का धर्म निरपेक्षीकरण सरकारो के सविधानो और विधि के सिद्धातो का विकास जो कि सरकार की सीमाओ और सरकार के विरुद्ध नागरिको के अधिकारो को स्थापित करते हैं। उदारवाद वैज्ञानिक और गैर धार्मिक भावना के काफी नजदीक रहा है। इसका मानना है कि मनुष्य अपने जीवन और वातावरण को नियत्रित कर सकता है। उदारवादी ज्ञान को पूर्णत धर्मनिरपेक्ष मानते है। उनका मानना है कि मनुष्य को सहिष्णु होना चाहिए और अपने विश्वासो तथा कार्यो के प्रति सहिष्णुता की उम्मीद करना चाहिए बशर्ते कि ये दूसरो के अधिकारो को नुकसान नहीं पहुचाते हैं। प्रसिद्ध उदारवादी वाल्टेयर ने कहा था श्रीमान जी आप जो कह रहे हैं उससे मैं सहमत नही हू किंतु इस कहने के आपके अधिकार की मैं मरते दम तक सुरक्षा करूगा। प्रसिद्ध उदारवादी राजनीतिक दार्शनिक जे एस मिल जिसने हेल्वोक के सिद्धातो को स्वीकृति प्रदान की इस सिद्धात का समर्थन किया कि केवल आत्मरक्षा को छोडकर समाज अनिच्छुक व्यक्तियो के विरुद्ध बल का प्रयोग नही कर सकता। विधि स्वतत्रता और अधिकारो के सबध मे उसकी कृतियो मे उदारवादी चिंतन के उत्कृष्ट कथन मिलते हैं।

उन्नीसवी शताब्दी मे मानववाद का धर्मनिरपेक्ष मूल्यो के विकास मे बहुत बडा योगदान रहा। इटली के पुनर्जागरण— जो बाद मे सारे यूरोप मे व्याप्त हुआ— की महत्त्वपूर्ण विशेषता मानववाद रही है। इस बात पर बल दिया गया कि मानव ही महत्त्वपूर्ण है सद्गुणो की खान है, शक्ति लक्ष्यो और खोजो का स्रोत है और कलात्मक, नैतिक तथा राजनीतिक अभिव्यक्ति का मूलतत्त्व व्यक्ति के स्वय के बारे मे तथा ईश्वर और प्रकृति की कृतियो के ज्ञान मे मानवीय अनुभव ही प्रथम तत्त्व है। मिथक और धर्म द्वारा दी गयी अधूरी और भ्रामक व्याख्या के स्थान पर यह माना गया कि ज्ञान का एक मात्र स्रोत वैज्ञानिक पद्धति है तथा केवल प्राकृतिक और मानव विज्ञान ही ब्रह्माड तथा मानव-जीवन की व्यापक विवेकपूर्ण व्याख्या दे सकते है। (और आगे चलकर देखे)।

जर्मनी में डार्विनवाद का प्रसार हुआ। प्रकृतिवादी पूर्व निश्चयवाद पर विश्वास किया जाने लगा और यह माना जाने लगा कि मस्तिष्क विचार और मूल्य एक बंद भौतिक प्रणाली के, जो पूर्वनिश्चित सुदृढ़ नियमों के अनुसार परिचालित है उत्पादन है। मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के विकास में यह यांत्रिक भौतिकवाद सहायक रहा। मार्क्स ने सामाजिक विश्लेषण में वैज्ञानिक विधि का प्रयोग किया। उसने इतिहास को एक भौतिक प्रक्रिया माना। उसके अनुसार मानव भौतिक आवश्यकताओं वर्ग-स्वार्थों और संपत्ति-अधिकारों का प्रतिफल है। मार्क्स का मानना था कि व्यक्ति धर्म का निर्माण करता है न कि धर्म आदमी का। दूसरे शब्दों में धर्म उस आदमी की आत्म चेतनता और आत्मानुभव है, जिसे या तो अभी अपने बारे में ज्ञान नहीं है या पहले ही अपने को भूल गया है धार्मिक व्यथा एक ही साथ वास्तविक व्यथा की अभिव्यक्ति है और वास्तविक व्यथा के खिलाफ विरोध भी है। धर्म उत्पीड़ित मनुष्य की आह है एक हृदयविहीन जगत का हृदय है जैसेकि यह भावनाविहीन अवस्था की भावना है यह लोगों की अफीम है। लोगों की वास्तविक खुशी के लिए एक भ्रामक खुशी के रूप में व्याप्त धर्म को समाप्त किया जाना अपेक्षित है।[15]

अठारहवीं शताब्दी के अंतिम दो दशकों के दौरान धर्म और राज्य की पृथक्ता के सिद्धांत को अमेरिका में काफी व्यापक स्वीकृति मिली। क्रांतिकारियों के लिए लाक की कृतियां बाइबिल हो गयी थीं। इस काल में क्रांति की प्रगति पर विवेकवाद और (प्रबोधन) बुद्धिवाद का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। जेम्स मैडीसन और थामस जफर्सन राज्य तथा धर्म के पृथक्करण के चैंपियन रहे। उन लोगों ने धार्मिक समुदायों के सनाग्रह और धर्मोन्माद की कटु आलोचना की। बिल आफ राइट्स (1791) पहला ऐसा अधिनियम था जिसने यह माना कि धार्मिक बहुलवाद अपने आप में प्रत्यक्ष रूप में उचित है।

संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान के प्रथम संशोधन में दी गयी धर्म की स्वतंत्रता के दो अंग हैं— (1) राज्य धर्म के स्वतंत्र आचरण में बाधा नहीं डालेगा (2) राज्य किसी धर्म को किसी भी प्रकार की सहायता या अवलंब नहीं देगा। पहले अंग में दो अवधारणाएं सम्मिलित हैं—विश्वास करने की स्वतंत्रता और कार्य करने की स्वतंत्रता परम अधिकार है किंतु व्यवहार की स्वतंत्रता का विधायिका और न्यायपालिका ने समाज के संरक्षण के लिए समय-समय पर विनियमन किया है। इस प्रकार उच्चतम न्यायालय ने बहुपत्नीत्व प्रथा के विरुद्ध संघीय विधि को वैध घोषित किया और इस चुनौती को कि यह धार्मिक स्वतंत्रता का हनन करता है नकार दिया।[16] धार्मिक स्वतंत्रता में गिरजाघर में जहरीले सांप का प्रदर्शन सम्मिलित है कि दावे को भी न्यायालय ने ठुकरा दिया।[17] राज्य किसी सार्वजनिक पद के लिए ईश्वर में विश्वास की घोषणा की शर्त नहीं लगा सकता।[18] सरक्षक को अपने बच्चों को पब्लिक स्कूल में भजन के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता और न ही बच्चों को आठवें दर्जे से ऊपर पढ़ने के लिए बाध्य किया जा सकता है। अगर उनकी अनिवार्य उपस्थिति उनके धार्मिक विश्वासों की अवहेलना करता है।[19] यहां तक कि न्यायालय ने धार्मिक स्वतंत्रता के नाम पर उन विश्वासों को संरक्षण प्रदान किया है जिसे राजनीतिक व्यवस्था के बहुसंख्यक लोग घृणित मानते हैं। जहोवाह विटनेसेज के द्वारा

आपत्ति उठाने पर राज्य की इस अपेक्षा को कि सभी सार्वजनिक विद्यालयों के बच्चों द्वारा झंडे का अभिवादन किया जाना आवश्यक है अवैधानिक घोषित कर दिया।[20] इस प्रकार अमेरिका में विशेषकर गृह युद्ध के बाद से धार्मिक सहिष्णुता का पालन दूसरे देशों के लिए स्पृहणीय रहा है।

राज्य किसी धर्म को किसी भी प्रकार की सहायता नहीं देगा अर्थात् धर्म और राज्य के पृथक्करण के संबंध में न्यायालय के समक्ष दो तरह के मत आते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि संविधान सरकार द्वारा धर्म को किसी प्रकार की सहायता अथवा मान्यता देने से निषिद्ध करता है दूसरी तरफ कुछ लोग यह मानते हैं कि सरकार द्वारा कुछ किया जाना न केवल संवैधानिक है अपितु विशिष्ट रूप में वांछनीय है सरकार का कर्तव्य है। परिणामतः अमरीका के न्यायालय के लिए इन दोनों दृष्टिकोणों के मध्य समन्वय स्थापित करना टेढ़ी खीर रहा है। न्यायालय ने जफर्सन मेडीसन द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत पृथक्करण की दीवार को आधार बनाया है तथा अपने निर्णयों में उसे बराबर दोहराया है। इवर्सन बनाम बोर्ड आफ इजुकेशन के मामले में अमरीका के उच्चतम न्यायालय ने राज्य और चर्च के पृथक्करण के सिद्धांत को इन शब्दों में व्यक्त किया है न तो राज्य और न ही संघीय सरकार गिरजाघर बनवा सकता है। दोनों में से कोई भी ऐसी विधि नहीं बना सकता है जो किसी एक धर्म को सहायता पहुंचाये जो सभी धर्मों को सहायता पहुंचाये अथवा एक धर्म को अपेक्षा दूसरे को तरजीह दे। दोनों में से कोई भी किसी भी व्यक्ति को उसकी इच्छा के विरुद्ध गिरजाघर में जाने के लिए अथवा दूर रहने के लिए न तो विवश कर सकता है और न ही प्रभावित कर सकता है और किसी भी धर्म में विश्वास करने या अविश्वास करने के लिए न ही विवश कर सकता है। कोई भी कर किसी भी मात्रा में कम या ज्यादा किसी भी धार्मिक क्रिया में अथवा संस्था को सहायता के लिए नहीं लगाया जा सकता भले ही वे क्रियायें अथवा संस्थाएं किसी भी नाम से पुकारी जायें अथवा धर्म की शिक्षा देने या पालन करने के लिए वे कोई भी स्वरूप धारण करें। न तो कोई राज्य और न ही संघीय सरकार किसी भी धार्मिक संगठन अथवा समूह के मामले में खुले रूप में अथवा गुप्त रूप में हिस्सा ले सकती है तथा कोई धार्मिक संगठन या समूह सरकार में हिस्सा नहीं ले सकते। जफर्सन के शब्दों में, संविधान के इस खंड का उद्देश्य चर्च और राज्य के मध्य पृथक्करण की दीवार खड़ी करना है।

न्यायाधिपति फैंकफर्टर ने उक्त मत में सहमति व्यक्त करते हुए कहा है चर्च और राज्य के पृथक्करण में केवल यह अभिप्राय नहीं है कि राज्य राजनीतिक निकाय के अंतर्गत विभिन्न धर्मों के साथ समान रूप से बरताव करेगा। वास्तव में इसका अभिप्राय यह है कि दोनों का क्षेत्र अलग और स्वतंत्र है।

उच्चतम न्यायालय ने उपरोक्त स्थिति को बनाए रखने के लिए अनेक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। 1947 में इवर्सन के मामले में बहुमत ने निर्णय दिया कि स्कूली बच्चों के लिए मुफ्त बस यातायात संबंधी न्यू जर्सी के उपबंधों के द्वारा पृथक्करण की दीवार भंग नहीं हुई है क्योंकि इन सुविधाओं से बच्चों को लाभ पहुंचता है न कि चर्च को। इस बाल हित सिद्धांत के आधार पर न्यायालय ने अनेक विधानों को वैध घोषित

किया, यहा यह तर्क दिया गया कि धर्म को नाममात्र की महायता से दीवार भग नही होती है। परतु साठवे दशक के आरभ मे न्यायालय ने पृथक्करण खड के निर्वचन मे कडा रुख अपनाया और एक नये मार्ग का अनुसरण किया। न्यूयार्क प्रेयर का मामला[22] और एबिंग्टन टाउनशिप बाइबिल रीडिंग एड बाल्टीमोर सिटी लाडर्स प्रेयर के मामले[23] इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। इन मामलो ने अमेरिका के राजनीतिक जगत मे बहुत बडा आर्तनाद मचा दिया। पहला मामला 22 शब्दो की प्रार्थना से सबधित था जिसे प्रत्येक दिन के प्रारभ म प्रत्येक न्यू यार्क राज्य के सार्वजनिक विद्यालयो मे कक्षा मे शिक्षको एव विद्यार्थियो द्वारा जोर से पढे जाने के लिए सिफारिश की गयी थी यद्यपि यह अपेक्षित नहीं था। लाग आइलैड के अभिभावको के एक समूह ने यह दावा किया कि यह उक्त प्रार्थना का पढा जाना चर्च और राज्य के पृथक्करण के सिद्धात का अतिक्रमण है तथा इस सबध मे न्यू हाइड पार्क बोर्ड ऑफ एजुकेशन के विरुद्ध वाद उठाया। इस मामले म न्यायाधिपति ब्लैक ने अभिभावको के साथ सहमति व्यक्त की तथा पृथक्करण के सिद्धात की पुष्टि की। इस मामले के मुश्किल से एक साल बाद स्केम्प मामले मे 8 1 के बहुमत से न्यायाधिपति क्लार्क ने एजेल मामले के सिद्धात को लागू करते हुए विद्यालयो म बाइबिल के पाठ को असवैधानिक घोषित कर दिया। उन्होंने कहा, 'व्यक्ति और धर्म के सबध के मामले मे राज्य तटस्थता की स्थिति के लिए दृढतापूर्वक प्रतिबद्ध है।

उपरोक्त निर्णयो के प्रभावो को कम करने के लिए जानबूझकर, उनका अतिक्रमण अनेक बार किया गया। बिना किसी सफलता के अनेक सशोधन काग्रेस मे प्रस्तावित किये गये। सन् 1971 मे उच्चतम न्यायाल को पुन इस सवैधानिक प्रश्न पर विचार व्यक्त करना पडा। न्यायालय ने साम्प्रदायिक विद्यालयो को, उनकी धर्मनिरपेक्ष सेवाओ को कम करने के लिए, दिये जाने वाली सहायता सबधी अधिनियमो को अवैध घोषित किया। मुख्य न्यायाधिपति बर्जर ने कहा कि 'अधिनियम सरकार और धर्म के मध्य अननुज्ञेय अत्यधिक उलझाव' के कारण असवैधानिक है। इसके पश्चात् भी सहायता क पक्षपाती राज्य शात नही बैठे, अनेक अधिनियमो को पारित किये किंतु उच्चतम न्यायालय न उन्हे बिना किसी सकोच के असवैधानिक घोषित कर दिया। न्यायालय न अपन निर्णयो म तीन बातो को ध्यान मे रखा कि अधिनियम का उद्देश्य धार्मिक न हो उसका प्रभाव धार्मिक न हो और वह धर्म के साथ अत्यधिक उलझाव का परिहार करता हो।[24]

किंतु 1976 मे उच्चतम न्यायालय ने 5 4 के बहुमत से मैरीलैड के चर्च मे सबधित कालिजो को आर्थिक सहायता मे सबधित अधिनियम को वैध घोषित किया। इस प्रकार न्यायालय चर्च और राज्य के मध्य दीवार म एक पतली दरार पैदा करता हुआ दिखता है।

इसके अतिरिक्त और भी अनेक तथ्य हैं जो दीवार की सीमाओ को प्रतिबिंबित करते हैं— सैनिक सेवाओ मे प्रोटेस्टेट, कैथोलिक और यहूदी पादरियों की नियुक्ति, गिरजाघरो और यहूदी पूजा-स्थलो को कर विमुक्ति, राज्यो और सघीय विधायिकाओ के अधिवेशनो का प्रार्थनाओ के साथ प्रारभ—ये इस बात के द्योतक हैं कि पृथक्करण पूर्णरूपेण नही लागू किया गया है। इसके अतिरिक्त कुछ चर्चो की गतिविधियो का

अध्ययन करने पर पता चलता है कि वे पर्याप्त मात्रा मे राजनीति मे अतर्ग्रस्त हैं। किंतु इन सीमाओ के बावजूद अमरीका का लगभग 185 वर्षों का इतिहास बताता है कि कुल मिलाकर पृथक्करण के सिद्धात का मूलत पालन किया गया है।

इस प्रकार अमरीका एक धर्मनिरपेक्ष राज्य की लगभग सभी आवश्यकताओ को पूरा करता है किंतु दूसरी तरफ़ ब्रिटेन मे राज्य की एक स्थापित चर्च है ? तथा इग्लैड के चर्च को अन्य धर्मों की तुलना मे अद्वितीय और अति प्रभावशाली स्थान प्राप्त है। प्रधानमत्री द्वारा नियुक्त विशप और आर्कविशप लार्ड सभा मे मत देने वाले सदस्य के रूप मे बैठते हैं। किंतु इसके बावजूद ब्रिटेन मे प्रत्येक नागरिक, चाहे वह किसी भी धर्म अथवा विश्वास का हो व्यवहार मे पूर्ण धार्मिक स्वतत्रता का उपभोग करता है तथा राज्य कुछ अपवादो को छोडकर नागरिकता के सबध मे विचार करते समय धर्म मे सबधित सभी विचारो को अलग रखता है। ब्रिटेन मे धर्मनिरपेक्षता की भावना लोगो के जीवन मे भली प्रकार व्याप्त है। राज्य और चर्च के घनिष्ठ सबधो के बावजूद धर्मनिरपेक्षता ब्रिटेन मे राजनीतिक जीवन का पथ प्रदर्शक सिद्धात है।

आस्ट्रेलिया के सविधान अधिनियम की धारा 116 म उपबधित है कि राष्ट्र धर्म की स्थापना के लिए अथवा किसी धर्म के स्वतत्र आचरण के निषेध के लिए कोई कानून नही बनायेगा और राष्ट्र के अतर्गत किसी पद अथवा सार्वजनिक ट्रस्ट के लिए योग्यता के रूप म कोई धार्मिक मापदड अपेक्षित नही होगा। आयरलैड का सविधान

(अ) लोक व्यवस्था और सदाचार के अधीन रहकर प्रत्येक व्यक्ति को अत करण की स्वतत्रता और किसी धर्म को स्वतत्र रूप से मानने तथा आचरण करने की प्रत्याभूति देता है,

(ब) किसी धर्म को धन न प्रदान करने की गारटी देता है।

(स) धार्मिक व्रतधारण विश्वास अथवा पद के आधार पर राज्य कोई निर्योग्यता नहीं लगायेगा अथवा भेदभाव करेगा।

पश्चिमी जर्मनी का सविधान यह व्यवस्था करता है कि धार्मिक विश्वास और अत करण और धर्म और विचारधारा को मानने की स्वतत्रता अनतिक्रम्य होगी। धर्म के स्वतत्र आचरण की गारटी होगी। जापान का भी सविधान धर्म के स्वतत्रता की गारटी देता है।

सोवियत रूस म सभी नागरिको को धार्मिक उपासना की स्वतत्रता और धर्म विरोधी प्रचार की स्वतत्रता को मान्यता दी गयी है। दमन के अभियान मे सोवियत साम्यवादी दल ने अनेक चर्चों को नष्ट कर दिया अथवा दूसरे प्रयोग म लाने लगी और असख्य पादरियो का सफाया कर दिया गया और कैद कर लिया गया। साथ-ही-साथ धार्मिक शिक्षाओ के प्रभाव को कम करने के लिए दल ने उपहास के द्वारा, निरीश्वरवादात्मक सग्रहालयो की स्थापना जैसे क्रमबद्ध अभियान शुरू किया था। तत्पश्चात् धार्मिक आस्था रखने वालो के उपहास और तिरस्कार के कहर को जारी रखते हुए, कम नुकसानदायक बनाने के प्रयास मे सत्ता के शेष पादरियो को निर्देशित तथा नियत्रित करना जारी रखा। अभी हाल के वर्षों मे राष्ट्रपति गोर्बाचौफ के नेतृत्व में

ग्लासनास और पेरेस्ट्राइका (मुलापन तथा पुनर्मरचना) का अभियान छेडा गया है। रूस मे धर्म विरोधी अभियान लगभग बद हो गया है। कुछ हद तक राजनीतिक स्वतत्रताए भी नागरिको को वास्तविक रूप मे दी गयी है जिनका प्रभाव समूचे साम्यवादी जगत पर पड रहा है। अनेक साम्यवादी देश प्रजातात्रिक शासन प्रक्रिया को अपनाकर आर्थिक विकास की राह पर चलाकर सुख शाति प्राप्त करने का प्रयास कर रहे हैं। विचारधारा अपना आकर्षण खोती जा रही है। पचास तथा साठ के दशक म विचारधारा के अत पर विचार के सबध मे रेमड एरा इडवार्ड शिल्स डैनियल बल और एस एम लिप्सेट जैसे समाजशास्त्रिया ने विचारधारा की अवधारणा को एक धर्मनिरपेक्ष धर्म के रूप मे प्रयोग किया। उन्होने प्रतिनिध्यात्मक प्रजातत्र को विचारधारात्मक मानन के बजाय विवेक पर आधारित तथा व्यावहारिक माना। साम्यवाद एक आतरिक रूप म सबद्ध विचार शास्त्र माना जाता था किन्तु इसके दावो और परिणामो के मध्य की खाई ने इसे बेनकाब कर दिया है। पश्चिमी पूजीवादी देशो मे धनाढ्यता का युग आ गया है इसलिए विचारधारा आज आवश्यक नही रह गयी है। अब वर्ग मनोभाव और इच्छाए व्यक्ति को नही प्रेरित करेगी। किन्तु पिछले कुछ वर्षो म तृतीय विश्व के अनक देशा म आर्थिक विषमता गरीबी भुखमरी राष्ट्रवाद और राजनीतिक तथा सामाजिक कारणो म रूढिवाद का विकास हो रहा है।

इस प्रकार पश्चिम म धर्मनिरपेक्ष राज्य का विकास विभिन्न ऐतिहासिक सोपानो मे होकर गुजरा है तथा इसके विकास म विभिन्न और परस्पर विरोधी उद्देश्य रहे है। फ्रास मे तथा अनेक देशो मे इसका विकास धर्म और राज्य के मध्य शताब्दियो के सघर्ष का परिणाम रहा। अमरिका म धर्मनिरपेक्षता धर्म के विरोध द्वारा नही प्राप्त हुई बल्कि इसका विकास धर्म और राज्य के बीच पारस्परिक सहभाव के साथ होता रहा है। जहा साम्यवादी देशो मे धर्म-विरोधी प्रचार का बोलबाला रहा तरकी (तुरकी) म कमाल अतातुर्क ने पश्चिमी मूल्यो को बल प्रयोग द्वारा अपनाया। भारत म अमेरिका के तरीका म धर्मनिरपेक्ष मूल्यो भारतीय परपराओ और परिस्थितियो मे समन्वय स्थापित किया गया है।

सदर्भ

1 द निव इग्लिश डिक्शनरी
2. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका अक XX 1967 पृ० 264
3 जेम्स हॉस्टिंग्स द्वारा सपादित 11 एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन एड इथिक्स म इरिक एस वाटरहाउस का लेख सेक्यूलरिज्म' 1958 पृ० 347 50
4 डी ई स्मिथ इडिया एज ए सेक्यूलर स्टेट 1963 पृ० 4-5
5 मार्क सनैटर, सेक्यूलरिज्म ईस्ट एड वेस्ट कम्पैरेटिव स्टडीज इन सोसाइटी एड हिस्ट्री 7 2 (जनवरी, 1965)

6. एम एन श्रीनिवास सोशल चेंज इन इंडिया बाम्बे 1966
7 डॉ राधाकृष्णन पूरब और पश्चिम— कुछ विचार राजपाल एंड सन्स पृ० 5-7
8 बार्कर ई सोशल एंड पालिटिकल थ्योरी 1956 पृ०7
9 बाउल वेस्टर्न पालिटिकल थाट पृ० 107
10 आनल्ड जे टायनबी कृत ए स्टडी आफ हिस्ट्री खंड 7 (1954), पृ० 96
11 इवार्ट लेविस मेडीवल पॉलिटिकल आइडियाज 1954 पृ० 506-7
12 हैरोल्ड जे लास्की इंग्लैंड का राजदर्शन 1961 पृ० 41-43
13 सर्वपल्ली डा० राधाकृष्णन पूरब और पश्चिम—कुछ विचार राजपाल एंड सन्स पृ० 116
14 लास्की इंग्लैंड का राजदर्शन 1961 पृ० 219
15 मार्क्स एंड एंगेल्स द कंट्रीब्यूशन टु द क्रिटिक आफ हीगल्स फिलासफी आफ राइट्स (मास्को) पृ० 41-42
16 रेनाल्ड्स बनाम युनाइटेड स्टेट्स 98 यू एस 145 (1878)
17 थामसन बनाम लासन 319 यू एस 759 (1943)
18 टारकासो बनाम वाटकिन्स 367 यू एस 488 (1961)
19 विस्कान्सिन बनाम योडर 406 यू० एस० 205 (1972)
20 वेस्ट वर्जीनिया बोर्ड आफ एजुकेशन बनाम बार्नेट 319 यू एस 624 (1943)
21 330 यू एस पृ० 15-16
22 एंजल बनाम विटाले 370 यू एस 421 (1962)
23 एबिंग्टन टाउनशिप बनाम स्कम्प और मुर बनाम कर्लेट 374 यू एस 203 (1963)
24 हेनरी जे ए ब्राहम द जुडीशियल प्रोसेस चतुर्थ संस्करण 1977 पृ० 99

2

भारतीय प्रकृति मे धर्मनिरपेक्षवाद

प्राचीन भारत मे धर्मनिरपेक्षता के मौलिक तत्त्व

महान् देश भारत धर्मों, जातियो सप्रदायो, भाषाओ और सस्कृतियो का एक सग्रहालय है । यह वह देश है जहा, चालीस विभिन्न जातियो के लोग एक सौ इकसठ भाषाए बोलते हैं, जहा पद्रह भाषाओ के उन्नत साहित्य विश्व के किसी भी साहित्यकार के मन को लुभाने की क्षमता रखते हैं, जहा हिंदू और मुसलमान के अतिरिक्त ईसाई बौद्ध, पारसी आदि धर्मों के अनुयायी स्वतत्रतापूर्वक अपने धर्मों का प्रचार और प्रसार कर सकते हैं क्या वह देश सास्कृतिक रूप से सगठित और एकरूपीय जनसमुदाय नही है ? क्या यहा के लोगो को अपने आध्यात्मिक जीवन की एकता और अभिव्यक्ति का ज्ञान नही है ? हमारा इतिहास साक्षी है कि भारतीयो मे एक ऐसी एकता की अनुभूति हमेशा विद्यमान रही है। यह सत्य है भारत मे विभिन्न जातियो के लोग अपनी विशिष्टताओ के साथ आये पर इन जातियों का काफी मिश्रण हुआ इनकी भाषा वेश भूषा खान-पान और रहन-सहन एक-दूसरे को प्रभावित किये बिना नही रह सके और आज वे राष्ट्रीय मुख्य धारा से किसी भी प्रकार अलग नही हैं। चाहे हिंदू हो या मुसलमान ईसाई हो या पारसी सभी भारतीय सस्कृति के रग मे रग हुए है और उनके आचार-विचार पूर्णतया भारतीय हैं। भारतीय सस्कृति, वैदिक, बौद्ध हिंदू मुस्लिम और आधुनिक सस्कृतियो का सम्मिश्रण है । यह ऐसी उदार और अनन्य सस्कृति है जिसने विश्व सस्कृति के सभी स्रोतो को अपने प्रागण मे आश्रय और स्थान दिया है और जिसने दर्शन धर्म विचार और मतभतातर की निस्सीम विविधता का उनके समर्थको की सख्या या उनके उद्गम के स्थान और समय को महत्त्व दिये बिना समान रूप से खुली और सरक्षित अभिव्यक्ति का वरदान दिया है ।

इसमे कोई सदेह नही है कि पश्चिमी चिंतन और सस्थाओ ने भारत को प्रभावित किया है, किंतु अगर भारत आज एक राष्ट्र है तो इसका श्रेय यहा के चिंतन भाषा धर्म शासन, इतिहास, परपरा, रहन-सहन और रीति-रिवाजो को जाता है। इसमे अहम् भूमिका

'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' की धारणा है, यहां के तीर्थ स्थलों की है, प्राचीन हिंदुओं की देश में सर्वोपरि राजनीतिक सत्ता के आदर्श और अस्तित्व के बोध की है जिसके द्योतक महत्त्वपूर्ण वैदिक शब्द और वैदिक यज्ञ हैं, जैसे—एक राष्ट्र सम्राट, राजाधिराज, सार्वभौम, राजसूय वाजपेय, अश्वमेध आदि। यदि हम इतिहास की दूरबीन उठाकर अतीत की पगडंडियों पर दृष्टिपात करें तो हम पाते हैं कि इनमें सबसे बड़ा योगदान यहां की उस संस्कृति का है जो चिरकाल से पल्लवित और पुष्पित हो रही है। अगर भारत ने पश्चिमी राजनीतिक संस्थाओं, प्रजातांत्रिक गणतंत्र, न्याय, स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व को बिना किसी विरोध के अंगीकार किया तो इसका श्रेय भारत के लोगों के जीवन के उन परंपरागत तथ्यों को जाता है जो सदियों से विद्यमान हैं। अगर आज भारत ने धर्मनिरपेक्षता को गले लगाया है तो इसमें बहुत बड़ा योगदान भारत में जीवन के प्रति शांतिप्रियता, परंपरागत धार्मिक स्वतंत्रता, सहिष्णुता, उदारता और समन्वय की भावना का है, जिसकी जड़ भारतीय समाज में प्राचीन काल से ही गहराई तक फैली है, जो उसकी सांस्कृतिक परंपरा की थाती है। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की पुरातात्विक खोजों ने सिद्ध कर दिया है कि आज से 5000 वर्ष से भी पहले सिंधु घाटी में एक अत्यंत उन्नत सभ्यता विकसित थी। बाद के भारतीय सांस्कृतिक जीवन पर इस सभ्यता का अमिट प्रभाव पड़ा था। प्रोफेसर चाइल्ड ने लिखा है, "मिस्र और बेबिलोनिया के समान भारत में भी ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व अपनी एक सर्वथा स्वतंत्र व्यक्तित्वशालिनी सभ्यता थी, जो अन्य सभ्यताओं की सिरमौर थी, और स्पष्टतः उसकी जड़ भारतीय धरती में गहराई तक चली गयी है। वह अभी भी जीवित है, वह निस्संदेह भारतीय है और आधुनिक भारतीय संस्कृति की आधारशिला है।"[1]

प्राग्वैदिक और वैदिक संस्कृतियों के समन्वय में भारतीय संस्कृति के मौलिक आधार विद्यमान हैं। अध्यात्मवाद और निश्चयवाद, आत्मविषयक दृष्टिकोण और हेतुवादी विचारधारा की जड़ इसी समन्वय में विकसित हुई है। भारत ने प्राचीनकाल में दर्शन और धर्म, कला और साहित्य, गणित और विज्ञान तथा समाजविज्ञान के क्षेत्र में महान सफलता प्राप्त कर ली थी। चाणक्य और चंद्रगुप्त, अशोक और समुद्रगुप्त, चरक और सुश्रुत, आर्यभट्ट और वाराहमिहिर, नागार्जुन और पालकाप्य के नाम इतिहास में उतने ही प्रसिद्ध हैं, जितने कि वसिष्ठ और विश्वामित्र, वाल्मीकि और व्यास, कपिल और कणाद, बुद्ध और महावीर, पाणिनि और कालिदास के। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्राचीन काल में वृहत्तर भारत की आधारशिला तत्कालीन भारतीय पोतीय क्षमता थी। औषधियां, शल्यचिकित्सा, व्यावहारिक रसायन और भैषजज्ञान, वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, धातुकला, रंगाई और हस्तशिल्प के बारे में भारत की प्राचीन कालीन उपलब्धियां आज पूरे विश्व को पता चल चुकी हैं। प्राचीन कालीन किले, स्तंभ, भवन, मंदिर, गुफाएं और मूर्तियां आज भी अनेक क्षेत्रों में प्राप्त कौशल की कहानी सुना रही हैं। महान आधुनिक भारतीय विचारक श्री अरविंद घोष[2] ने भारतीय प्रतिभा की विशेषताओं, प्रवृत्तियों और प्रभावों का बहुत अच्छी तरह से वर्णन किया है। उनके अनुसार भारत की प्राचीन भावना और विशिष्ट तेज की तीन विशेषताएं हैं— प्रथम,

उसकी आध्यात्मिकता जो कि भारतीय मस्तिष्क की सर्वोत्तम चाभी है। द्वितीय, उसकी अद्भुत प्राणमूलकता, उसकी अक्षय जीवन शक्ति और जीवन-आनद और उसकी कल्पनातीत अत्यधिक सृजनशीलता और तृतीय सशक्त बौद्धिकता, जो कि साथ-ही-साथ आत्मसयमी और समृद्ध है, पुष्ट और सूक्ष्म है, शक्तिशालिनी और शिष्ट है, सिद्धातत विशाल और विस्तृत विलक्षण है।

यूरोपीय विचारको द्वारा विद्वेषपूर्ण मूल्याकन

अनेक यूरोपीय विचारको का दृष्टिकोण भारतीय प्राचीन उपलब्धियो के प्रति निष्पक्ष नही रहा है। वह पूर्वग्रहो से आप्लावित रहा है। उनका मूल्याकन उपनिवेशवादी विचारधारा पर आधारित था। भारतीयो द्वारा स्वशासन की माग न की जाये राष्ट्रीयता की भावना उनमे बढ न जाये, राष्ट्रीय आदोलन तेज न हो जाये, इस कारण से अनेक ब्रिटिश विचारको ने भारतीय प्राचीन इतिहास और राजनीतिक व्यवस्था का दोषपूर्ण विवरण प्रस्तुत किया तथा अग्रेज शासको ने वह सब कुछ किया, जो उन्हे सत्ता मे बनाये रखने मे सहायक था, 'राजनीतिक सूत्रो' (मोस्का) का सहारा लिया, जिनका उपभोग एक अभिजन वर्ग अपने को नष्ट होने से बचाने के लिए करता है।

उपनिवेशवादी विचारधारा के प्रतीक लार्ड मैकाले ने सन् 1935 मे भारतीय विधिशास्त्र को 'ब्राह्मणो के अधविश्वास का प्रेमातिशय'[3] बताया। प्रोफेसर मैक्समूलर सदृश भारत विद्या के विद्वान जिन्होंने हिंदुओ के दर्शन एव साहित्य की भूरि भूरि प्रशसा की है, उन्होंने सन् 1859 मे लिखा कि भारतीयो के राष्ट्रीय चरित्र मे कुछ ऐसी प्रवृत्तिया हैं, जो राज्य की पूर्णरूपेण कल्पना की अनुभूति करने मे उनके मार्ग मे रुकावट डालती हैं उनके मस्तिष्क पर धर्म का प्रभाव होने के कारण भारत मे राज्य सबधी विचार नही पनप सका। उनके अनुसार, 'हिंदू दार्शनिको की कौम थी, उनके सघर्ष विचारो के सघर्ष थे, उनका अतीत सर्जन की समस्या थी तथा भविष्य अस्तित्व की समस्या थी।'

यह कहना उचित होगा कि विश्व के राजनीतिक इतिहास मे भारत का कोई स्थान नहीं है।[4] इसी आलोचना पर आधारित एक अन्य आलोचना ब्लूमफील्ड ने की है। उनका यह मानना है कि प्राचीन काल मे भारतीय धार्मिक सस्थाओ का असाधारण प्रभुत्व था, जिसका प्रतीक जीवन के चार आश्रमो—धार्मिक शिष्य (ब्रह्मचर्य), धार्मिक एव यज्ञ करने वाला गृहस्थ, ध्यानशील वानप्रस्थ और ससार परित्यागी सन्यासी के रूप मे परिलक्षित है।[5] इसी धार्मिक प्रभुत्व के कारण भारत मे राज्य के हितो और जातियो के विकास की कोई व्यवस्था नहीं थी। वे यह भी मानते हैं कि भारतीयो को राष्ट्रीयता की भावना का ज्ञान नहीं था।

अनेक राजनीतिशास्त्रियो ने भी भारतीयो के बारे मे एकपक्षीय दृष्टिकोण अपनाया है। जानेट ने यह कहकर उपहास किया है कि भारतीय मनीषियो के लिए एकमात्र नगर है, देवलोक। प्रसिद्ध राजनीतिशास्त्री विलोबी ने तो पूर्व के समस्त लोगो के बारे मे आलोचना की है कि वे दैवी सृष्टि और ससार की व्यवस्था मे मताग्रही विश्वासो से सामाजिक और राजनीतिक सस्थानो के तर्काधार का ज्ञान प्राप्त करने की

तरफ आकर्षित ही नहीं हुए।[6]

इसी प्रकार एक अन्य आलोचक का मानना है कि पूरब के प्राचीन लोगों के विचार विधि और धर्म के बीच भ्रम के कारण इतने दूषित थे कि वे राजनीतिशास्त्र को एक स्वतंत्र ज्ञान की शाखा के रूप में विकसित करने में असफल रहे।[7] पूर्वी आर्य अपने राजनीति विषयक ज्ञान को ईश्वरपरक और तात्त्विक वातावरण से कभी मुक्त नहीं रख और इसलिए वे यूरोपीय आर्यों के स्तर तक विकास करने में असफल रहे।

यूरोपीय आर्य ही ऐसे लोग हैं, जिनका नाम इतिहास ने राजनीतिक जातियों के रूप में जाना जाता है।[8] सर हेनरी मेन ने तो भारतीय विधिशास्त्र को निरंकुशासन का एक विशाल उपकरण कह डाला। स्थिति तो यह है कि कुछ भारतीय भी ऐसे हैं, जो विदेशी समालोचकों से किसी प्रकार भी आलोचना करने में पीछे नहीं हैं। जैसा कि सर्वपल्ली डॉ० राधाकृष्णन् ने कहा है "ये लोग भारत के सांस्कृतिक विकास को एक विषादमय पारस्परिक फूट व विरोध अज्ञानता और मिथ्याविश्वास के रूप में देखते हैं। इसमें से एक ने यहां तक घोषणा की है कि यदि भारत को फलना-फूलना तथा समृद्धशाली होना है तो इंग्लैंड को अपनी 'आध्यात्मिक माता' तथा ग्रीस को 'आध्यात्मिक नानी' बनाना होगा।[9] अनेक यूरोपीय विद्वानों के इस तरह के विद्वेषपूर्ण विचारों के लिए कई कारण उत्तरदायी हैं। प्रथम, इन विद्वानों का अध्ययन भारतीय धर्म के बारे में गहन नहीं था। इन विद्वानों ने संस्कृत के धर्म शब्द का पहले 'हिंदू रिलिजन' के साथ तादात्म्य स्थापित किया और धीरे-धीरे रिलिजन के साथ उसका तादात्म्य स्थापित कर दिया। यूरोप में जिन अर्थों में 'रिलिजन' शब्द का प्रयोग होता है उसी अर्थ में 'धर्म' को समझने लगे, जबकि धर्म शब्द अत्यधिक व्यापक अर्थों वाला शब्द है।

द्वितीय, कोई भी मजहब हो, समय के साथ उसमें अनेक रूढ़ियां तथा अंधविश्वास आ जुड़ते हैं, वैदिक हिंदू धर्म में भी आगे चलकर कई परम्पराएं अंधविश्वास और पाखंड आकर उसी प्रकार जुड़ गये हैं जैसे गंगा की धारा में आकर अनेक गंदे नाले मिल जाते हैं। परिणामतः पश्चिमी विद्वानों ने अंतर्दृष्टि मूल सिद्धांतों और मूल विचारधारा, जो वेदांत में निहित हैं, का गहन अध्ययन करने के बजाय अंग्रेजों के आने से पहले के हिंदू धर्म की उन्हीं बातों की तरफ ध्यान दिया जिन उन्होंने समझा कि यूरोपियनों के लिए रुचिकर सिद्ध होगी, उन्होंने सती प्रथा नरबलि, दहकती अग्नि पर चलना, साधना 'तपस्या' की हास्यास्पद अभिव्यक्ति देवदासी, अनेक पशुओं की बलि देकर ग्राम की रक्तप्यासी देवियों की पूजा शक्ति उपासना के निरूपण, व्यभिचार तथा पुरोहितों के पाखंडों आदि के बारे में अपना ध्यान केंद्रित किया। तृतीय, भारतीय और पश्चिमी विधिशास्त्र में मूलभूत अंतर यह है कि पहला कर्तव्य तो अवधारणा पर आधारित है जबकि दूसरा व्यक्तिगत अधिकारों की अवधारणा पर आधारित है। अधिकार और कर्तव्य परस्पर संबद्ध होते हैं, किन्तु भारत में कर्तव्य को प्रमुखता दी गयी है, और अधिकार उसके परिणामस्वरूप माने जाते हैं। महाभारत के शांतिपर्व अथवा अनुशासन पर्व अथवा अर्थशास्त्र में कहीं एक स्थान पर भी अधिकार शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है।[10] इस कारण से भी अनेक विचारकों के दृष्टिकोण में वांछित वस्तुनिष्ठता नहीं आ सकी। चतुर्थ, यह धारणा कि

प्रकृति की अग्र शक्ति को छोड़कर संसार में कोई वस्तु नहीं है जिसकी उत्पत्ति यूनान से नहीं हुई हो, सर हेनरीमेन का यह कहना है कि अंग्रेजों ने हमें सिखाया कि शासक का उद्देश्य जनता का कल्याण है, लेखकों की उपनिवेशवादी मानसिकता का प्रतीक है। पश्चिम यूरोपीय परंपरागत राजनीतिक विचारक संकीर्णता के शिकार थे राजनीतिविज्ञान को समाज की ही राजनीतिक और प्रशासनिक व्यवस्थाओं का अध्ययन मानते थे। वे राजनीतिशास्त्र को एक सीमित वैचारिक सरचना में बंधे हुए थे जबकि प्राचीन भारत में राजनीति की परिधि में राष्ट्रीय राज्य व्यवस्था नागरिक और अंतर्राष्ट्रीय राज्य व्यवस्था, पैतृक व्यवस्था, धार्मिक संगठन व्यापारिक संस्थान और कर्मचारियों के संगठन आदि सभी को सम्मिलित किया गया था।[11]

अतत पर्याप्त शोध के अभाव के कारण, प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति का ज्ञान पश्चिमी विद्वानों को नहीं हो पाया था किंतु मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में अनेक पुरातात्त्विक अवशेष मिले। सन् 1905 में चाणक्य अर्थशास्त्र की खोज हुई। साथ ही अनेक पश्चिमी तथा भारतीय विद्वानों ने हमारी प्राचीनकालीन महान उपलब्धियों को विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया। परिणामत आज वे आलोचनाएं हास्यास्पद लगती हैं।

धर्म का व्यापक अर्थ

धर्म परम मूल्यों में विश्वास और उन मूल्यों को उपलब्ध करने के लिए जीवन की एक पद्धति का प्रतीक होता है। चिरकाल से भारत के ऋषियों-मुनियों तथा संत-महात्माओं ने मानव जीवन के सूक्ष्मतम पहलुओं का अध्ययन किया है और उसके बारे में एक आदर्श दृष्टिकोण का निर्माण किया है। इस दृष्टिकोण को हम 'धर्म' की संज्ञा देते हैं। धर्म शब्द अंग्रेजी में प्रयुक्त होने वाले 'रिलीजन' या फारसी के 'मजहब' शब्द का पर्याय नहीं है। जिस प्रकार जर्मन भाषा का 'रेश' फ्रेंच भाषा का ड्राइट अथवा इटालियन का दिरित्तो कई अर्थों में प्रयुक्त होते हैं अंग्रेजी भाषा में कोई एक शब्द ऐसा नहीं है जो इन शब्दों के भाव का बोध करा सके। क्योंकि इनका अभिप्राय अधिकारों से नहीं बल्कि विधि अथवा न्याय से भी है। इसी प्रकार धर्म शब्द एक ऐसा भाव है जो अपूर्व है जिसका अन्य किसी भाषा में अनुवाद नहीं किया जा सकता है। इसका संबंध किसी व्यक्ति जाति व समाज विशेष से नहीं, बल्कि मानवमात्र की जीवन व्यवस्था से है। यह एक सामान्य मानवीय भाव है। जो अंग्रेजी के रिलीजन शब्द में दुर्लभ है, जहां रिलीजन ईश्वर उपासना आदि के संबंध में एक विशेष मान्यता को परिलक्षित करने के कारण अलौकिक ईश्वरीय, सीमित तथा संकुचित है, वहीं पर धर्म लौकिक, सामाजिक सामान्य और मानवीय है इसका मूल सत नियमों के पालन में है।

धर्म 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है धारण करना, बनाये रखना, पुष्ट करना। जो धारणा करता है, वही धर्म है। इससे उन गुणों अथवा लक्षणों का बोध होता है, जो किसी वस्तु के स्वरूप को धारण करते हैं। यह किसी वस्तु का वह मूल तत्त्व है, जिसके कारण वह वस्तु वह है। इस शब्द की दो प्रकार से व्याख्या की जाती है। (अ) धारयतीति धर्म,

जिसका अभिप्राय होता है जो धारण करता है वह धर्म है। यहां यह कर्ता के रूप में प्रयोग हुआ है। (ब) ध्रियते इति धर्म, अर्थात् जो धारण किया जाता है वह धर्म है। यहां यह कर्म के रूप में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में धर्म शब्द का प्रयोग 56 बार हुआ है। किंतु ऐसा नहीं लगता कि धर्म उसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जिस अर्थ में बाद में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में कई स्थानों पर धर्म शब्द धार्मिक विधियों या धार्मिक संस्कारों के रूप में प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद में धर्म शब्द का प्रयोग धार्मिक क्रिया-संस्कार करने से अर्जित गुण के अर्थ में हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण में धर्म शब्द सकल धार्मिक कर्तव्यों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[12] छांदोग्य उपनिषद् में धर्म की तीन शाखाओं का उल्लेख किया गया है

(1) गृहस्थ धर्म जो यज्ञ, अध्ययन एवं दान से संबंधित है, (2) तापस धर्म जो तपस्या से संबंधित है और (3) ब्रह्मचारित्व अर्थात् ब्रह्मचारी के कर्तव्यों से संबंधित है।[13] तैत्तिरीय उपनिषद् में 'धर्म का आचरण' करने से अभिप्राय जीवन के उस सोपान के कर्तव्यों एवं आचार विधियों के पालन से होता है जिसमें व्यक्ति विद्यमान है।[14] मनु ने धर्म के दस लक्षण गिनाये हैं

धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम् ॥[15]

(1) धृति (2) क्षमा (3) दम (4) अस्तेय (5) शौच (6) इंद्रिय निग्रह (7) बुद्धि (8) विद्या (9) सत्य (10) अक्रोध को मनु ने सदाचार के नियम माने हैं।

पूर्व मीमांसा के अनुसार धर्म एक वांछनीय वस्तु है, जिसकी विशेषता है, जीवन में गति एवं निर्माण की प्रेरणा प्रदान करना।[16] वैशेषिक सूत्रों में कहा गया है कि जिससे आनंद (अभ्युदय) और परमानंद (निःश्रेयस) की प्राप्ति हो, वह धर्म है।[17] बौद्ध धर्म साहित्य में प्रायः धर्म भगवान बुद्ध की संपूर्ण शिक्षा का द्योतक माना गया है।

याज्ञवल्क्य ने धर्म के लक्षणों को साधन के रूप में वर्णित किया है, उनके अनुसार यज्ञ आचार, दम, अहिंसा, दान, स्वाध्याय, स्वकर्म तथा योगाभ्यास से आत्म-दर्शन सभी धर्म के साधन हैं।[18] उन्होंने आत्मदर्शन को परमधर्म कहा है। इस आत्मदर्शन के अनुरूप ही अन्य धर्मशास्त्रों में भी आत्मभाव को ही धर्म के सामान्य सिद्धांतों का आधार माना गया है। देवल ने इस आत्मभाव का निरूपण व्यवहार की प्रतिकूलता और अनुकूलता के द्वारा किया है। "समझ लो कि धर्म का सार यही है और फिर उसके अनुसार आचरण करो। दूसरों के प्रति वैसा व्यवहार मत करो, जैसा तुम नहीं चाहते कि कोई तुम्हारे साथ करे।'[19] "हमें दूसरों के प्रति ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए, जो यदि हमारे प्रति किया जाये तो हमें अप्रिय लगे। यही धर्म का सार है, शेष सारा बर्ताव तो स्वार्थपूर्ण इच्छाओं से प्रेरित होता है।'[20]

महाभारत में मनु को उद्धृत करते हुए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि सद्गुणों को धर्म के लक्षण के रूप में बताया गया है।[21] 'परमात्मा प्रत्येक जीवित प्राणी के हृदय में निवास करता है।' इस तथ्य का ज्ञान ही धर्म का सर्वस्वीकृति मूल सिद्धांत है। शांतिपर्व में बताया गया है। "जो अपने मन, वचन और कर्म में निरंतर दूसरों के कल्याण

मे लगा रहता है, और जो सदा दूसरो का मित्र रहता है, ओ जाजलि वह धर्म को ठीक-ठीक समझता है।" महाभारत के उद्योग पर्व मे उस कर्म-नियम और आचार को धर्म माना गया है, जिससे लोक का समन्वय बना रहे और व्यक्ति तथा समाज एक-दूसरे के पूरक बनकर उन्नति की ओर बढते रहे।

अशोक ने पाप से दूर रहने, अच्छे काम करने, दया दान, सत्य और पवित्रता का व्रत लेने को ही धर्म माना है[22] अध्यात्म विद्या के अर्थ मे धर्म का अभिप्राय किसी वस्तु की मूल प्रकृति' से है। उदाहरणार्थ अग्नि का धर्म है जलना इसके अतिरिक्त धर्म का अभिप्राय *चारो वर्णो (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) और चारो आश्रमो (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ* वानप्रस्थ और सन्यास) के सदस्यो द्वारा जीवन के चार प्रयोजनो (धर्म अर्थ काम मोक्ष) के सबध मे पालन करने योग्य मनुष्य के सपूर्ण कर्तव्य से है। यू सी सरकार के अनुसार धर्म शब्द का चार अर्थो मे प्रयोग किया गया है

1 ईश्वर मीमासा मे इसका अभिप्राय रिलीजन' है।
2 नीतिशास्त्र मे इसका अर्थ सद्गुणो से है।
3 कानून की श्रेणी मे इसका अर्थ विधि से है।
4 व्यवहार की दृष्टि से इसका अभिप्राय न्याय' और 'कर्तव्य' है।

प्राचीन काल मे मनु वृहस्पति तथा याज्ञवल्क्य आदि की सहिताओ को धर्मशास्त्र कहा जाता था। न्यायालयो मे न्यायाधीश के आसन को धर्मासनम्' कहा जाता था। किसी कुल अथवा जाति के सदस्यो को एक सूत्र मे बाधने वाली परपराओ बाध्यताओ और प्रथाओ के समूह को कुलधर्म सनातन कहा जाता था। इस प्रकार धर्म शब्द अत्यधिक व्यापक अर्थो मे प्रयुक्त होता था—1 सदाचार की सहिता 2 दायित्व 3 विधि और 4 न्याय के अर्थो मे धर्म का प्रयोग किया जाता था।

धार्मिक स्वतत्रता तथा सहिष्णुता की हिंदू परपरा

विश्व के प्रमुख आठ धर्मो मे से चार की उत्पत्ति भारतवर्ष में हुई। आधा विश्व भारत मे पैदा हुए धर्म का पालन करता है। हिंदू सस्कृति धर्म और दर्शन का विश्व म प्राचीनतम इतिहास है। भारत की सस्कृति का पाच हजार स भी अधिक वर्षो का इतिहास है, आर्यो ने भारत पर लगभग चार हजार से दो हजार पाच सौ *(4 000 से 2,500) ईसा* पूर्व मे आक्रमण किया था आर्यो के आक्रमण से आर्यो तथा यहा के मूल निवासी द्रविडो के बीच एक लबा जबरदस्त सघर्ष आरभ हुआ। दोनो के दृष्टिकोण एव सस्कृतियो और सभ्यताओ मे सघर्ष रहा। किंतु धीरे-धीरे आक्रमणकारियो की मूल निवासियो पर विजय हुई तथा कुछ समय पश्चात् आर्यो ने पूरे देश पर विजय प्राप्त कर ली। किंतु आर्यो ने पराजित प्रतिद्वद्वियो के अपेक्षाकृत हीन धर्मो को घृणा की दृष्टि से नहीं देखा। प्राकृतिक शक्तियो तथा परिवर्तनशील प्राकृतिक दृश्यो के रूप मे प्रचलित अनेक देवी-देवताओ तथा भूत-प्रेतो को आर्यो ने अपनाकर अपने देवी-देवताओ के साथ बैठाया और अनेक कबीलो तथा जातियो के पूज्य जानवरो को देवताओ के वाहन तथा सर्पो-नागों के रूप म स्वीकार कर लिया। धीरे-धीरे निगम-आगम धर्मो के समन्वित रूप में हिंदू धर्म ने प्रगति की। वेद

आर्य और आर्य पूर्व दर्शन के सम्मिलन के प्रतीक हैं। डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार, वैदिक परंपरा पर आगम परंपरा का प्रभाव जम गया और आज हिंदू संस्कृति में आगमों का भी इतना ही प्रभाव है जितना वेदों का। हिंदू धर्म में आर्य और द्रविड—दोनों अलग-अलग सहयोगी नहीं हैं बल्कि दोनों ने एक विशेष संस्कृति का निर्माण किया है जो कि एक अभ्युदय है न कि परिणाम।[23] हिंदू शब्द देशज नहीं है, यह आदिकाल में हिमालय के पश्चिमोत्तर दर्रों से आने वाले विदेशियों द्वारा गढ़ा गया था। प्राचीन भारतीय अपने उपमहाद्वीप को जम्बूद्वीप अथवा भारतवर्ष के नाम से पुकारते थे। पुराने समय में विदेशी लोग इसे इसके उत्तर पश्चिम में बहने वाली महानदी सिंधु के नाम से पुकारते थे जिसे फारस वालों ने स के उच्चारण में कठिनाई होने के कारण इसे हिंदू कहकर पुकारा। फारस से यह शब्द यूनान देश में पहुंचा जहां सारा भारत देश पश्चिमी नदी के नाम से विख्यात हुआ। मुस्लिम आक्रमण के साथ फारसी नाम हिंदुस्तान के रूप में आया तथा प्राचीन धर्म को मानने वाले निवासी हिंदू कहलाये। मूलतः हिंदू शब्द प्रादेशिक महत्त्व रखता था सैद्धान्तिक नहीं। यह एक सुनिश्चित भौगोलिक क्षेत्र में बसे होने का द्योतक है। बर्बर तथा अर्द्ध-सभ्य आदिम कबीले और सभ्य द्रविड तथा वैदिक आर्य सब-के-सब हिंदू थे क्योंकि वे एक ही मां की संताने थे। डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में, हिंदू वह है, जो अपने जीवन और आचरण में वेदों के आधार पर भारत में विकसित हुई किन्हीं भी धार्मिक परंपराओं को अपनाता है। केवल वे लोग हिंदू नहीं हैं जो हिंदू माता-पिता की संतान हैं। अपितु वे सब लोग भी हिंदू हैं जिनके मातृपक्ष या पितृपक्ष के पूर्वजों में कोई हिंदू था और जो स्वयं इस समय मुसलमान या ईसाई नहीं है।[24] हिंदू धर्म ने कुछ बौद्धिक विश्वासों तक अपने को सीमाबद्ध नहीं किया। इसमें बुद्धि अन्तर्दृष्टि के, मतवाद अनुभूति के तथा बाह्याचार आंतरिक उपलब्धि के अधीन हैं। यह जिन जातियों के भी संपर्क में आया उनके रीति-रिवाजों और विचारों को धीरे धीरे अत्यधिक सरलता से अपने में मिलाता गया। डा० राधाकृष्णन के कथनानुसार भारत में धर्म संबंधी हठधर्मिता नहीं है यहां धर्म एक युक्तियुक्त सश्लेषण है जो दर्शन की प्रगति के साथ-साथ अपने अंदर नये-नये विचारों का संग्रह करता रहता है। अपने आप में इसकी प्रकृति परीक्षणात्मक और अंतिम है और यह वैचारिक प्रगति के साथ-साथ कदम मिलाकर चलने का प्रयास करता है। यह सामान्य आलोचना कि भारतीय विचार बुद्धि पर बल देने के कारण दर्शनशास्त्र को धर्म का स्थान देता है भारत में धर्म के युक्तियुक्त स्वरूप का समर्थन करती है। इस देश में कोई भी धार्मिक आंदोलन ऐसा नहीं हुआ जिसने अपने समर्थन में दार्शनिक विषय का विकास भी साथ-साथ न किया हो। श्री हैवल का कहना है, "भारत में धर्म को रूढ़ि या हठधर्मिता का स्वरूप प्राप्त नहीं है वरन् यह मानवीय व्यवहार की ऐसी क्रियात्मक परिकल्पना है जो आध्यात्मिक विकास की विभिन्न स्थितियों में और जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में अपने आपको अनुकूल बना लेती है।"[25]

हिंदू धर्म में जगत की स्वस्थ नैतिक व्यवस्था के प्रति विश्वास एवं श्रद्धा का भाव वर्तमान है हिंदुओं के सबसे प्राचीनतम धार्मिक ग्रंथ ऋग्वेद—जो ऋषियों के साक्षात्कृत अनुभवों का संग्रह है—में इस अलंघ्य नैतिक व्यवस्था को 'ऋत' कहते हैं। बाद के संस्कृत

साहित्य यह दर्शाते हैं कि प्राचीन हिंदू मनीषियों ने सत्य और 'ऋत' की खोज में अपने को समर्पित किया। सत्य का अभिप्राय विशिष्ट रूप में सामाजिक सत्य सदाचार संहिता तथा उन सिद्धांतों में विश्वास करने से है जो पूरे समाज को स्थायित्व तथा उन्नति की तरफ ले जाते हैं। महाभारत के अनुसार सत्य की अवधारणा है— यद्भूतहितमत्यन्तम् एतत्सत्य मत मय। हिंदू दार्शनिकों तथा सामाजिक चिंतकों ने इस शाश्वत और अपरिवर्तनीय हमारे अस्तित्व को नियंत्रित करने वाले हमारी सत्ता के विभिन्न स्तरों को बनाये रखने वाले सत्य की खोज में हमेशा अपने को तल्लीन रखा। इस खोज के द्वारा हिंदू चिंतन सर्वत स्वीकृत सिद्धांत पर पहुंचता है कि एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति। ऋग्वेद के द्रष्टा एक सत्य में विश्वास करते हैं। सत्य एक है किंतु विद्वान लोग इसका भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन करते हैं। मनुष्य की बुद्धि सीमित है यह सत्य को उसकी पूर्णता में नहीं समझ सकता है। मानव मस्तिष्क केवल आंशिक सत्य को समझने में समर्थ होता है जिसके कारण सत्य के विभिन्न पहलुओं का विभिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में वर्णन किया जाता है। यह ज्ञान, कि सत्य को पूर्णरूपेण समझना मनुष्य की बुद्धि के परे है *यहां तक कि प्रज्ञों द्वारा भी* केवल इसके विभिन्न पहलुओं को समझा तथा वर्णन किया जा सकता है निश्चित रूप से हिंदू धर्म की सहिष्णुता विनम्रता तथा सत्याग्रह में तुलनात्मक स्वतंत्रता की भावना को *दर्शित करता है। हिंदू धर्म में विसम्मति को अपधर्म नहीं माना जाता है।* दार्शनिक मामलों पर बहस तथा वार्ताओं में बिना भय के विचारों को व्यक्त किये जाने को महत्त्व दिया जाता है। हिंदू चिंतन में 'अभय' को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

अभय तथा विभिन्न मतों के प्रति सहिष्णुता का बहुत ही अच्छा उदाहरण हम ऋग्वेद के महत्त्वपूर्ण स्तोत्र में मिलता है, ' अस्तित्व या अनस्तित्व कुछ नहीं था। वायु या ऊपर आकाश भी नहीं था। फिर वह क्या है जो गतिशील है ? किस दिशा में गतिशील है और किसके निर्देशन में ? कौन जानता है ? कौन हमें बता सकता है कि सृष्टि कहां हुई कैसे हुई और देवता इसके बाद पैदा हुए ? कौन जानता है सृष्टि कहां से आयी ? और कहीं से आयी भी तो इसका निर्माण भी हुआ या नहीं ? केवल वह अकेला जानता है जो स्वर्ग में बैठा संपूर्ण सृष्टि को देख रहा है और फिर क्या वह भी जानता है ? '[6] इस प्रकार ब्रह्मांड की उत्पत्ति के संबंध में लेखक अनेक वैकल्पिक परिकल्पनाएं सुझाता है तथा अंत में इस सिद्धांत को कि सृष्टि का निर्माण स्रष्टा ने किया सत्यता के बारे में भी उसे संदेह होता है तथा इस संदेह को अंत में बड़ी स्पष्टता के साथ व्यक्त किया गया है। यह आत्मिक खोज, आध्यात्मिक अस्थिरता और बौद्धिक संदेहवाद की अभिव्यक्ति है जो प्राचीन भारत में धार्मिक स्वतंत्रता तथा सहिष्णुता के लिए उत्तरदायी थी। हिंदू चिंतक बिना हिचकिचाहट के दूसरों की बात स्वीकार करते हैं और अपनी बातों की तरफ उन्हें भी ध्यान देने योग्य समझते हैं। हिंदू धर्म ने कभी भी बौद्धिक ज्ञान के एकाधिकार का दावा नहीं किया तथा दूसरे धर्मों के अनुयायियों को अपने दर्शन में परिवर्तित करने में विश्वास नहीं किया। हमारे आर्य पूर्वजों की अज्ञात तथा अदृश्य को जानने-समझने के संबंध में निर्भीक भावना तथा उनकी विचारों की स्वतंत्रता की मैक्स मूलर ने निम्न-लिखित शब्दों में प्रशंसा की है, 'इसमें कोई संदेह नहीं है कि भारत में धार्मिक तथा

दार्शनिक विचारक बहुत लंबे समय तक पूर्ण स्वतंत्रता, जो लगभग अबाध थी, का उपयोग करने में समर्थ रहे। प्राचीन भारत में विचारों की स्वतंत्रता इतनी ज्यादा थी कि अर्वाचीन काल से पहले पश्चिम में तुलना नहीं मिलती।[27]

हिंदू धर्म कोई निश्चित धर्मग्रंथ नहीं है बल्कि आध्यात्मिक विचारों और साधनाओं का विशाल और विविध तत्त्व समन्वित कर सूक्ष्मता से एकीभूत पुंज है। इस धर्म में मानव आत्मा को ईश्वर में लीन करने की परंपरा युगों से निरंतर चली आ रही है। उपनिषदों के द्रष्टा केवल एक केंद्रीय सत्ता में विश्वास करते हैं जिसके भीतर सब कुछ व्याप्त है। संपूर्ण सत्ता का अस्तित्व परमात्मा के कारण है और परमात्मा के कारण ही इस संसार का कुछ अर्थ है। लघुतम से अधिक लघु और महत्तम से अधिक महत् यह अस्तित्व का सार तत्त्व प्रत्येक प्राणी के भीतर उपस्थित है। वह आदि सत्ता इंद्रिय ग्राह्य नहीं है, अंधकार से घिरी अज्ञात की गहराइयों में स्थित है घाटियों में अवस्थित है प्राणियों के हृदय में निवास करती है वह असीम है। उस परब्रह्म पुरुषोत्तम को पहचानना और उसके साथ एकाकार हो जाना मानव मात्र का लक्ष्य है। इस ईश्वर को अपना बना लेना और स्वयं ईश्वर का बन जाना कहते हैं। मानव विवेक की इस क्षेत्र में कोई पहुंच नहीं है। मनुष्य के दुःखों का मूल कारण अज्ञान है। अतः दुःखों को दूर करने के लिए ज्ञान की प्राप्ति *परमावश्यक है। ज्ञान से ईश्वर को समझना अनिवार्यतः संभव है और साथ ही मानव* की समझने की सीमित शक्तियों से परे भी है। अंतर्दृष्टि वह संपूर्ण ज्ञान है, जिसे हम अपनी तमाम शक्तियों के उपयोग से प्राप्त कर सकते हैं। उच्चतम ज्ञान प्राप्त करने के लिए दो तरह के अभ्यासों की आवश्यकता है—(1) निदिध्यासन अर्थात् स्वीकृत सिद्धांतों का अनवरत चिंतन तथा (2) पूर्ण आत्मत्याग का जीवनयापन। ईश्वर से साक्षात्कार ही धर्म का लक्ष्य है। संपूर्ण सत्य की प्राप्ति के लिए चेतना की समस्त अवस्थाओं को ध्यान में रखना आवश्यक है। भारतीय विचारधारा जागृतावस्था स्वप्नावस्था और सुषुप्तावस्था (स्वप्न रहित निद्रा) पर ध्यान देती है।

हिंदू धर्म का एक अभिन्न अंग कर्मवाद का सिद्धांत है। कर्मवाद को प्रायः भारत के सभी दर्शन मानते हैं। इसके अनुसार उत्कर्ष अर्थात् कर्मों के धर्म तथा अधर्म सर्वथा सुरक्षित रहते हैं। किये हुए कर्म का फल नष्ट नहीं होता और बिना किये हुए कर्म का फल नहीं मिलता तथा हमारे जीवन की घटनाएं हमारे अतीत कर्मों के अनुसार ही होती हैं। हिंदू धर्म के मानने वाले अपने को ही अपना भाग्य निर्माता समझते हैं। मनुष्य के जीवन में इच्छा की स्वतंत्रता तथा पुरुषार्थ दोनों ही संभव हैं, इसलिए कर्मवाद को हम भाग्यवाद नहीं मान सकते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार कर्मों का फल तो अवश्य मिलेगा वह अनिवार्य है। किंतु फल का स्वरूप अनिवार्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि अपने प्रयत्नों से मनुष्य उसमें परिवर्तन ला सकता है। सत्कर्मों के द्वारा पूर्व कर्मों के प्रभाव को रोका या कम किया जा सकता है। मानव-जीवन को ऊपर उठने के लिए अवसर प्रदान करता है।

हिंदू धर्म पुनर्जन्म में विश्वास करता है। नवीन जन्म का निश्चय पूर्वकृत सत् अथवा असत् कर्मों के द्वारा होता है। पुनर्जन्म से मुक्ति का भाव लगभग सभी भारतीय विचारधारा में व्याप्त है। मुक्ति की व्यवस्था की कल्पनाएं अथवा मुक्ति और उसे प्राप्त

करने के साधनों के संबंध में विस्तृत भिन्नता है। मुक्ति की छः संविधाएं बतायी गयी हैं। वे हैं—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदांत।

हिंदू दर्शन की महत्त्वपूर्ण विशेषता है, अद्वैतपरक बाह्य शून्यवाद। वैदिक विचार का संपूर्ण विकास इसी ओर निर्देश करता है। डॉ॰ राधाकृष्णन् के अनुसार "यदि हम भिन्न-भिन्न मतों का सारतत्त्व निकालकर सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो प्रतीत होगा कि सामान्य रूप में भारतीय विचारधारा की स्वाभाविक प्रवृत्ति जीवन एवं प्रकृति की अद्वैतपरक बाह्य शून्यवादी व्याख्या की ओर ही है। यद्यपि यह झुकाव इतना लचीला, सजीव और भिन्न प्रकार का है कि इसके कई विविध रूप हो गये हैं और यहां तक कि यह परस्पर विरोधी उपदेशों के रूप में परिणत हो गया है।"[28] अद्वैतपरक बाह्य शून्यवाद को चार रूपों में वर्णित किया गया है— (1) अद्वैतवाद (अर्थात् सिवाय ब्रह्म के दूसरी सत्ता नहीं) (2) विशुद्धाद्वैत (3) विशिष्टाद्वैत और (4) अव्यक्त (उपलक्षित) अद्वैतवाद। यद्यपि विभिन्न हिंदू विचारकों तथा दार्शनिकों की अवधारणाओं तथा सिद्धांतों में कई प्रकार की भिन्नता है और कुछ विशिष्ट बातों के संबंध में परस्पर विरोध है किन्तु अतीत के प्रति सभी बराबर सम्मान रखते हैं और वेद को सभी मूल आधार मानते हैं। वे सभी उपनिषद, ब्रह्मसूत्र तथा भगवद् गीता के मतलेषण को अपनाते हैं।

प्रारंभ से ही हिंदुओं ने सत्य के अनेक पक्ष को स्वीकार किया है तथा यह माना है कि विभिन्न मत सत्य के भिन्न-भिन्न पहलू को लेकर प्रकट हुए हैं। इसीलिए उनमें अन्य मतों के प्रति सहनशीलता कूट-कूटकर भरी है। उन्होंने निर्भयता के साथ ऐसे विषम सिद्धांतों को भी उस सीमा तक स्वीकृति प्रदान की, जहां तक उन सिद्धांतों को तर्क का समर्थन प्राप्त हो सकता था। "इसी प्रकार भारत में समय-समय पर जिन भिन्न मतों का प्रचार हुआ वे सब *उसी एक मुख्य वृक्ष की शाखाएं मात्र हैं। सत्य की खोज के मुख्य मार्ग के साथ छोटी-छोटी* पगडंडियों और अंधी गलियों का भी सामंजस्य किया जा सकता है।[29]

प्रसिद्ध विद्वान मैक्समूलर ने मुक्ति की छः संविधाओं की मौलिक सिद्धांतों में परस्पर सहमति की निम्नलिखित शब्दों में प्रशंसा की है, "मैंने प्राचीन दर्शनों का जितना ही अधिक अध्ययन किया उतना ही मैं विज्ञान भिक्षु आदि के इस मत का अनुयायी होता गया कि *षड्दर्शन की परस्पर भिन्नता की पृष्ठभूमि में एक ऐसे दार्शनिक ज्ञान का भंडार है* जिसे हम राष्ट्रीय अथवा सर्वमान्य दर्शन कह सकते हैं, जिसकी तुलना हम उस विशाल मानसरोवर से कर सकते हैं, जो यद्यपि सुदूर प्राचीन काल रूपी दिशा में अवस्थित था तो भी जिसमें से प्रत्येक विचारक को अपने उपयोग के लिए सामग्री प्राप्त करने की अनुज्ञा मिली हुई थी।"[30]

हिंदू धर्म का सामान्य नैतिक दृष्टिकोण सहिष्णुता एवं दया का पक्षपाती है। भारतीय दर्शन के अनुसार संसार मानो एक रंगमंच है, जिसमें मनुष्य को कर्म करने का अवसर मिलता है। वर्तमान जीवन में मनुष्य जैसा आचरण करता है, जीवन सत्ता के क्रम में वैसी ही उसकी भावी स्थिति होगी। जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति व्यक्ति का अंतिम लक्ष्य है। समस्त नियमों से छुटकारा पा जाने पर ही उसे पूर्ण मुक्ति मिल सकती है। यह तभी हो सकता है, जब व्यक्ति निरंतर आवेष्टित करने वाले कर्म सिद्धांत से परे हो जाय।

यह दो प्रकार से सभव है—(1) निवृत्ति-कर्मों का परित्याग करके समस्त बाधाओ से परे होकर, (2) प्रवृत्ति-कर्म करने के सिद्धात को अपनाकर कर्म के क्षेत्र से स्वय को मुक्त करना । हिंदू नीतिशास्त्र द्वितीय दृष्टिकोण को अपनाता है । व्यक्ति अपने को सद्कार्यो मे लगाकर धीरे-धीरे मुक्ति की ओर अग्रसर होता है और अतत जन्म-मरण के ससार से मोक्ष प्राप्त कर लेता है । इसके लिए हिंदू ग्रथो मे व्यक्ति को कुछ आचारसहिताओ के अनुसरण करने तथा सामाजिक सुव्यवस्था को बनाये रखने के लिए कुछ कर्तव्यो एव दायित्वो के निर्वाह करने पर बल दिया गया है । हिंदू धर्म की गगा इसी उद्देश्य को लेकर आगे प्रवाहित होती रही है ।

हिंदू नीतिशास्त्र मे दो प्रकार के धर्मों का वर्णन किया गया है—प्रथम साधारण धर्म, जिसके अतर्गत वे कर्तव्य एव दायित्व आते हैं जो सर्व सामान्य हैं तथा द्वितीयत वर्णाश्रम धर्म अर्थात् वे कर्तव्य एव दायित्व जो व्यक्ति की सामाजिक स्थिति पर आश्रित होते हैं । (वर्ण धर्म) विभिन्न हिंदू धर्म-ग्रथो के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि उनमे अनेक साधारण धर्मों पर बल दिया गया है । गौतम स्मृति मे आत्मा के आठ गुण बताये गये हैं—सर्व प्राणियो पर दया सहनशीलता सतोष पवित्रता, सद्प्रयत्न, सद्विचार, लोभहीनता एव ईर्ष्या से मुक्ति । सभी हिंदू ग्रथ अहिंसा, सत्य, कृपा, दया, मैत्रीभाव, प्रेम एव क्षमा आदि सद्गुणो की शिक्षा देते हैं जो मनुष्यो मे सच्ची दयालुता एव सहिष्णुता को प्रोत्साहित करते हैं । किंतु दूसरो की भलाई के सबध मे इन सद्गुणो के अपवादो को भी स्वीकार किया गया है ।

भारत मे प्रारभ मे केवल एक ही वर्ण था । सबके सब ब्राह्मण थे या शूद्र थे । एक स्मृति के मूलपाठ मे कहा गया है "जन्मना जायते शूद्र , सस्कारैर्द्विज उच्यते" । वर्ण का शाब्दिक अर्थ है— रग जिसका मूलरूप मे प्रयोग आर्यों और दासो के बीच अतर स्पष्ट करने के लिए होता था । प्रोफेसर घुर्ये लिखते हैं,[31] ऋग्वेद मे वर्ण शब्द का प्रयोग किसी वर्ग (ब्राह्मण क्षत्रिय आदि) के लिए कभी नही हुआ । वहा केवल आर्य वर्ण या आर्यजन का दास वर्ण से अतर स्पष्ट किया गया है । शतपथ ब्राह्मण मे चार वर्गों को चार वर्णों मे बताया गया है । वर्ण अर्थात् रग ऐसा लगता है कि इसी अर्थ मे आर्य तथा दास का अतर बताया गया है, जो उनके गोरे और काले रग से अर्थ रखता है । यह शब्द रग के अर्थ को इतना गहरा ध्वनित करता था कि बाद मे जब नियमित रूप से वर्गों को वर्णों के रूप मे बताया जाने लगा तब विभिन्नता दर्शाने के लिए चार भिन्न रगो की कल्पना कर ली गयी । ऋग्वेद मे जो आर्य और दास के बीच अतर है, वही अतर बाद मे आर्य और शूद्र मे माना जाने लगा ।[32] ऋग्वेद स्तोत्र के प्रसिद्ध पुरुष सूक्त मे आदि पुरुष के बलिदान से समाज के चार क्रमो के उद्भव का सदर्भ मिलता है । उन चार क्रमो के नाम दिये गये हैं—ब्राह्मण राजन्य (क्षत्रिय) वैश्य और शूद्र जो जगत मे स्रष्टा के मुख, भुजा, जघा और पैरो से उत्पन्न माने गये हैं । धीरे धीरे चारो वर्ण जन्म पर आधारित अनन्य समूहो मे विभक्त हो गये । वास्तव मे देखा जाये तो वर्णों मे विभाजन के पीछे एक निश्चित उद्देश्य था । इसके द्वारा लोगो को एक-सी आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक और आध्यात्मिक शृखला मे बाधने का प्रयास किया गया था । प्रत्येक वर्ग के लिए सुनिश्चित कृत्य और

कर्तव्य नियत करके और उन्हे अधिकार और विशेषाधिकार देकर विभिन्न वर्गों मे परस्पर सहयोग और जातीय समन्वय स्थापित किया गया था। साथ ही विभिन्न वर्गों म यथायोग्य भावना और परपरा के विकास को लक्षित किया गया था। वर्गों म विभाजन आज जैसा नहीं था बल्कि सामाजिक आवश्यकताओ और वैयक्तिक कर्मो के अनुसार लोगो को चार वर्गों मे बाटा गया था, परतु इस विभाजन को सुकठोर नही समझा जाता था। ब्राह्मण लोग पुजारी एव अध्येता होते थे। उनके पास न सपत्ति होती थी और न कार्यकारी (शासन की) शक्ति। वे समाज के द्रष्टा होते थे। वे लोग वर्ग विशेष के स्वार्थ और आग्रह से परे थे तथा उनकी दृष्टि व्यापक और पक्षपातहीन थी। वे राज्य के परामर्शदाता के रूप मे होते थे। क्षत्रिय लोग शासक एव सैनिक होते थे जिनका सिद्धात था, जीवन के प्रति सम्मान एव श्रद्धा। वैश्य लोग व्यापारी और कारीगर होते थ जिनका उद्देश्य था, कार्यपटुता। कृषक, श्रमिक तथा सेवक शूद्र वर्ण मे माने जाते थे। जो निर्दोष मनोवेगो का जीवन बिताते थे और परपरागत रीतियो को अपनाते थे। जिनका मार्ग आनद, विवाह और पितृत्व की पारिवारिक तथा अन्य सामाजिक सबधो की जिम्मेदारियो को पूरा करने मे ही होता था। प्रथम तीन जातिया द्विज है क्योकि इन जातियो के पुरुष उपनाम के वैदिक सस्कार द्वारा जनेऊ धारण करने के अधिकारी है जबकि शूद्र नहीं हैं। जितना ही ऊचा वर्ण होता था उतना ही ज्यादा उसके कर्तव्य एव दायित्व होते थे। सामाजिक उन्नति के लिए गुरुओं की पवित्रता योद्धाओ की वीरता व्यापारियो की ईमानदारी और कर्मकारो का धैर्य तथा शक्ति आवश्यक है। यहा कम-से-कम उच्चतम वर्ण से यह आशा की जाती थी कि वह वर्णाश्रम धर्मो का पालन करेगा, किंतु आरभ मे ही इसका असगतिया विद्यमान थी। वैदिक ग्रथो म अनक प्रसिद्ध ऋषियो के दासीपुत्र होने का वर्णन मिलता है । प्रसिद्ध महाकाव्य महाभारत के रचयिता वेदव्यास थे। जन्म के सबध म भी क्या प्रचलित है कि मछुआरे की कन्या से उनका जन्म हुआ था। क्षत्रिय दर्जे का दावा करने वाले कई राजपरिवार भी ब्राह्मण और यहा तक की शूद्र से उत्पन्न हुए थे।

द्विजो के जीवन को चार आश्रमो मे विभक्त किया गया था। प्रथम, ब्रह्मचर्य आश्रम— जो शरीर और मन को विनीत एव सयत बनाता है मे यज्ञोपवीत सस्कार के उपरात तरुणो को विद्यार्थी के रूप मे गुरु के आश्रम म निवास कर ब्रह्मचर्य तथा कठोर जीवन व्यतीत करना पडता था। द्वितीय गृहस्थ-आश्रम, विवाह-सस्कार के उपरात आरभ होता था। यह सभी आश्रमो का आश्रम है। जिसमे बलिदान करना पडता था अतिथि सत्कार करना पडता था और सताने प्राप्त करनी होती थी। तदुपरात पौत्र प्राप्ति क आनदोपभोग के पश्चात् अपने वश को सुदृढ बनाकर गृहत्याग क बाद वानप्रस्थ आश्रम आरभ होता था। इस आश्रम म मनुष्य कोलाहलमय जीवन म अलग होकर जगल के एकात वातावरण मे मननशील होकर तप द्वारा अपनी आत्मा को सासारिक वस्तुओ म मुक्त करता था। अतिम अवस्था सन्यास की थी। इसम समस्त सासारिक बधनो को तोडकर, व्यक्ति परमात्मा के सपर्क म रहने के लिए तथा स्वानुभूत सत्या का उपदेश दन के लिए सन्यास ले लेता था। वह ऐसी अवस्था को प्राप्त हो जाता था जिसम न उसे धन अथवा सम्मान लुभा

सकता है और न सफलता आनंदित कर सकती है, न ही असफलता हतोत्साहित, न कोई व्यक्तिगत आसक्ति होती है और न ही व्यक्तिगत आकांक्षा। वह अपने में समता की भावना का विकास करता था तथा संपूर्ण पृथ्वी को अपना समझता था।

हिंदू नीतिशास्त्र में व्यक्ति के संपूर्ण और संतुलित विकास के लिए जीवन के चार उद्देश्यों में समुचित संतुलन पर बल दिया गया है। मानव को उन पुरुषार्थों (लक्ष्यों) को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। ये पुरुषार्थ थे— 'धर्म', अर्थात् उचित व्यवहार के विधान का पालन करके लाभान्वित होना 'अर्थ' अर्थात् सत्यमार्ग के अनुसरण द्वारा धन प्राप्त करना 'काम' अर्थात् सब प्रकार के सांसारिक सुखों का उपभोग और 'मोक्ष' अर्थात् आध्यात्मिक रूप से मुक्त जीवन व्यतीत करना। प्रथम तीन लक्ष्य व्यक्ति के अनुभवाश्रित जीवन से संबंधित हैं जबकि चतुर्थ का संबंध आध्यात्मिक जीवन से है। दूसरे तथा तीसरे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किये गये प्रयत्न धर्म प्रेरित होने चाहिए। अतः हिंदू नीतिशास्त्र में व्यक्ति के सहज वृत्तिक नैतिक तथा आध्यात्मिक—इन सभी पक्षों को धर्मसम्मत तथा अभिव्यक्ति के योग्य माना गया है।

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आचरण ग्रंथ 'भगवद्गीता' में नैतिक कर्म के क्षेत्र में नवीन तत्त्वों का विकास किया गया है। इसमें कर्म सिद्धांत को नवीन दिशा दी गयी है, परंपरागत वर्गीकरणों में अत्यधिक सामंजस्य स्थापित करते हुए उसके आशय को विस्तृत किया गया है। गीता के निष्काम कर्म की अवधारणा में निवृत्ति एवं प्रवृत्ति के सिद्धांतों को सम्मिलित कर लिया गया है। कुरुक्षेत्र में स्वधर्म से च्युत होते हुए अर्जुन को श्रीकृष्ण ने स्पष्ट किया कि शरीर के अवसान का अर्थ आत्मा की मृत्यु नहीं है। आत्मा अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य अशोच्य, नित्य सर्वव्यापक अचल स्थिर और सनातन है। मनुष्य को यथासंभव बिना किसी मोह, निजी कामना अथवा महत्त्वाकांक्षा के कर्म करना चाहिए। उसे समस्त कार्य परमात्मा के ऐश्वर्य हेतु करते हुए जिस समाज का वह सदस्य है उसके प्रति अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए। भगवद्गीता का सार है कि *'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'*

निष्काम कर्म के द्वारा मनुष्य समत्व के आदर्श को प्राप्त करता है। यह समत्व तीन चरणों में प्राप्त किया जा सकता है— (1) आत्मनिष्ठ समचित्तता, (2) वस्तुनिष्ठ समचित्तता (3) समचित्तता की परिपूर्णता। गीता में आत्मनिष्ठ पहलू की विवेचना करते हुए कहा गया है कि वही व्यक्ति अमरत्व को प्राप्त करता है जो सुख-दुःख से प्रभावित नहीं होता। द्वितीय चरण वस्तुनिष्ठ समचित्तता का होता है। जब वह सभी प्राणियों के कल्याण की कामना करता है, वह सभी को अपने समान समझने लगता है। इसका चरमबिंदु तब होता है, जब व्यक्ति तीनों प्रकार के गुणों की दैहिक और ऐहिक विशेषताओं के परे हो जाता है और यह अनुभव करता है कि ये गुण उसके अपने आध्यात्मिक स्वभाव के असंगत हैं। तब वह सांसारिक गुणों से परे हो ब्राह्मणत्व को प्राप्त करता है।

गीता में विभिन्न हिंदू विचारधाराओं का तर्कनापरक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है, इसमें सभी हिंदू दर्शनों का निचोड़ विद्यमान है। इसमें ज्ञानमूलक भक्ति प्रधान कर्मयोग की

शिक्षा दी गयी है। इसमें स्वधर्म को स्वभाव और युगधर्म पर आधारित माना गया है। इस प्रकार गीता में व्यक्ति को असीमित स्वतंत्रता दी गयी है। गीता का संदेश है कि अपनी पूर्ण योग्यता के साथ अपने जातीय कर्म के पालन द्वारा बिना किसी निजी आकांक्षा के ईश्वर की भक्ति द्वारा, व्यक्ति मुक्ति का लाभ करेगा वह चाहे किसी जाति का हो। गीता में व्यक्ति को न तो पूर्णरूपेण पारलौकिक जगत में पहुंचा दिया गया है और न ही उसे पूर्णतया भौतिक युग में बांध दिया गया है। गीता की प्रेरणा का समस्त भारत में व्यापक अनुभव किया जाता रहा है, यहां तक कि ईसाइयों तथा मुसलमानों ने भी इसकी सराहना की है। इस प्रकार हिंदू दर्शन के सिद्धांतों में सामान्यतः स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने विकास के विधान को पूर्ण करने का यत्न करना चाहिए। अपने नमूने के अनुकूल ही अपने जीवन को अनुशासित करना चाहिए। किंतु वर्णाश्रम धर्म का समय-समय पर अनेक महापुरुषों द्वारा विरोध किया गया है। जगद्गुरु शंकराचार्य ने—जिसने अद्वैत का स्पष्ट अनुभव कर लिया है माना है—चाहे वह ब्राह्मण हो या चांडाल गुरु रामानुजाचार्य मंदिर की चोटी पर चढ़कर मंत्रो का उच्चारण सभी की भलाई के लिए करते थे। मध्यकालीन भक्ति आंदोलन के अनेक कवियों एवं संतो ने वर्ण (जाति) व्यवस्था का घोर विरोध किया। आधुनिककालीन समाज-सुधारकों—राममोहन राय दयानंद सरस्वती स्वामी विवेकानंद *रामकृष्ण, बालगंगाधर तिलक श्री अरविंद महात्मा गांधी आदि—ने पुनरुज्जीवित* भारतीय समाज की स्थापना के लिए वेदों उपनिषदों और भगवद्गीता की प्रमुख शिक्षाओं का सहारा (आश्रय) लिया तथा वर्ण-व्यवस्था की बुराइयों को दूर करने का प्रयास किया।

हिंदू धर्म एक निश्चित संरचनाविहीन धर्म है। इसका कोई एक केंद्र नहीं यह बहुकेंद्रिक विश्व है। न तो कोई एक धर्म विश्वास है और न ही कोई एक धर्मग्रंथ है न तो कोई एक पैगंबर है और न ही कोई एक संस्थापक। अपितु यह तो एक निरंतर नवीन होते हुए, अनुभव के आधार सत्य की निरंतर और आग्रहपूर्ण खोज है। इसमें पुरोहित-पंडित साधु-संन्यासी ऋषि मुनि की बड़ी सीमित भूमिका है। वे न तो पथ हैं और न ही पथ के एकमात्र निर्देशक हैं, बल्कि सहपाथ हैं। हिंदुत्व परमात्मा के विषय में निरंतर विकासमान मानवीय विचार है। इसके पैगंबरों और ऋषियों का कोई अंत नहीं है और न ही इसके सिद्धांत ग्रंथों की ही कोई सीमा है, यह अनगिनत देवी-देवताओं की पूजा से संबंधित है। प्रायः ऐसा होता है कि जब जिस देवता की आराधना की जाती रहती है तब उस देवता को अन्य सारे देवताओं से श्रेष्ठ बताकर उसकी स्तुति की जाती है। किसी-न-किसी धर्मग्रंथ से एक कथा लेकर इस प्रकार की श्रेष्ठता सिद्ध की जाती है। शैव लोग शिव को अन्य भगवानों से श्रेष्ठ मानते हैं और इसमें उल्टी स्थिति वैष्णवों की है जो विष्णु को श्रेष्ठ भगवान मानते हैं। हिंदू धर्म सिद्धांतों और विश्वासों की तह में एक प्रकार का एकेश्वरवाद विद्यमान है। हिंदुत्व एक ही सर्वोच्च वास्तविकता तक पहुंचने और उसे प्राप्त करने के प्रयत्नों की विविधता को स्वीकारता है। महाभारत में वर्णित है, जिस तरह आकाश से होने वाली वर्षा का सारा जल अंत में समुद्र में पहुंच जाता है, उसी तरह चाहे जिस भगवान के प्रति श्रद्धा व्यक्त की जाय, अंत में वह केशव तक पहुंच जाती है।'

किंतु हिंदू धर्म के सभी देवता अंतिम विश्लेषण में सर्वोच्च, निराकार, निर्गुण ब्रह्म की अभिव्यक्ति मात्र हैं। हिंदू लोग इन विभिन्न विश्वासों को परस्पर विरोधी नहीं मानते हैं और धर्मशास्त्रीगण ईश्वर के संबंध में प्रत्येक विचार को लोगों की विभिन्न आवश्यकताओं के उनकी जाति और इतिहास के, उनके लिंग और स्वभाव के सापेक्ष मानकर समाधान करते हैं। यह हिंदुत्व के समझौते और सहयोग की प्रवृत्ति का अद्भुत उदाहरण है। धर्म के चार स्रोत माने गये हैं— (1) श्रुति या वेद, (2) स्मृति और स्मृति के जानने वालों का व्यवहार (3) धर्मात्मा लोगों का आचरण और (4) व्यक्ति का अपना अंत:करण।[33] हिंदुत्व में अत्यावश्यक परिवर्तनों के लिए स्थान रखा गया है। जब भी इसमें एक जड़ मतवाद के विकास की प्रवृत्ति दिखाई पड़ी तो अनेक आध्यात्मिक पुनरुत्थान और दार्शनिक प्रतिक्रियाएं उत्पन्न हुईं और उपलब्ध विश्वास कसौटी पर कसे गये, असत्य का खंडन कर सत्य की स्थापना की गयी। जब-जब परंपरागत विश्वास, काल-परिवर्तन के कारण अपर्याप्त ही नहीं झूठे सिद्ध हुए और युग उनसे ऊब गया, तो बुद्ध या महावीर, व्यास या शंकर जैसे युगपुरुष की चेतना आध्यात्मिक जीवन की गहराइयों में हलचल उत्पन्न करती हुई जनमानस पर छा गयी। भारतीय विचारधारा के इतिहास में निस्संदेह ये बड़े महत्त्वपूर्ण क्षण रहे। आंतरिक कसौटी और अंतर्दृष्टि के क्षण, जबकि आत्मा की पुकार पर मनुष्य के मन ने एक नये युग में पग रखा और एक नये साहसिक कार्य पर चल पड़ा।[34]

यद्यपि कुछ पंथों के प्रति अत्याचार के उदाहरण अपवाद स्वरूप अवश्य मिलते हैं, किंतु सामान्यतः प्राचीन भारत में धार्मिक स्वतंत्रता को महत्त्व दिया गया था। सम्राट् अशोक ने अपने साम्राज्य के समस्त धर्मों को पांच शीर्षकों में वर्गीकृत किया था—संघ (बौद्धानुयायी) ब्राह्मण, आजीवक, निर्ग्रंथ (जैनी) एवं अन्य सम्प्रदाय। यद्यपि उसने अपना प्रधान संरक्षण बौद्ध धर्म को प्रदान किया था, वह सभी धर्मों का समान आदर करता था और अपनी प्रजा से वैसा ही करने की आशा रखता था। उसके उत्तराधिकारी ने भी नास्तिक आजीवकों को अपने यहां प्रश्रय दिया था। मनु एवं याज्ञवल्क्य भिन्न विश्वासियों की प्रथाओं को मान्यता देते हैं। हिंदू शासकों का यह कर्तव्य बन गया था कि वे सभी धर्मों के अनुयायियों या नास्तिकों, सभी की रक्षा करें। यही कारण है कि हिंदुओं बौद्धों और जैनों के साथ-साथ चार्वाक और लोकायत जैसे भौतिकवादी भी भारत में आदिकाल से ही पल्लवित और पुष्पित होते रहे हैं। भारत में धार्मिक सहिष्णुता की भावना का प्रमाण यह तथ्य है कि भारत में बहुत पहले से अल्पसंख्यक यहूदी, सीरियाई, ईसाई और पारसी मौजूद हैं। भारत के समुद्री तटों पर इनकी बस्तियों के प्राचीन प्रमाण मिलते हैं। मुहम्मद के समय से बहुत पूर्व अरबवासी भारत में आये और यहीं बस गये। ए.एल. बाशम लिखते हैं— भारत में अभारतीय सम्प्रदायों के उत्पीडन का कोई स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं है। उनके सदस्य शांति से अपनी उपासना पद्धति का अनुसरण करते रहे, जो तटीय नगरों के धार्मिक जीवन में अमत्य परंतु महत्त्वपूर्ण तत्त्व थे जबकि हिंदुओं का विशाल समूह इन विदेशी आस्थाओं के प्रति विशेष जागरूक नहीं था और उनका उग्र विरोधी तो किसी प्रकार नहीं था। सहिष्णुता की इस धारिता ने हिंदू धर्म को अपनी

विशिष्ट नमनीयता की सवृद्धि की और उसके अति जीवन की सुरक्षा को सहयोग प्रदान किया।[35] *यहा यह स्पष्ट है कि यह सहिष्णुता और सर्वग्राहिता हिंदू धर्म साधना का* परिणाम है। वह साध्य है, साधन नहीं।

राज्य और धर्म

प्राचीनकाल मे भारत मे राजाधिकार के उदय के सबध मे कई पौराणिक आख्यान मिलते हैं। यह मानवीय आवश्यकताओ और सैनिक मागो पर आश्रित माना गया था। राजा मुख्यत युद्ध का एक नेता माना जाता था वह युद्ध में प्रजा का नेतृत्व करता था। उसे दैवी शक्ति से सपन्न समझा जाता था। किंतु राजाधिकार को चुनौती न दी गयी हो यह बात नही थी। समय-समय पर उसे चुनौतिया दी जाती रही तथा दैविकता ने राजा के धर्मनिरपेक्ष आचरण मे कोई अतर नही आने दिया।

प्रजा के दिलो मे राजा के लिए बडा आदर होना था तथा राजा प्रजा को अपनी सतान मानता था। यद्यपि राजा वैधानिक नियत्रणों से मुक्त हुआ करता था तथापि वह पूर्ण स्वेच्छाचारी नही होता था, वह उतना ही धर्म के अधीन होता था जितना कि प्रजा होती थी। वह धर्म को प्रोत्साहन देने और प्रवर्तित करने के लिए बाध्य होता था। आक्रमणो से प्रजा की सुरक्षा करने के साथ-साथ धार्मिक ग्रथो के अनुरूप सामाजिक व्यवस्था, समस्त वर्गो तथा अवस्थाओ की उचित जीवन प्रणाली को लागू करना राजा का कर्तव्य होता था। पवित्र परपराओ का राजा द्वारा आदर किया जाना आवश्यक था। यद्यपि ब्राह्मण-ग्रथो के अध्ययन से पता चलता है कि राज्य मे सामान्यत ब्राह्मणो अथवा पुरोहितो को उच्च स्थान प्राप्त था। राज्य के कल्याण के लिए धार्मिक अनुष्ठानों का निष्पादन राजकीय पुरोहित द्वारा किया जाता था। निर्माण करने वाला तथा उनकी व्याख्या करने वाला ब्राह्मण होता था। वह राज्य मे ऊपर होता था। वे कर से मुक्त होते थे, उन्हे मृत्यु दड नही दिया जा सकता था तथा अन्य वर्णो की तुलना मे उनके लिए दड की व्यवस्था नरम थी, किंतु इसका कदापि यह अभिप्राय नहीं है कि प्राचीन काल म भारत मे धर्मतत्र की व्यवस्था थी क्योकि ब्राह्मण वर्ग राजा अथवा राज्य पर अपने नियत्रण का दावा व्यावहारिक रूप मे कभी नही कर सका। जो दावा ग्रथो म ब्राह्मणो अथवा पुरोहितो द्वारा किया गया, वह क्या होना चाहिए था' का वर्णन है, न कि क्या वास्तविक रूप में उन्हे प्राप्त था। राजा सर्वदा सर्वोपरि था, वह ब्राह्मणो के हाथ म नही खेलता था। ब्राह्मणों के अधिकाश विशेषाधिकार केवल धार्मिक पुस्तको तक ही सीमित थे। ऐतरेय ब्राह्मण तो यहा तक स्वीकार करता है कि राजा अपनी इच्छा अनुसार ब्राह्मणो को राज्य मे बाहर निकाल सकता है— (ब्राह्मण) आदायी आप्यायी अवसायी यथाकाम प्रायाप्य (7 29)।

राजा को शासन सबधी कार्यों मे सलाह देने के लिए मत्रियो की व्यवस्था होती थी जो प्राय ब्राह्मण होते थे। राजा से यह अपेक्षा होती थी कि वह अपने मत्रियो की मत्रणा सुने. मत्रियो को वाद-विवाद मे निर्भय रहन की परामर्श लगभग सभी शासन प्रबध

सबधी ग्रथो ने दी है। इसके अतिरिक्त एक अन्य महत्त्वपूर्ण नियत्रण जनमत था। प्रत्येक राजा अपनी लोकप्रियता का विशेष ध्यान देता था जो जनमत का गभीरतापूर्वक अपमान करता था वह अपने लिए सकट को खुला आमत्रण देता था। चरम स्थितियो मे यहा तक कि राजवध तक लोगो को सह्य था। अनेक राजा जैसे वेण नहुष, सुदास, सुमुख और निमि आदि को या तो पदच्युत कर दिया गया था या उनकी प्रजा द्वारा हत्या कर दी गयी थी। अत प्रत्येक दशा मे जनसमूह को सतुष्ट रखना राजा का मुख्य उद्देश्य होना था। स्वर्गीय डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने राजाओं के राज्याभिषेक के समय जो विधि प्रचलित थी उससे यह निष्कर्ष निकाला है कि राजत्व मनुष्य निर्मित सस्था थी। राज-पद को स्वीकार करते समय उसे कई प्रतिज्ञाए करनी पडती थी जिनके अनुसार प्रजा का हित और उसकी समृद्धि राजा का सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य होता था। वह नियमो के अधीन होता था।

राजा को धर्मनिरपेक्ष और आध्यात्मिक दोनो तरह के कर्तव्यो का पालन करना पडता था। राज्य के आध्यात्मिक तथा धर्मनिरपेक्ष कार्य दोनो परस्पर सबद्ध थे। राजा राजधर्म का पालन करता था किंतु इसका यह अभिप्राय नही था कि वह किसी विशेष पथ अथवा विश्वास को लोगो मे लागू करता था। धर्म सर्वोच्च नियम था उसका अर्थ अत्यधिक व्यापक था तथा सभी के लिए बाध्यकारी होता था। यद्यपि राज्य और धर्म के बीच सस्थात्मक पृथक्करण नही था। धार्मिक सस्थाओं का प्रशासन एव रख-रखाव राजधर्म समझा जाता था तथापि राजा और राजकीय पुरोहित के कर्मो के मध्य स्पष्ट सीमा रेखा तथा धार्मिक सहिष्णुता के कारण निश्चय ही वैदिक तथा उत्तर वैदिक काल मे भारत मे धर्मनिरपेक्ष राज्य की अवधारणा का अत्यधिक विकास हुआ साथ ही हिंदू धर्म मे एक सगठित चर्च का अभाव तथा विश्वासों एव मतो की भिन्नता का अस्तित्व भी धर्मनिरपेक्ष भावना के लिए सहायक रहा।

भारत मे हमेशा राजतत्र ही नही रहा है। यदि हम इतिहास की दुर्बीन उठाकर अतीत की पगडडियो पर विहगम दृष्टिपात करे तो हम पाते हैं कि यहा वर्षो तक ऐसे क्षेत्र थे, जहा जनता के प्रत्येक सदस्य को शासन के मामले मे अपनी सम्मति देने का अधिकार था। पौराणिक साहित्य भी इस बात के साक्षी हैं। सभा और समिति नाम की सस्थाए होती थी। सभा का सदस्य ही सभ्य कहलाता था जिससे सभ्यता की कल्पना प्रारभ हुई। वे लोग असभ्य कहलाते थे जो किसी सभा के शासन मे नहीं होते थे, जिनका कोई सभापति नही होता था। अर्थात् सभा द्वारा शासित होना सभ्यता का प्रतीक माना जाता था। यदुवशियो के बारे मे महाभारत और श्रीमद्भागवत पुराण ये सिद्ध करते हैं कि यदुवशियों की सुधर्मा नामक एक सस्था थी। जिसके दो अध्यक्ष थे—बलराम और श्रीकृष्ण। बलराम या तो अपने शारीरिक पराक्रम को बढाने और लोगो को गदा आदि की युद्ध- विद्या मे शिक्षित करने मे लगे रहते थे या नशे म धुत रहते थे। शासन का अधिकाश भार श्रीकृष्ण को ही उठाना पडता था। सुधर्मा म श्रीकृष्ण को कृतवर्मा जैसे विरोधी आलोचक की कटूक्तिया सहन करनी पडती थीं। जब दुर्योधन और अर्जुन श्रीकृष्ण से युद्ध मे सहायता के लिए अनुरोध करने गये तो यादवो की सेना दुर्योधन के

साथ गयी और श्रीकृष्ण को नि शस्त्र होकर, अर्जुन का साथ देने का अधिकार मिला। इससे यह बात सिद्ध होती है कि यदुवंशियो मे बहुमत की मान्यता थी। क्योकि अर्जुन यदुवंशियो की सम्मति के बिना उनकी राजकुमारी सुभद्रा को विवाह के लिए भगाकर ले गये थे। इसमे श्रीकृष्ण की मिलीभगत थी। उनके काफी समझाने-बुझाने पर भी यदुवंशियो ने अर्जुन को क्षमा नही किया। अर्जुन इस बात को भली प्रकार जानते थे। यही कारण था कि उन्होने सेना को न मागकर श्रीकृष्ण को मागा तथा यदुवंशियो ने युद्ध मे अर्जुन को सहायता देने के बजाय उनका विरोध करना उचित समझा। बलराम भी इसमे तटस्थ हो गये। इस प्रकार महाभारत का शातिपर्व यह बताता है कि दो स्वायत्त प्रदेशो जो गणतत्रात्मक सरकार रखते थे अधक और वृष्नि का सघ विद्यमान था जिसके प्रमुख श्रीकृष्ण थे तथा बहुमत की मान्यता थी।

गौतम बुद्ध के समय वैशाली और उसके आसपास की लिच्छवियो की जनतत्रात्मक सरकार की कहानी काफी प्रसिद्ध है। लिच्छवियो के लिए भगवान बुद्ध ने यह भविष्यवाणी की थी कि जब तक वे एक रहेगे उन्हे कोई हरा नही सकेगा। यहा तक कि गौतम बुद्ध भी एक ऐसे कुल मे पैदा हुए थे जो जनतत्र था—शाक्य कुल। जिसके प्रधान उनके पिता शुद्धोधन थे। शुद्धोधन 'राजा' रहे हो यह निश्चित नही है। यद्यपि उन्हे राजा वर्णित किया जाता है। किंतु इतिहासकारो का मानना है कि शब्द 'राजा' या 'राजन्' उसी अर्थो मे नही प्रयुक्त होता था जिस अर्थ मे राजा (नरेश) शब्द प्रयोग होता है। उस समय भारत मे विशेषतया उस क्षेत्र मे नही, जहा भगवान बुद्ध उत्पन्न हुए, जहा उन्होने ज्ञान प्राप्त किया और जहा प्रथम धर्मोपदेश दिया अर्थात् कपिलवस्तु लुम्बनी मगध और सारनाथ मे भिक्षुओ के सघ थे। जो लोकतात्रिक प्रणाली पर चलते थे। भगवान बुद्ध ने भी सघ को सबसे ऊचा दर्जा दिया था। ईसा से पूर्व भारत के पश्चिमोत्तर भाग मे शिवि तथा मल्ल जातियो के गणतत्र विद्यमान थे जिनके प्रबल विरोध का सामना सिकदर को पजाब मे सहना पडा था, जिसके कारण उसकी सेना को आगे बढने की हिम्मत नही हुई। इस प्रकार गणतत्र की अवधारणा भारतीयो के लिए विदेशी नही है। जिस समय ग्रीस मे गणतत्र या प्रजातन्त्र की सरकारे थी उस समय या उससे पहले मे भारत मे गणतत्रात्मक सरकारे थी। हम जानते ही हैं कि प्रजातत्र के लिए अभिव्यक्ति और जानकारी प्राप्त करने की स्वतत्रता आवश्यक होती है। निर्णयो पर आने के लिए खुली बहस सभी के अनुभवो और विचारो को बिना वर्ग अथवा धर्ममत के आधार पर भेदभाव किये, बराबर महत्त्व तथा व्यक्ति की गरिमा को महत्त्व देना प्रजातत्र का गुण है तथा प्रजातत्र और धर्मनिरपेक्षता एक-दूसरे के पूरक होते हैं।

भारतीय राजनीतिक विचारो के इतिहास के आरभिक काल मे ही प्रयवारो ने विद्या की एक ऐसी स्वतत्र शाखा का निर्माण किया था, जिसमे राज्यो की प्राप्ति और उनके सरक्षण का अथवा शासन-कला का विशिष्ट विवेचन है तथा धीरे-धीरे इसमे समृद्ध और सशक्त साहित्य आकर जुडता गया। परपरागत भारतीय विद्याओ की सूची मे कभी तो चार विद्याओ को सम्मिलित किया गया था, कभी अठारह, तो कभी बत्तीस विषयो को। किंतु प्रत्येक सूची मे कुछ धर्मनिरपेक्ष विषयो को हमेशा सम्मिलित किया गया था।

प्रथम सूची के अतर्गत राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र समाविष्ट थे द्वितीय सूची मे चिकित्साशास्त्र, सैन्यविज्ञान संगीतशास्त्र और राजनीतिशास्त्र सम्मिलित किये गये थे और अतिम सूची म राजनीतिशास्त्र, कामशास्त्र, ललित कलाए तथा अन्य विद्याए शामिल की गयी थी। प्राचीन कालीन भारतीय विश्वविद्यालयो मे चौसठ ललित कलाओ की शिक्षा दी जाती थी। यहा तक कि अश्वशास्त्र तथा राजशास्त्र आदि विषयो पर भी साहित्य लिखा जा चुका था। इस प्रकार राजनीतिशास्त्र को विधाओ की सूची मे न केवल वेदो के समकक्ष दर्जा दिया गया था बल्कि आरभिक अर्थशास्त्र विचारधाराओ मे से दो ने वेदो की सूची स बाहर रखने की बात इस आधार पर कही कि ये सामारिक व्यक्तियो के लिए निरर्थक है तथा भारद्वाज ऋषि जैसे विद्वानो ने तो राजनीति के लिए सदाचार की हत्या उस सीमा तक कर दी जितना मैकियावेली ने भी नही किया तथा प्राचीन अर्थशास्त्र में कूटनीति की पराकाष्ठा कर दी है।

अर्थशास्त्र मे आचार्यो ने अतिम तथा महानतम आचार्य कौटिल्य ने विद्याओ मे वेदो को उचित स्थान प्रदान किया तथा राज्य प्रशासन मे धर्मविद्याओ को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया, किंतु उसने पुरोहिती शक्ति को राजकीय शक्ति के अधीन रखा।

अर्थशास्त्र कहता है

धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्र राजशासनम् ।
विवादार्थश्चतुष्पाद पश्चिम पूर्वबाधक ॥

अर्थात् वैदिक व्यवस्था के चार स्तभ होते हैं। आचार सहिता (व्यवहार) न्यायालयो द्वारा सुस्थापित— धर्मशास्त्र, चरित्र (इतिहास अथवा, विकल्पन सुस्थापित दीवानी विधि), राजशासन (राजा की आज्ञप्तिया) तथा प्रत्येक अपने से पूर्व पर सर्वोपरिता रखता है। इस प्रकार पवित्र ग्रथो के नियमो पर धर्मनिरपेक्ष सत्ता की आज्ञप्तिया अभिभावी होती थी। राजनीतिक और वैधिक समस्याओ के प्रति अर्थशास्त्र के पूर्णत धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण का पी बी गजेन्द्रगडकर ने बडी अच्छी तरह से वर्णन किया है।

'अर्थशास्त्र के 'धर्मीयियाम्' भाग म की गयी विवेचना विधिक इतिहास मे एकदम अद्वितीय है। यह विश्व मे एक आरभिक धर्मनिरपेक्ष सहिता होने का विधिसम्मत दावा कर सकता है और जिस उच्चस्तर पर वैधिक और न्यायिक सिद्धातो का विवेचन किया गया है, जिस परिशुद्धि के साथ विवरण दिये गये हैं तथा जिस पूर्णतया धर्मनिरपेक्ष वातावरण को यह सर्व अभिव्यक्ति प्रदान करता है, वे इसे विधिक साहित्यिक के इतिहास मे एक गर्व का स्थान प्रदान करते हैं। यह उस समय की देश की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थितियो पर पूर्ण प्रकाश डालता है। -इसमें कोई सदेह नही है कि यह एक ऐसे महान लेखक का ग्रथ है, जिसने पूर्णत धर्मनिरपेक्ष, वैधानिक और वस्तुनिष्ठ ढग स समस्याओ का अध्ययन किया है।'[36]

अर्थशास्त्र के अध्ययन मे यह ज्ञात होता है कि शासन कला के सबध मे मैकियावेली ने जो सोलहवी शताब्दी मे लिखा, कौटिल्य ने उसे कई शताब्दियो पूर्व लिख डाला था।

किंतु जहा मैकियावेली इटली को स्वतत्र कराने की भावना म प्रेरित था वही पर कौटिल्य की शिक्षाओ मे भावनाओ का कोई स्थान नहीं है बल्कि उसमे उसकी विलक्षण बुद्धि का परिचय अवश्य मिलता है। जहा 'राज्य के हित के लिए' मैकियावेली ने पद-पद पर नीति की हत्या की है, वही पर कौटिल्य ने नीति क विरुद्ध कार्य करने के अवसरो को कम-से-कम कर दिया है। उसन अपने नियमो मे बडे-बडे भूमि प्रदेशो को प्राप्त करन म इस बात पर जोर दिया है कि प्रजा के साथ सुदर तथा दया का वर्ताव करना चाहिए। अत यह बिना कहे नही रहा जा सकता कि कौटिल्य की राजनीति उसक यूरोपीय समकक्ष मैकियावेली की तुलना मे मानवीय मनोविज्ञान की इस गहराई तक पहुच गयी है, जहा तक मैकियावेली नही पहुच सका।[37]

बाद के लेखको मे 'वृहस्पति सूत्र' का लेखक प्रारंभिक अर्थशास्त्र की तरह मे केवल राजनीति को ही विद्या मानने को तैयार था जबकि 'नीतिवाक्यामृतम्' के जैन लेखक ने कौटिल्य की ही तरह वेदो को उचित महत्व दिया है।

ब्राह्मणीय स्मृतियो मे वर्णित राजधर्म की अवधारणा भी आरभ से ही इतनी लचीली थी कि इसमे अनेक धर्मनिरपेक्ष तत्त्वो को सम्मिलित किया जाता रहा। जैसा कि सामाजिक व्यवस्था के नियमो तथा राज्य के कानूनो के अनेक स्रोतो और उनकी व्याख्या मे तर्कनापरक सिद्धान्तो के प्रयोग राजा की सत्ता तथा दायित्वो के विभिन्न आधारो की अवधारणा तथा राज्य और समाज के हित मे सरकार के सिद्धान्तो एव नीतियो क व्यवस्थापन स स्पष्ट है। स्मृतियो के राजनीतिक विचारो के विकास का चरमोत्कर्ष हम मनु और 'महाभारत' मे भीष्म के विचारो मे मिलता है। इन विद्वानो ने सहमति के सिद्धात तथा अराजक प्रवृत्तियो को रोकने के लिए राजा की सत्ता के सिद्धात का अत्यधिक तर्कनापरक ढग मे वर्णन किया है। इनके अनुसार राजा राज्य का एक कर्मचारी है, जिसे रक्षा करने के लिए प्रजा कर देती है। जो शासक प्रजा-रक्षा म अयोग्य सिद्ध हो, वह भारस्वरूप है और प्रजा को चाहिए कि ऐसे शासक को अलग करके दूसरे योग्य शासक को स्वीकार करे। इन प्रयकारो ने राजनीति को साधारणत धर्मनीति क अनुसार व्यवहार करने का निर्देश किया है, किंतु राज्य के हित म वे इन सिद्धातो के व्यतिक्रम को भी क्षम्य मानते है। भीष्म ने शासन के मामलो म जहा एक तरफ नीति परायणता के सिद्धात पर बल दिया है वही दूसरी तरफ हिसा के प्रयोग के सिद्धान्त का भी तर्कनापरक वर्णन किया है। बाहरी शत्रु के विरुद्ध सकोचरहित कूटनीति और प्रकल्पित विश्वासघात सहित पूर्ण युद्ध का समर्थन करता है। जहा भीष्म ने शासन-कला के चार गुणो की गणना की है, सुप्रतिष्ठित धर्मनियम, प्रथा, तर्कबुद्धि वालाचितता वहीं दूसरी तरफ धर्मनियमो का अत्यधिक कडाई के साथ प्रयोग के विरुद्ध चेतावनी दी है, सकट के समय इनकी अवहेलना को उचित ठहराया है।

अत धर्मनिरपेक्ष राज्य की जो अवधारणा वर्तमान समय म अमरीका आदि पश्चिमी देशो मे विकसित हुई है, उसकी तुलना प्राचीन भारत की राजनीतिक व्यवस्था से करना अन्याय होगा। किंतु जिस प्रकार बौद्ध जैन तथा इस्लाम आदि धर्म हिंदू धर्म क साथ अस्तित्व मे रहे उनके अनुयायी अपने उपदेशो का स्वतंत्रतापूर्वक प्रचार करते रहे,

धर्म-स्थलो का निर्माण किये तथा अपने ढग का जीवन व्यतीत करते रहे। इससे स्पष्ट है कि एक धर्मनिरपेक्ष राज्य के लिए जो एक अत्यधिक आवश्यक तत्त्व धार्मिक स्वतत्रता और महिष्णुता है, वह प्राचीन काल मे कुछ अपवादो को छोडकर भारत मे सर्वत्र विद्यमान थी। हिंदू धर्म मे व्यावहारिक धरातल पर विद्यमान कुछ असगतियों को हम नकार नही सकते, किंतु ये उसकी सामान्य प्रवृत्ति कभी नही रही। यद्यपि वर्ण-व्यवस्था के आदर्शों को तिलाजलि सामाजिक वास्तविकता बन चुकी थी। इसम अनेक रूढियां और अधविश्वास विकसित हो गये थे। छुआछूत का विषैला जहर समाज के शरीर म फैल चुका था। बौद्ध तथा जैन धर्म के प्रति अत्याचारो के भी कुछ उदाहरण मिलते हैं। छठी शताब्दी मे एक हूण राजा मिहिरकुल ने मठो का ध्वस तथा भिक्षुओं का वध किया था। बगाल के एक कट्टर शैव राजा शशाक ने सातवी शताब्दी के प्रारभ मे कान्यकुब्ज पर अपने आक्रमण के समय गया के बोधिवृक्ष को लगभग सपूर्ण नष्ट कर दिया। कई जैन मदिरो को भी कुछ राजाओ के द्वारा शैव मदिरो म बदला गया था। इसके बावजूद हिंदू धर्म की सामान्य प्रवृत्ति आक्रमण की नही, बल्कि निरतर आत्मसात् करने की रही। प्राचीन कालीन धर्म की अवधारणा दर्शन नैतिक दृष्टिकोण तथा धर्मनिरपेक्ष और आध्यात्मिक कार्यों का राज्य और पुरोहित के हाथो अलग-अलग निष्पादन होना आदि तत्त्व भारत को धर्मनिरपेक्ष वातावरण देने मे सफल रहे।

मध्यकाल

पीछे हम देख चुके हैं कि आदिकाल म भारत म धार्मिक सहिष्णुता का पालन किया जाता था। सामान्यत धर्म के मानन और आचरण करने की स्वतत्रता थी। इस भारतीय स्वभाव के कारण ही भारत म आने वाले दूसरी तरह के धार्मिक विचारों का स्वागत किया गया। ईसाई धर्म भारत मे 52 ईसवी मे आया। ऐसा माना जाता है कि अपॉसॅल सत थामस ने उन्नीस से भी ज्यादा शताब्दियो पूर्व केरल म आकर उपदश दिया था। इस्लाम भी अरब म उदय होने के बाद तुरत भारत मे पहुचा था। अरब लेखक अल-इशतकरी ने राष्ट्रकूट राज्य के नगरो के मुसलमानो और मस्जिदो का वर्णन दसवी शताब्दी मे किया था। तमिलनाडु के कुछ मुस्लिम समुदाय जैसे रवुत्तन और लब्बे भारत म इस्लाम के आरभिक आगमन को दर्शाते हैं। तिरुचिरापल्ली मे नायड वली का मकबरा 417 ए एच दर्शाता है। आठवी शताब्दी मे पश्चिमी तट पर पारसियो ने शरण मागी थी और उन्हे दी गयी थी। जबकि यहूदी धर्म को भारतीय धरती पर उसम पहले स्थान मिल चुका था। ध्यान देने योग्य बात है कि इन धर्मों को चाहे वे ईसाई हो या इस्लाम पारसी हो या यहूदी, यहा स्थान सैनिक विजय के कारण नही मिला था, बल्कि स्थानीय अधिकारियो, यहा तक कि प्रमुख धार्मिक अधिकारियो की सहअस्तित्व और उदारता की भावना के कारण मिला था। लोग यहा आकर स्वतत्रतापूर्वक अपने धर्म का प्रचार प्रसार किये।

छठी से आठवीं शताब्दी के बीच हूण तुर्क, मुगलो, ईरानी और अफगान आदि विदेशी लोग बाहर से आकर भारत के लोगो म घुल-मिल गये। यहा के अनेक मूल

निवासी भी इसी समय साधारण स्थिति स उठकर नये राजवशो के प्रवर्तक बन गये। अनेक अपने को राजपूत कहने लग। राजपूत काल मे प्रशासन व्यवस्था सामती ढाचा अपनाती जा रही थी । इस दौरान वर्णाश्रम व्यवस्था के ढाचे मे सख्ती आती गयी। राजपूत काल म वर्ण व्यवस्था का जो आदर्श प्राचीन काल मे था वह लुप्त होने लगा *अनेकता मे एकता के आदर्श को विभेद और अस्पृश्यता का कोढ लग गया।* विभिन्न जातिया अपने-अपने दायरो मे सीमित हो एक-दूसरे से अलग हो गयी जातियो मे बहुत-सी उपजातिया बन गयी। जातीयता की भावना तीव्र होने लगी। हिंदू समाज कई जातियो और उपजातियो का समूह मात्र रह गया। हिंदू धर्म मे अनुदारता पनपने लगी। स्त्रियो की हालत तथा शूद्रो का दर्जा दिन प्रति-दिन गिरने लगा । जाति पाति और *छुआछूत म वृद्धि होने लगी। कर्मकाड और मूर्तिपूजा का प्रचलन धुआधार बढने लगा।* तान्त्रिको भैरवो, गाणपत्यो कापालिको और पाशुपतो के पाखड वामाचार और व्यभिचार आदि अपनी सफलता की दुदुभी बजाने लगे। ऐसे समय मे दक्षिणी भारत मे ऊचे विचारो और आदर्शों की लहर उमडी । दक्षिणी भारत के शैव आडियार और वैष्णव आलवार और वेदाती विचारको ने भक्ति और ज्ञान की वह अजस्र धारा प्रवाहित *की जिसका स्वाद अमृत था जिसकी मिठास कभी खत्म नही होगी जिसम हिंदू समाज* आने वाले असख्य वर्षों तक अवगाहन करता रहेगा मानस की विह्वलता अशाति और पीडा को शात करता रहेगा। शकराचार्य (688 720) आदि मनीषियो ने हिंदू धर्म म एक नयी वैचारिक क्राति का उद्घोष किया अनेक धूर्तताओ को समाज म समूल उखाड फेका हिंदुत्व को प्राणवान बनाने के लिए शुद्ध वातावरण देने का प्रयास किया। शकराचार्य न *वेदात को ब्राह्मणो के साथ-साथ शूद्रो तथा स्त्रियो के लिए भी उपादेय बनाया। उन्होने* अपनी विचारधारा मे रूढिवादिता और अधविश्वासो का कोई स्थान न देकर सामाजिक विषमताओ को दूर कर एक समतावादी समाज की स्थापना का समर्थन किया तथा धार्मिक सकीर्णताओ पर घोर प्रहार किया। वे एक ऐसे क्षितिज थे जहा ज्ञान और भक्ति का अद्भुत समन्वय हुआ। किंतु जब मुहम्मद गौरी के सहायको ने गगा की घाटी पर विजय प्राप्त की तथा 1206 ई॰ मे दिल्ली म मुस्लिम सल्तनत की स्थापना की तो उस समय हिंदू धर्म और सस्कृति के अनेक मूल्यो को घोर चुनौतियो का सामना करना पडा। इस दौरान हिंदू समाज म कट्टरता को और अधिक बढावा मिला। अपने धर्म तथा सस्कृति की बर्बरो से रक्षा करने के लिए हिंदुओ ने अपने जीवन के जटिल नियमो को और *भी अधिक दृढता एव कठोरता से लागू करना आरभ कर दिया।* मुस्लिम आक्रमणकर्ताओ ने अनेक अत्याचार किये अनेक मदिरो को धराशायी कर दिया यहा तक कि कुछ मदिरो मे मूर्तियो पर गाय के सिरो की मालाए चढायी गयी। अनेक हिंदुओ को धर्म परिवर्तन के लिए बाध्य किया गया, जोर जबरदस्ती से राज्याश्रय के लोभ से *तथा इस्लाम के प्रचारको के प्रचार से भारत मे इस्लाम का बडी तेजी स विस्तार हुआ।* हिंदू समाज म निहित सामाजिक उत्पीडन, इस्लाम के आध्यात्मिक आक्रमण मे अत्यधिक सहायक रहा।

इस्लाम धर्म सातवी शताब्दी म उद्भूत हुआ। यह मौलिक एकेश्वरवाद, विश्व

भ्रातृत्व, सार्वजनिक समानता और सामाजिक वर्गहीनता के आदर्शों पर आधारित है। इसमें पैगबरो की एक लबी शृखला है जिनके द्वारा अल्लाह की वाणी मनुष्यों तक पहुची है । इसके अतिम और महानतम् पैगबर मुहम्मद माने जाते हैं। 'कुरान' इसकी धार्मिक पुस्तक है, जिसमे अल्लाह की सूक्तियों और उपदेशो का सकलन है । अल्लाह की आराधना के निमित्त प्रतिदिन नमाज पढ़ी जाती है। इसमे एक 'परम व्यक्तिगत सत्य' का दर्शन विद्यमान है तथा यह ईश्वर को मनुष्य से अलग मानता है । कुरान के अनुसार इस्लाम के तीन अग हैं

1 ईमान अर्थात् अल्लाह, उसके फरिश्तो पैगबरो और निर्णय दिवस मे श्रद्धा करना ।
2 इबादत—इसके पाच अरकान (स्तभ) हैं— शहादा सलाह जकात, रोज़ा और हज्ज। खारिजी नामक मुस्लिम दल के अनुसार 'जिहाद' इबादत का छठा स्तभ है ।
3 इहसान—कुरान के अनुसार अच्छे काम करना और बुरे कामो से बचना । सबसे श्रेष्ठ काम इल्म और अमल द्वारा भगवान के प्रति आत्मसमर्पण करना है ।

यह सत्य बोलने वायदो को पूरा करने, अमानत में पूरे उतरने बदचलनी से बचने, किसी पर बुरी दृष्टि न डालने और अत्याचार न करने की शिक्षा देता है। इसमे ईसा के सलीब पर चढ़ाये जाने के समतुल्य अली हसन और हुसेन की शहादत मनाते हैं जो सियाओ द्वारा देवत्व के अवतार माने जाते हैं। सबसे बड़ा कर्तव्य है, अल्लाह की मरज़ी मानना और उसकी मरज़ी के आगे झुक जाने वाले मुसलमान हैं जिसको इस्लाम का प्रचार करना और दूसरो को मुसलमान बनाना चाहिए। यही 'जेहाद' का औचित्य है । कलमा न पढ़ने वाले हर आदमी को मुसलमान अपना दुश्मन समझते हैं। यद्यपि आरभ में इस्लाम असहिष्णु नही था । उसने स्वीकार किया था कि यहूदियो और ईसाइयो को देववाणी का कुछ अश प्राप्त हुआ था किंतु ग्यारहवी शताब्दी के अत मे आरभ हुए धर्मयुद्धो के दौरान ईसाई धर्म योद्धाओ की क्रूर असहिष्णुता के उत्तर मे मुसलमानो म भी असहिष्णुता बढ़ने लगी ।[38]

मध्यकाल मे जहा हिंदू धर्म जन्म को सामाजिक स्तर विन्यास की कसौटी मानता था जहा उसका कोई एक केंद्र नही था कोई एक चर्च नही थी और न ही कोई एक धर्मग्रथ था तथा जहा यह सहअस्तित्व और धर्म न परिवर्तन करने म विश्वास करता था वही पर इस्लाम सामुदायिक एकता और भ्रातृत्व की नीव पर खड़ा था, जो एक प्रयतमान तथा धर्म प्रचार करने वाला धर्म था । इस्लाम के धार्मिक तथा तात्त्विक सिद्धात हिंदुत्व के सिद्धातो के बिलकुल विपरीत थे । परिणामत हिंदुत्व को महान चुनौतियो का सामना करना पड़ा । यद्यपि इसस पहले हिंदुत्व ने हूण, शक आदि बर्बर जातियो के झुडो को, जिनके पास अपनी कोई विकसित सस्कृति नही थी, अपने मे समाहित कर लिया । इन जातियो का सास्कृतीकरण हुआ । किंतु इस्लाम के सबध मे समस्या अब उन लोगो को सम्मिलित करने की थी, जो अपनी पृथक् पहचान का बलिदान

करने को तैयार नही थे, साथ ही इस्लाम मुस्लिम विजेताओ का धर्म था। इस कारण मे सस्कृतीकरण के माध्यम से समन्वय नही किया जा सका। दूसरी तरफ मुस्लिम शासको के समक्ष यह समस्या थी कि उनकी जो बहुसख्यक प्रजा इस्लाम धर्म का पालन नही करती तथा जिसे वे अपनी मुस्लिम विधि के अनुसार नागरिक के रूप मे नही स्वीकार कर सकते थे, उनके साथ वे किस प्रकार का व्यवहार करे। इसके लिए हिंदू धर्म के प्रति मुस्लिम शासको ने दमनकारी दृष्टिकोण अपनाया, अनेक हिंदुओं को इस्लाम मे बलपूर्वक परिवर्तित किया गया, अनेक मदिरो को अपवित्र किया गया अनेक को तोड डाला गया जजिया, यात्री कर आदि विशिष्ट करो को हिंदुओं पर थोपा गया तथा उनके साथ दूसरे दर्जे का नागरिक जैसा व्यवहार किया गया।

दिल्ली सल्तनत के पूरे काल मे इस्लाम को राजधर्म का स्थान दिया गया था। सुल्तान तथा उसकी सरकार का कर्तव्य उसके सिद्धातो की रक्षा करना तथा जनता मे उसका प्रचार करना समझा जाता था। फिरोज तुगलक तथा सिकदर लोदी जैसे सुलतानो ने अपने इस कर्तव्य को बखूबी निभाया। इन शासको ने राज्य की मशीनरी और धन का धुआधार प्रयोग किया। सुलतानो द्वारा हिंदू धर्म के प्रति किये गये अत्याचारो से इतिहास के पन्ने भरे पडे हैं। मुगल शासक बाबर, यद्यपि अत्यधिक दयालु दानी करुण-हृदय, सहानुभूति रखने वाला, सरल योद्धा, बुद्धिमान तथा विद्वान था फिर भी इस्लाम के सिद्धातो मे उसका दृढ विश्वास था। वह हिंदुओ को काफिर मानता था। विभिन्न वर्गो के मुसलमानो का सहयोग प्राप्त करने के लिए उसने दो बार जेहाद की गोहार लगायी तथा एक अवसर पर उसने मुसलमानो को बाज-ओ-तम्गा अदा करने से मुक्त किया था। उसने सरकारी नौकरियो मे गैर-मुसलमानो के लिए द्वार खोल दिया हो इसका कोई प्रमाण नही मिलता। बाद के शासको ने भी लगभग इसी प्रकार की नीति अपनायी थी किंतु सम्राट् अकबर ने भारत के अधिकाश भागो को जीतने के बाद यहा के लोगो का दिल-दिमाग जीतना अपना लक्ष्य बनाया। उसकी नीति बिलकुल अलग थी। अकबर ने पूर्ण सहनशीलता तथा धार्मिक और आध्यात्मिक आदोलनो के प्रति वास्तविक सहानुभूति की नीति अपनायी थी। वह सब धर्मों के आचार्यो से बात करते और उनके सिद्धातो मे रुचि रखते थे। उसने एक 'इबादत खाना' का निर्माण सन् 1575 मे करवाया, जिसमे इस्लाम के अतिरिक्त ईसाई, पारसी हिंदू, जैन आदि धर्मों के धर्मशास्त्रियों विधिज्ञाताओं तथा रहस्यवादियो और धर्म मे न आस्था रखने वाले विद्वानो को भी आमत्रित करता था। हालाकि यह असफल रहा अतत 1582 मे इसे बद करना पडा। उसने समस्त धार्मिक परीक्षाए तथा अक्षमताए समाप्त कर दी थी तथा दमनकारी तरीको पर रोक लगा दी, इस्लाम धर्म न मानने वालो पर लगाया जाने वाला घृणित जजिया कर तीर्थ यात्री कर तथा अन्य विशेष करो को समाप्त कर दिया। उसने मुसलमान बनाये गये हिंदुओ को फिर से शुद्ध होने की स्वतत्रता दी कई सस्कृत ग्रथो का फारसी भाषा मे अनुवाद करवाया। हिंदू मेलों और उत्सवो मे भाग लेता था तथा उसके शासनकाल मे रक्षाबधन राष्ट्रीय उत्सव के रूप मे मनाया जाता था। हिंदुओ के मनोभावो का अत्यधिक सम्मान करता था। राज्य की सरकारी नौकरियो का द्वार सभी

के लिए खोलकर अपने साम्राज्य मे विजेता और विजित को समान राजनीतिक धरातल पर ला खडा किया। विभिन्न धार्मिक समुदायो के मध्य निकट सामाजिक सबधो तथा पारस्परिक महानुभूतिपूर्ण समझ को अनेक प्रकार से बढाने का प्रयास किया। स्वय सम्राट् ने अपने उदाहरण द्वारा अतर्साप्रदायिक विवाहो को प्रोत्साहन दिया।

अधानुयायियो और दुराग्रहियो के लिए उसके हृदय मे कोई स्थान नहीं था। उसने किसी विशेष विचारधारा के साथ तादात्म्य नही स्थापित किया। कई सामाजिक सुधारो को अपनाया 16 वर्ष से कम के लडको और 14 वर्ष से कम की लडकियो के विवाहो को अवैध घोषित किया यदि पत्नी वध्या न हो तो उसके जीवित रहने अन्य पत्नी न रखने का कानून बनाया विधवा विवाह की इजाजत दी और स्त्री की इच्छा के विपरीत उसे सती होने पर विवश करने की रोकथाम की। राजकाज मे हिंदुओ और मुसलमानो मे कोई भेद नही समझा। किंतु वह व्यक्ति के धार्मिक जीवन को धर्मनिरपेक्षता से अलग करके देखने को उचित नही मानता था उसके अनुसार व्यक्ति प्रत्येक कार्य के लिए ईश्वर के प्रति उत्तरदायी होता है। वह सर्वदा ईश्वर की इच्छा को जानने और उसके अनुसार कार्य करने का प्रयास करता था। प्रत्येक कार्य को अनत वह धार्मिक मानता था। वह यह विश्वास करता था कि परमसत्य किसी एक धर्म का एकाधिकार नही है सभी धर्म सद्गुणो पर बल देते हैं तथा सबका उद्देश्य एक है—परम सत्य। वह हर धर्म की अच्छी बातो को ग्रहण करने और बुरी बातो को छोडने मे विश्वास करते थे। अकबर ने अपने आध्यात्मिक निर्देशनो को मानने के इच्छुक लोगो को एकसाथ लाने के लिए उनमे धार्मिक सहिष्णुता की भावना और कार्य करने के सिद्धात की प्रेरणा देने के लिए दीन-ए-इलाही सप्रदाय व्यवस्था या समाज की स्थापना की। जो एक विशिष्ट विचार-पद्धति और आचार-सहिता पर चलने वाले लोगो का दल बन गया था। यह कोई नया धर्म नही था, जिसका ज़ोर-शोर से प्रचार किया गया हो अथवा बलपूर्वक लोगो को मानने पर मजबूर किया गया हो। यद्यपि अकबर ने धार्मिक सहिष्णुता तथा स्वतत्रता की नीति अपनायी लेकिन हम उसकी व्यवस्था को धर्मनिरपेक्ष कदापि नही कह सकते। उसने जो कुछ किया, एक विशुद्ध धार्मिक व्यक्ति होने के नाते किया तथा राजनीतिक लाभो के लिए किया। वास्तविक रूप से उसकी इन नीतियो का नकारात्मक परिणाम ही रहा, सभी धर्मो के सहअस्तित्व को और कठिन बना दिया। विभिन्न धर्मों के विद्वानों को आपस की बहसे आपस मे एक-दूसरे को करीब लाने के बजाय एक-दूसरे के धर्मों के सिद्धातो को समझने और उसका मूल्याकन करने के बजाय एक-दूसरे के दृष्टिकोणो की सराहना करने के बजाय, उनकी बहस एक-दूसरे को नीचा दिखाने के लिए, अपने धर्म को दूसरो से ऊचा दिखाने के लिए दूसरे धर्मो की बुराइयो को उछाला गया, छिद्रान्वेषण किया गया। इसके कारण धर्मनिरपेक्ष वातावरण के विकास के बजाय धार्मिक कट्टरवादिता का विकास हुआ।

अकबर की यह उदार नीति उसके मृत्यु के बाद नहीं चल सकी। अकबर के उत्तराधिकारी जहागीर के राजत्वकाल मे ही सहनशीलता की इमारत ढहने लगी थी। यद्यपि उसने हिंदुओ पर जजिया जैसे कर फिर से लागू नही किये, लेकिन इस्लामी

कट्टरपंथियो को शात करने के लिए उसने अनेक ऐसे कदम उठाये, जो अकबर के उदारवादी *सिद्धान्तो के बिलकुल विपरीत थे।* उसके राज्यकाल मे अनेक प्रकार के धार्मिक उत्पीडन किये गये। सिख गुरु अर्जन सिंह तथा जैनो के साथ उसका घृणित व्यवहार, इन पथो के प्रति उसके वीभत्स दृष्टिकोण का परिणाम था। उसने अपनी कागडा विजय का उत्सव सार्वजनिक रूप से विधिवत गाय की बलि देकर मनाया था। उसी के आदेश पर अजमेर मे पुष्कर के समीप कई मदिरो को अपवित्र किया गया तथा *तोडा गया। उसके पुत्र शाहजहा के राज्यकाल के आरभ मे फिर कट्टरता ने ज़ोर पकडा।* अनेक मदिरो को ध्वस्त किया गया, केवल बनारस मे ही 76 मदिरो को धराशायी कर दिया गया था। किंतु बाद मे चलकर उसके धर्मांधता मे कमी आयी तथा उसने मदिरो एव धर्म-परिवर्तन के मामलो मे हस्तक्षेप न करने की नीति अपनायी। हिंदू धार्मिक भाव *की वीथिकाओ मे विकसित प्रेरणा स्रोत—पुष्पावलियो का दमन, सहिष्णुता के अकुरो का उन्मूलन, समन्वय एव सहअस्तित्व के वृक्षो की जडो का उत्खनन,* जितना अकबर के प्रपौत्र औरगजेब के काल मे हुआ उतना किसी भी मुगल शासक के काल मे नहीं हुआ। उसके काल मे इस्लाम की तूती बोलने लगी उसकी क्रूर बर्बरशाही मे हिंदू सस्कारो के स्वच्छद आचरण पर प्रतिबध लगा दिया गया और उसके दरबार मे कट्टर मुसलमानो का *बोलबाला हो गया। उसने शरीयत के सिद्धातो को अपने शासन का आधार घोषित* किया। उसने धार्मिक स्वतत्रता को अपनी धर्मांधता की वेदी पर बलि चढा दी। अमुस्लिमो पर जजिया लगा दिया अनेक हिंदू मदिरो को ध्वस करा दिया तथा बलात् धर्म परिवर्तन करवाया। अनेक हिंदू उत्सवो पर रोक लगा दी। औरगजेब के इन *अत्याचारो के लिए जितनी उसकी हिंदू विरोधी धर्मांधता उत्तरदायी थी* उतनी ही उत्तरदायी उसकी विकृत राजनीतिक महत्त्वाकाक्षाए थी। मराठो जाटो और राजपूतो के बढते प्रभावो मे उसकी नीद हराम हो गयी थी शिवाजी के नेतृत्व मे मराठो द्वारा मुगल सेना को बार-बार अपमानजनक पराजय का मुह देखना पडा तथा उत्तरी भारत मे अनेक हिंदू विद्रोहो से भी उसे जूझना पडा। सरकारी अफसरो जागीरदारो *अजारादारो, सूबेदारो और उनके कारिदो और पिछलग्गो की सख्ती जुल्म सितम और* बेइसाफी के कारण किसानो का शोषण बढता जा रहा था चारो ओर भुखमरी दरिद्रता का प्रकोप बढता जा रहा था। ऐसे अवसर पर औरगजेब ने धर्म का सहारा लिया युद्धो को सुविधा के लिए जेहाद की सज्ञा दी गयी हिंदुओ के राजनीतिक विजयो को इस्लाम *का अपमान घोषित किया गया हिंदू शासको के साथ झगडो को इस्लाम और कुफ्र के बीच* सघर्ष का रूप प्रदान किया गया। तथा हिंदू जनता को उनकी पराजय का अहसास और गहरा कराने के लिए और उनकी धार्मिक भावनाओ को ठेस पहुचाने के लिए गोहत्या आदि परपराओ का निर्वाह करने मे कोई कसर नही छोडी। औरगजेब की धार्मिक *नीतियो का हिंदुओ मे काफी विरोध हुआ। मुख्य विरोध शिवाजी के नेतृत्व मे हुआ।* मराठा सरदार शिवाजी एक देदीप्यमान नेता योद्धा न्यायप्रिय कुशल प्रशासक तथा एक पूर्ण दक्ष राजनीतिज्ञ होते हुए भी धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना नही कर सके। यद्यपि उनका राज्य एक हिंदू साम्राज्य था तथापि वे विरोधियो के धर्मों का आदर करते थे।

सपूर्ण मध्यकाल मे राज्य के धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष कार्यों मे कोई पृथक्करण नहीं था। दोनो कार्य शासक के हाथो मे केंद्रित होते थे, नयी मस्जिदो और मदरसों का निर्माण, पुराना रख-रखाव, धर्माधिकारियों को सरक्षण देना और धार्मिक पदो पर नियुक्तियां आदि शासकों के समुचित कार्य समझे जाते थे। एक अच्छे शासक का कर्तव्य समझा जाता था कि वह ऐसी व्यवस्था बनायेगा जिसमे मनुष्य सुविधापूर्वक उन सब कर्तव्यों का पालन कर सकेगा जो कुरान मे निदित हैं। प्रत्येक शासक से यह उम्मीद की जाती थी कि वह दारुल इस्लाम (मुसलमानो की दुनिया) को बढायेगा और दारुल हर्ब को घटायेगा, इस्लाम-धर्म का प्रचार उसका मुख्य कर्तव्य माना जाता था। आवश्यकता पडने पर शक्ति का प्रयोग किया जा सकता था। शासकों की सफलता और असफलता के मापदड इस्लाम के नैतिक नियम थे। तुर्कों के साथ भारत के इस्लाम का जो सामाजिक ढाचा आया था, उसमे भी काफी परिवर्तन आता गया। मुस्लिम समाज के उच्च स्तरो को निम्नवर्गों की घुसपैठ से सुरक्षित कर दिया गया था। नस्ल व जन्म के आधार पर सामाजिक प्रतिष्ठा और सत्ता का वितरण किया जाता। पूरे मध्यकाल मे ऊंचे राजकीय पदो पर उन मुसलमानो के लिए पहुचना मुश्किल था जिनमे विदेशी रक्त नही था और हिंदुओ के लिए तो अत्यधिक मुश्किल होती थी। दूसरी तरफ उलमा और मौलवी भी गैर मुस्लिमों के विरुद्ध मुसलमानों को सगठित करने मे लगे थे। उनका उपदेश होता था कि कुफ्र और काफिरो को बिलकुल नष्ट किया जाये और अगर ऐसा न किया जा सके तो उन्हे बदनाम, बेइज्जत और भयभीत किया जाये जिसमे वे चैन से न रह सके, मुसलमानो की शरीयत के अनुसार चलने पर मजबूर किया जाये।

पूरे मध्यकाल का शिक्षा-परिवेश धार्मिक था। ब्राह्मणो, बौद्ध भिक्षुओं, जैन मुनियो, मुल्लाओ और मौलवियों का शिक्षा पर एकाधिकार था। पाठशालाओं और मदरसों मे मूलत धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था थी। ये पाठशालाए तथा मदरसे मदिरो और मस्जिदो में खोली जाती थीं। सामान्यत मध्यकालीन परिवेश ऐसी धरती नही दे सका, जिसमे धर्मनिरपेक्ष मूल्यों का विकास हो सकता किंतु कुछ शासकों ने धार्मिक सहिष्णुता तथा आपसी सद्भाव को विकसित करने का सराहनीय प्रयास किया।

यद्यपि मध्यकाल मे भारत मे सैद्धातिक रूप से धर्मतंत्र था, किन्तु वास्तविकता यह थी कि ये शासन निरकुशतत्र थे। उलेमाओ को राज्य मे नियुक्त किया जाता था उन्हे वेतन दिया जाता था किंतु उनका प्राय कोई महत्त्वपूर्ण नियत्रण मुस्लिम राजाओ पर नहीं होता था। अलाउद्दीन खिलजी तथा मुहम्मद बिन तुगलक पर उलेमा का प्रभाव नहीं के बराबर था। विशेषकर अलाउद्दीन खिलजी, चाहे राज्य का मामला हो या उनके निजी जीवन का मामला हो मुस्लिम विधि को बहुत ही कम महत्त्व देता था। वह उलेमाओ को बिना महत्त्व दिये हुए जो राज्य या प्रजा के हित म होता था या जो विशष परिस्थितियो के अनुकूल होता था, वही करता था। जिन तुर्कों ने साम्राज्य स्थापित किया, वे लगभग 1200 सिपाहियों को अपने साथ लाये थे जिनके लिए सभव नही था कि सभी स्तर पर प्रशासनिक पदो को सभाल ले। इस कारण नीचे के स्तर पर सभी प्रशासनिक पद हिंदुओ के हाथ मे रहे। तथा

धीरे-धीरे हिंदू प्रशासक शासक वर्ग के अभिन्न अग बन गये ।

मुस्लिम शासको ने प्राय हिंदुओ की निजी पूजा-पाठ मे दखल नहीं किया और न ही हर स्तर पर दखल करना उनके लिए सभव था । यहा तक कि कई राजाओ ने दूसरे धर्मों के अनुयायियो के धार्मिक स्थनो को बनाने मे मदद की तथा उन्हे अनुदान देते रहे । अनेक ने अतर्जातीय विवाह भी किया । फिरोजशाह तुगलक, गयासुद्दीन तुगलक और जहागीर हिंदू मा की सतान थे । अकबर और जहागीर के पास हिंदू औरते थीं । इस प्रकार जहा मध्यकाल मे एक तरफ धार्मिक असहिष्णुता का माहौल था, वहीं पर कुछ शासको ने विभिन्न समुदायो के बीच आपसी सद्‌भाव को स्थापित करने के अनेक कदम उठाये ।

हिंदुओ मे छुआछूत का कैसर बढता चला जा रहा था । शूद्र वर्ण का द्विजो के बीच मे रहना वर्जित था, यहा तक कि वे ब्राह्मण-बस्तियो की सडको को नहीं पार कर सकते थे । कुए से पानी भरने पर छूत लग जाता । साथ मे बैठना, बर्तन छूना तो दूर रहा, परछाईं तक पड जाने पर उच्च वर्ण के लोग अपवित्र हो जाते थे । मंदिरो मे प्रवेश की बिलकुल मनाही होती थी । उन्हे दासो की तरह देखा जाता था और उनके साथ कठोर व्यवहार किया जाता था । दूसरी तरफ समाज मे हो रहे इन अत्याचारो और अन्यायो के विरुद्ध सिद्ध परपरा के सतो द्वारा आवाज भी उठायी गयी तथा ऊच-नीच के भेद का खडन किया गया । इन परपराओ मे देश के सभी भागो, सभी वर्गों और सभी जातियो के लोग शामिल हुए । दक्षिणी भारत मे रामानुजाचार्य ने शकराचार्य के अद्वैत को लोक सहज बनाकर, पारस्परिक प्रीति एव मैत्री पर आधारित विशिष्टाद्वैत के प्रचार द्वारा सामाजिक विषमताओ और धार्मिक सकीर्णताओ को दूर करने के लिए देशव्यापी आदोलन का सिंहनाद किया ।

रामानद, कबीर, रामदास, दादू, तुकाराम, तुलसीदास, नानक और चैतन्य आदि सतो ने सार्वभौम मानवता और प्रेम के आधार पर लोक धर्म और सस्कृति के समस्त सूत्रो को एक कडी मे पिरोने का प्रयास किया । इन लोगो ने सामाजिक रूढियो का खडन किया, लौकिक विषमताओ का विरोध किया, भौतिक भेदभाव की निंदा की और सदाचार, मन का सयम और हृदय मे भक्ति तथा प्रेम जाग्रत करने का रास्ता दिखाया । आचार्य रामानद (1299-1410 ई) ने सर्वधर्म समन्वय का ऐसा अभियान चलाया, जिसमे सभी जातियो, मतो, धर्मों, वर्णों, वर्गो के लोग शामिल हुए । उन्होने एक तरफ हिंदुओ के कर्म-काडवाद तथा पुजारीवाद का खडन किया । तो दूसरी तरफ इस्लाम की सकीर्णताओ तथा धर्मांधताओ पर तीखा प्रहार किया, उन्होने एक तरफ हिंदुओ और मुसलमानो को करीब लाने का प्रयास किया, तो दूसरी तरफ द्विजो, शूद्रो और स्त्रियो को धार्मिक समानता के धरातल पर लाने का प्रयास किया ।

गुरु नानक ने समस्त पृथ्वी को एक पवित्र स्थान माना और उसके सब निवासियो को समान माना । उनके अनुसार जो कोई सत्य से प्रेम करता है, वही पवित्र है । भगवान सत्यरूप है । अत सत्य के आग्रह और अच्छे आचरण से मनुष्य उस तक पहुच सकता है । धर्मों के बाहरी आडबर और उपचार बेकार हैं । उन्होने कहा

अव्वल अल्ला नूर उपाया, कुदरत के सब बन्दे ।
एक नूर ते सब जग उपज्या कौन भले को मदे ।।

उन्होंने मनुष्य को सब भेदभाव भूलकर ईमानदारी और नेक नीति से अपना काम करने की सलाह दी। आगे चलकर गुरु गोविंद सिंह ने सिख धर्म के धर्मनिरपेक्ष आदर्श को और स्पष्ट किया है

देहुरा मसीत सोई, पूजा औ नमाज ओई,
मानस सभै ऐक पै अनेक को प्रभाव है ।
अलह अभेख सोई, पुरान औ कुरान ओई,
ए ऐक ही सरूप सभै, एक ही बनाव है ।

इसी भक्ति आदोलन से प्रभावित होकर सम्राट् अकबर ने हिंदू और मुसलमान विश्वासो मे समझौता कराने की कोशिश की। इस दिशा मे दाराशिकोह का प्रयास भी अत्यधिक सराहनीय रहा। उसने एक ग्रंथ मे यह सिद्ध किया कि हिंदू और मुसलमान मतो मे अतर केवल भाषा और शैली का है। किसी भी समुदाय की धार्मिक सहिष्णुता का पता तो तब चलता है जब राजनीतिक सत्ता उसके हाथ मे हो। सिख धर्म महाराजा रणजीत सिंह के समय मे शासक का धर्म था किंतु महाराजा रणजीत सिंह ने पजाब राज्य की स्थापना की थी, न कि सिख राज्य की। हिंदुओ और मुसलमानो को उन्होंने समान रूप से धार्मिक स्वतत्रता प्रदान की थी। उन्होंने सरकारी नियुक्तियो मे किसी प्रकार का धर्म के आधार पर भेदभाव नहीं किया। विदेश मत्री फ़कीर अजीजुद्दीन उनके विश्वस्त सलाहकारो मे से एक थे। उनकी प्रिय रानियो मे से दो मुस्लिम थी, जो विवाहोपरात अपने धार्मिक विश्वास को अपनाये रहीं। उनके मृत्यु उपरात उनके दाह सस्कार के समय हिंदू, मुसलमान और सिखो ने प्रार्थनाएं की थीं। इस प्रकार महाराजा रणजीत सिंह ने सर्वधर्म समभाव का एक आदर्श रखा था। निश्चय ही इससे भारत मे सास्कृतिक समन्वय बडी तीव्र गति से हुआ। हिंदू और मुसलमान दोनो के वस्त्र, आचार-व्यवहार और विचारो मे काफी समानता आयी। सगीत और स्थापत्य, चित्रकला और नृत्य मे दोनो के विचारो का उत्कृष्ट समन्वय हुआ।

भारत की सबसे बडी विशिष्टता यह रही है कि शासक आये और चले गये लेकिन गावो का सामाजिक तथा सास्कृतिक ढाचा हर तरह के राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तनो के प्रभावो को चुनौती देता रहा। भारत के गावो को केवल नमक को छोडकर कोई भी सामान बाहर से नहीं मगाना पडता था। वहा प्रत्येक व्यक्ति अन्योन्याश्रित तथा अत सबधित था। इस कारण से गावो ने प्रेम, सद्भावना, सहयोग की आदिकाल से चली आ रही परपरा को अपने दामन मे सजोये रखा। भारत मे इस आत्मनिर्भर ग्राम समाज व्यवस्था का रूप क्या था, इसका एक वर्णन सर चार्ल्स मेटकाफ, जो 1835 मे गवर्नर-जनरल बने थे, ने दिया है

ग्राम-समाज छोटे-छोटे गणतत्र हैं। अपनी जरूरत की सारी चीजे इन्हे अपने यहा प्राप्त हैं और विदेशी सबधो से ये मुक्त हैं। जहा कुछ भी स्थायी नही, वहा ये जैसे

अकेले अमर हैं। राजकुल लुढ़कते रहे, क्रांतियां होती रहीं हिंदू पठान मुगल मराठा, सिक्ख, अंग्रेज क्रमश मालिक बनते रहे, लेकिन ग्राम-समाज यथापूर्व बने रहे।[39]

अंग्रेजी शासन

भारत में सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में यूरोपीय व्यापारिक केंद्र तथा उपनिवेश स्थापित किये गये। पुर्तगाली व्यापारी इसमें प्रथम थे। डच ब्रिटिश डेन्स और फ्रेंच ने उनका अनुगमन किया। 18वीं शताब्दी में भारत के राजनीतिक पतन प्रशासनिक जर्जरता का अनुमान इसमें लगाया जा सकता है कि अंग्रेजों ने कितनी सरलता से इस विशाल देश पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। दक्षिण के आंग्ल-फ्रांसीसी युद्ध (1740 1763) प्लासी की लड़ाई (1757), बक्सर का युद्ध (1764) और शाह आलम द्वारा ईस्ट इंडिया कंपनी को दीवानी अधिकारों का दिया जाना (1765) अंग्रेजी शासन की स्थापना के इतिहास के महत्वपूर्ण अध्याय बन चुके हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में ईस्ट इंडिया कंपनी ने वस्तुत अपने समस्त प्रतिद्वंद्वियों को भगा दिया तथा शताब्दी के मध्य तक संपूर्ण भारत या तो इंग्लैंड द्वारा प्रत्यक्ष रूप से शासित था अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सामान्य राजाओं द्वारा जिन्हें स्थानीय अधिकार प्राप्त थे। अंग्रेज एक एसे नवीन विजेता थे जिनके पास कूटनीति और शासनात्मक पटुता बजाड थी जिसकी संस्कृति प्रगतिशील तथा जिसकी प्राविधिक श्रेष्ठता महान थी, जो इस महाद्वीप में भिन्न धर्म में आस्था रखते थे ईसाई धर्म।

ईसाई धर्म के मानने वाले प्रभु यीशु में विश्वास रखते है। यह मानव मात्र को एक समझता है, प्रेम, सहिष्णुता सदाचार और परोपकार का संदेश देता है। बिना किसी भेदभाव के सभी का भला चाहना और करना दूसरों के दुख के लिए स्वयं कष्ट सहना दूसरों के कल्याण के लिए यातना भुगतना और दूसरों के लाभ के लिए अपना बलिदान करना इस धर्म का मूल सिद्धांत है। इस धर्म की मान्यता है कि ईश्वर एक सत्ता है पर उसके तीन रूप है पिता पुत्र और पवित्रात्मा। ईश्वर ने मनुष्य को पूर्ण बनाया किन्तु ईश्वर की आज्ञा न मानने के अपराध के कारण समस्त मानव जाति ईश्वर से दूर हो गयी और उसका पतन हो गया। मनुष्य और ईश्वर के सायुज्य को फिर से स्थापित करने के लिए ईश्वर यीशु के रूप में मनुष्य बना। ईश्वर ने यीशु के रूप में चमत्कारपूर्वक कुमारी मैरी की कोख से जन्म लिया। यीशु एक ही समय ईश्वर भी था और मनुष्य भी। ईश्वर ने यीशु के रूप में कष्ट सहा और मनुष्य बनकर अपना बलिदान किया जिससे समस्त मानव जाति के पापों का प्रायश्चित हो सके। ईश्वर ने यीशु के रूप में कब्र से उठकर अपने में विश्वास करने वालों को अमरता का आश्वासन दिया। ईश्वर ने यीशु के रूप में मनुष्य और ईश्वर के सायुज्य को स्थापित करने की पद्धति के रूप में संघ (चर्च) निर्माण किया। ईश्वर अपने प्रेम द्वारा मनुष्य को पाप से बचने के लिए सहायता देता है। ईश्वर-यीशु के रूप में पृथ्वी पर फिर आयेगा मृत प्राणी कब्रों से उठ खड़े होंगे, पुण्यात्माओं की मुक्ति

होगी और पापात्मा सदा के लिए नरक मे जायेगे ।

हिंदू धर्म का पुन एक ऐसे धर्म से सामना हुआ जो शासको का धर्म था साथ ही इस्लाम की तरह धर्म मे विश्वास करता था। उस समय हिंदू धर्म की स्थिति यह थी कि वह पूर्ण ब्रह्म की खोज का गहन दर्शन होने के बजाय, केवल बाह्य रूप तथा क्रियाकलाप तक केंद्रित होने लगा था। यद्यपि अनेक व्यापारियो और दस्तकारो की मदद अंग्रेजो को अपने राज्य की स्थापना मे मिली तथा अंग्रेजी राज्य की स्थापना से व्यापारी, दलाल, सर्राफ, गुमाश्ते, पैकार आदि का एक नया वर्ग उभरकर सामने आया। किंतु हिंदू समाज की सामान्य प्रतिक्रिया उसी प्रकार की थी जिस प्रकार की प्रतिक्रिया मुसलमानो के आगमन पर हुई थी उसने अपनी प्राचीन परपराओ के घेरे मे अपने आपको अत्यधिक सीमित कर लिया । परिणामत हिंदू धर्म मे बेहद सकीर्णता उत्पन्न हो गयी। लोगो के लिए धर्म का मतलब हो गया कडे नियम और प्रतिबंध यानी क्या खाओ, कैसे खाओ, कहा खाओ, किसे छुओ किसे न छुओ, कब यात्रा करो कहा तक करो, कहा नहाओ, मदिरो मे कौन जाये, कहा तक जाये अर्थात् धर्म को मूर्तिपूजा तथा रूढिवादिता का प्रतिरूप बना दिया गया, जातीय कट्टरता छुआछूत बहुपत्नी विवाह आदि मानव-समानता, आपसी सौहार्द तथा औरतो के सम्मान का गला घोट रहे थे। अंग्रेजो की भारतीय समाज के प्रति कोई एक रूप नीति नही रही। भिन्न-भिन्न गवर्नर जनरलो के द्वारा भिन्न-भिन्न नीतिया अपनायी गयी। यह बहुत कुछ उनके व्यक्तिगत पूर्वग्रहो तथा उनके द्वारा स्थितियो के मूल्याकन पर निर्भर करता था । अंग्रेजी शासक, जो एक नया भारतीय मध्यम वर्ग उभर रहा था, उसकी सहानुभूति को बनाये रखने के लिए काफी सतर्क रहे। इनकी भावनाओ का भी सम्मान करते थे। उनका लक्ष्य सिर्फ व्यापार और शासन था और उनकी नीतिया इन्हीं लक्ष्यो तक सीमित रहीं । अंग्रेजो की धार्मिक नीति एक प्रकार से अहस्तक्षेप की नीति थी, उन्होंने भारतीयो के साथ न तो घुलने-मिलने की नीति अपनायी, न ही ईसाई धर्म प्रचार के साथ अपना नाता जोडा और न ही भारतीय समाज के सुधार मे अभिरुचि दिखायी। यद्यपि अठारहवी शताब्दी मे भारत मे आये हुए यूरोपियन लोगो ने भारतीयो की तरह रहना-सहना प्रारभ कर दिया था। किंतु इसके बावजूद सामाजिक सपर्क के लिए कोई विशेष प्रयास नहीं किया गया, बल्कि अंग्रेज प्रशासको को भारतीय समाज से अलग रखने का ही प्रयास किया गया। अंग्रेज शासक सामाजिक ढाचे मे हस्तक्षेप करने के पक्ष मे नहीं थे । कुछ विद्वानो के अनुसार उनकी समाज-सुधार के लिए कानून बनाने के क्षेत्र मे अहस्तक्षेप की नीति के पीछे उनका यह भय था कि उनकी राजनीतिक आधिपत्य की नीव कमजोर हो जायेगी क्योकि सामाजिक मुक्ति से अंग्रेजी आधिपत्य का विरोध करने को बढावा मिलेगा, दूसरा दृष्टिकोण यह प्रस्तुत किया जाता है कि अंग्रेजो को अभिरुचि मुख्यत व्यापार और शासन मे थी, इसलिए वे कोई भी ऐसी नीति अपनाने के पक्ष मे नहीं थे, जिससे उनके हितो को धक्का पहुचता । दूसरा दृष्टिकोण ही ज्यादा तर्कसगत लगता है ।

अंग्रेजी शासन की नीति दो मुख्य समुदायो, हिंदुओ— और मुसलमानो— की स्वीय विधियो मे हस्तक्षेप न करना था। परिणामत विवाह, तलाक, उत्तराधिकार आदि के सबंध मे दोनो समुदायो मे अलग-अलग कानून लागू थे। दोनो के द्वारा स्वधर्म त्याग

दडनीय था। यद्यपि आरभ में मुख्यत अहस्तक्षेप की नीति थी किंतु व्यावहारिक विचारो, ऐतिहासिक मजबूरियों तथा विरासत मे मिले अधिकारो एव दायित्वो के कारण अग्रेजी शासन ने हिंदू धर्म मे रुचि दिखायी और ईसाई धर्म प्रचार से अपना हाथ खीच लिया। कपनी उन समस्त कार्यों का सपादन करने लगी जो कि उसके पूर्ववर्ती हिंदू और मुस्लिम शासक सपादित करते रहे। मदिर, मस्जिद दोनो समुदायो के धार्मिक उत्सव और उनकी सस्थाए सरकारी राजस्व से अधिदान प्राप्त करते रहे।

उन दिनो हिंदुओ और मुसलमानो की धार्मिक भावनाओ का सम्मान करने के लिए कपनी के दफ्तर रविवार को खुलते और हिंदुओ और मुसलमानो के त्यौहारो पर बद रहते थे। देवताओ (हिंदुओं के) के सम्मान मे फौज की परेडे हुआ करती थी। अग्रेज अधिकारी धार्मिक सस्थाओ के प्रबध मे हिस्सा लेते थे। पडितो और विद्वानो का बडा आदर था। मदिरो के प्रशासन के खर्च का आशिक भार वहन करने के लिए अधिकारी- गण यात्री कर आदि वसूल करते थे। प्रोटेस्टैटो को कैथोलिक चर्च की गतिविधियों के साथ कोई हमदर्दी नहीं थी। इसलिए मिशनरी प्रचार को बढावा नही दिया गया। यहा तक कि अग्रेजी शासन अपने क्षेत्र मे ईसाई प्रचारको को बसने तक की इजाजत नही देता था।

कपनी की ईसाई धर्म-प्रचार के प्रति दृष्टिकोण ने ईसाई मिशनरियो तथा ब्रिटेन के उनके समर्थको मे काफी खलबली मचा दी। कपनी के डायरेक्टरो पर उनका दबाव बढने लगा। परिणामत 1813 मे भारत के अग्रेजी प्रदेश मे ईसाई प्रचारको के आने पर से पाबदी उठा ली गयी और कलकत्ता मे एक पादरी-सस्था (बिशपरिक) खोल दी गयी। सन् 1833 मे कपनी ने अपने अधिकारियो को स्पष्ट आदेश दे दिया कि धार्मिक सस्थाओ के आतरिक प्रशासन मे किसी किस्म का हस्तक्षेप न किया जाये तथा यात्री कर और इस तरह को अन्य वसूलियों को बद कर दिया जाये। पूर्ण पृथक्ता सन् 1863 मे एक अधिनियम पारित करके किया गया, जिसके द्वारा इन सस्थाओ की विधिया जो सरकार के नियत्रण मे थी, न्यासधारियो और स्थानीय समितियो को सौप दी गयी।

यद्यपि कपनी की नीति मुख्यत धार्मिक अहस्तक्षेप की थी, लेकिन इसका यह अभिप्राय नही है कि यह केवल धर्मनिरपेक्ष कार्यों के सपादन तक ही सीमित थी, इग्लैड की चर्च कपनी का ही अनुभाग थी। इसके अधिकारियों को भारतीय सरकार के राजस्व से भुगतान किया जाता था, जबकि वे भारत मे प्रत्यक्ष रूप से मिशनरी कार्यों मे लगे हुए थे। इस प्रकार प्रशासन पादरी-सस्थाओ (बिशपरिको) की स्थापना करता तथा बिशपो की नियुक्ति और उनको भुगतान करता था। वास्तविकता तो यह है कि अग्रेजो की कोई एक निर्धारित नीति नही रही। समय और परिस्थितियो के अनुसार उनकी नीति मे समजस होता रहा।

अग्रेजी शासन के आरभिक काल मे धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना की तरफ कई महत्वपूर्ण कदम उठाये गये। जहा हिंदू अपराधशास्त्र म अपराधी की जाति और वर्ग के अनुसार दड दिये जाने की व्यवस्था थी तथा दूसरी तरफ मुस्लिम विधि गैर मुस्लिमो के प्रति भेदभाव बरतती, वहीं पर भारतीय दड सहिता और अपराध प्रक्रिया सहिता को लागू करके, विधि के शासन की स्थापना की गयी, जो कि स्पष्टत धर्मनिरपेक्ष राज्य की

अति आवश्यक आधारशिला है। अनेक सुधारों द्वारा सामाजिक गतिहीनता तथा सांस्कृतिक सड़ांध को दूर करने का प्रयास किया गया। कुछ तो इग्लैंड के उदारवादी विचारकों जैसे— बर्क आदि के दबाव के कारण तथा कुछ कंपनी के अधिकारियों के, जैसे— थामस मुनरो जान मेल्कोम चार्ल्स मेटकाफ और एल्फिंस्टोन आदि के मानवतावादी जोश के कारण अंग्रेजी प्रशासन परम्परागत रूढ़ियों अंधविश्वासों एवं कुप्रथाओं में सुधार लाने के लिए हस्तक्षेप करता रहा। राजा राममोहन राय तथा कई हिंदुस्तानियों की पहल पर 4 दिसंबर 1829 ई० को लार्ड विलियम बैंटिंग ने रेगुलेशन न० 17 के द्वारा सती को फौजदारी का अपराध घोषित किया। यह साहसिक कार्य उसके नैतिक दृढ़ विश्वास और सुधारवादियों की प्रेरणा के प्रभाव का परिचायक था। उस समय की उदारता की भावना के अनुकूल 1833 के अधिनियम की एक धारा में घोषित किया गया यह नियम बनाया जाता है कि उपरोक्त क्षेत्रों का कोई भी निवासी केवल अपने धर्म जन्म-स्थान वंश रंग या इनमें से किसी एक के आधार पर किसी पद पर नियुक्त होने या कंपनी में नौकरी पाने से वंचित नहीं किया जायेगा। 1843 में एक अधिनियम पारित किया गया जिसके अनुसार दासता को अवैध घोषित कर दिया गया। जाति निर्योग्यता निवारण अधिनियम 1850 के द्वारा किसी भी व्यक्ति द्वारा अपना धर्म त्यागने पर उत्तराधिकार संबंधी अधिकारों को छीने जाने अथवा जाति से बहिष्कृत किये जाने का प्रभाव रखने वाले कानूनों को निष्फल कर दिया गया। 1854 में सरकार ने सहायक अनुदान व्यवस्था स्थापित की जो उन सभी विद्यालयों के लिए लागू की जो अपने यहां धर्मनिरपेक्ष विषयों की शिक्षा प्रदान करते थे। सरकारी प्रबंध के अंतर्गत आने वाली शैक्षिक संस्थाओं में ईसाई धर्म की शिक्षा दिये जाने पर रोक थी। 1856 में ईश्वर चंद्र विद्यासागर के प्रयत्नों के फलस्वरूप एक अधिनियम पारित किया गया जिसने हिंदू विधवाओं के पुनर्विवाह को वैधता प्रदान कर दी।

1858 के अधिनियम के बाद जल्दी ही महारानी का अध्यादेश निकला। अध्यादेश में भारतीय जनता से कहा गया और हमारी यह इच्छा है कि जहां तक हो सके हमारी प्रजा चाहे वह किसी भी जाति या धर्म की हो हमारी सेवाओं में पदों पर बिना पक्षपात के मुक्त रूप से नियुक्त की जाय। उन सभी लोगों को इस तरह के पदों में लिया जाय जो अपनी शिक्षा योग्यता ईमानदारी के आधार पर इनके योग्य हों और अच्छी तरह से अपना कर्तव्य पूरा कर सकते हों।' किंतु 1857 की क्रांति के बाद सामाजिक सुधारों के बजाय सरकार के दिमाग में सुरक्षा की भावनाएं घर कर गयी। जनता के प्रति उसका दृष्टिकोण कठोर होता गया तथा धार्मिक अहस्तक्षेप की नीति का दृढ़ता से पालन किया जाने लगा। अंग्रेज़ी शासन द्वारा किये जाने वाले न केवल धार्मिक वरन धर्मनिरपेक्ष क्षेत्रों में परिवर्तनों पर रोक लगा दी गयी। भारत में राष्ट्रवाद के विकास के साथ-साथ सरकार की नीतियों में नया मोड़ आया। किंतु इतना तो निश्चित है कि अंग्रेज़ी नीति धर्म की वैयक्तिक (व्यक्तिगत) स्वतंत्रता को स्थापित करने तथा राज्य के धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष कार्यों में पृथक्करण करने में काफी हद तक कामयाब रही। साथ ही व्यक्तिगत कानूनों को छोड़कर अन्य क्षेत्रों में विधि का शासन लागू करके ऐसी सामान्य नागरिकता स्थापित करने में सफल रही, जिसका

धर्म अथवा पथ से कोई सबध नहीं था। ये धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना की तरफ बहुत ही महत्त्वपूर्ण कदम थे ।

आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद का उदय

अग्रेजी शासन का भारत मे ज्यो-ज्यो विस्तार होने लगा, सबसे ज्यादा विक्षुब्धता मुस्लिम अभिजात वर्ग मे बढने लगी। क्योकि यह वर्ग सरकार और असली वसूली करने वालो के बीच एक कडी का कार्य करता था, जो 1793 की स्थायी भू-व्यवस्था से अब निरर्थक साबित हो चला था। दूसरे, वसूली के अतिरिक्त जो कुछ अवैध रूप से यह वर्ग प्राप्त करने मे सफल हो जाता था, वह जाता रहा। तीसरे, कपनी ने धीरे धीरे इस वर्ग के लिए सेना के द्वार भी बद कर दिये। सैन्य क्षमता का निर्धारण निपुणता या उपलब्धि पर आधारित न होकर वफादारी पर निर्भर हो गया, जिसके कारण सिख राजपूत और डोगरा जाति के लोगो को भर्ती और विश्वास के लिहाज से सबसे ज्यादा वरीयता दी गयी। चौथे बगाल मे कपनी का पूर्ण शासन स्थापित हो जाने के पचास वर्षों तक राजभाषा के पद पर फ़ारसी चली आ रही थी, जो न तो जनभाषा थी और न ही शासक वर्ग की भाषा थी। इस्लाम का दबदबा बना हुआ था, सभी न्यायिक अधिकारी मुसलमान ही होते थे तथा गैर सैनिक सेवाओ मे मुसलमानो का एकाधिकार बना हुआ था। धीरे धीरे फ़ारसी का स्थान बगला ने ग्रहण कर लिया। 1937 मे फ़ारसी भाषा सरकारी भाषा के रूप मे नहीं रही। इसके स्थान पर प्रशासन के उच्च स्तरो पर अग्रेजी ही सरकारी भाषा बन गयी जिससे सरकारी नौकरियो के द्वार हिंदुओ के लिए भी खुल गये। यह परिवर्तन मुस्लिम अभिजात वर्ग को बुरा लगा, उन्होने इस धर्म की मर्यादा के विरुद्ध तथा अपने अधिकारो के लिए घातक समझा। किंतु इस वर्ग को सबसे ज्यादा नाराजगी अग्रेजी भाषा के व्यापक प्रसार और बगला के स्थान पर अग्रेजी को शासकीय भाषा बनाये जाने से हुई।

19वी सदी के आरभ मे ही कई अग्रेजी लेखको ने तथा अनेक भारतवासियो ने भारत के लिए अग्रेजी के महत्त्व को समझा और इसमे गहरी रुचि दिखायी। मैकाले ने एक बार ब्रिटिश ससद मे कहा था, "क्या भारतवासियो को अपने अधीन रखने के लिए हम उनको ज्ञानशून्य रखे ? अथवा हम उन्हे ज्ञान तो दे, परतु वह ऐसा हो जिससे उनकी महत्त्वाकाक्षाए जागृत न हो ? अथवा हम उनकी महत्त्वाकाक्षाए तो जागृत करना चाहते हैं, परतु उनके विकास का वैध मार्ग बद रखना चाहते हैं ? सभव है कि हमारे तत्र मे भारतवासी व्यापक रूप से सोचने लगे और वे फिर एक दिन उस तत्र से ही बाहर निकल जाये। परतु हम अपने सुशासन से अपनी प्रजा को इस प्रकार शिक्षित कर सकते है कि उनमे शासन करने की क्षमता उत्पन्न हो। यह ठीक है कि यूरोपीय ज्ञान विज्ञानो की शिक्षा मिलने पर वे भी स्वतत्रता की माग करेगे। वह दिन कब आयेगा, यह मुझे मालूम नहीं, परतु जब भी आयेगा, वह दिन ब्रिटिश इतिहास मे सबसे अधिक गर्व का होगा। भले ही राजसत्ता हमारे हाथो से चली जाये, शस्त्रो से हमे विजय भी प्राप्त न हो, फिर भी यह बात हमारे लिए गर्व और आनद की होगी, दुख की नहीं"।

अंग्रेजी के शिक्षण-प्रशिक्षण की माग उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। चौथे दशक मे शिक्षा के माध्यम को लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ। सन् 1935 मे इस सबध मे कपनी सरकार के तत्कालीन विधि सदस्य मैकाले ने जो एक कार्य-विवरण प्रस्तुत किया, उसमे अंग्रेजी शिक्षा के पक्ष मे निर्णय लिया। उसके कार्य-विवरण को गवर्नर जनरल विलियम बैंटिक ने स्वीकृति प्रदान की। किंतु हिंदू नेताओ ने जहा इस ऐतिहासिक दस्तावेज़ का हार्दिक स्वागत किया, वही पर मुसलमानो को इससे काफी पीड़ा हुई। सरकार द्वारा शुद्ध भावना से की हुई घोषणा को कि सरकारी शिक्षण सस्थाओ मे निष्पक्षता की नीति बरती जायेगी । मुस्लिम नेता कपट-जाल समझने लगे और उन्हे इस्लाम से विरत करने की चाल मानने लगे। इस कारण से वे नयी शिक्षण प्रणाली से दूर ही रहे। इसके विपरीत हिंदुओ मे सस्कृत के प्रति वैसी आसक्ति की भावना नही थी, जैसी मुसलमानो मे अरबी-फ़ारसी भाषा के प्रति थी। हिंदुओ के दैनिक जीवन मे मुसलमानो जैसी धार्मिक निष्ठा की तीव्रता नहीं थी। हिंदुओ के नये उभरे हुए वर्ग— जिसमे व्यापारी, व्यवसायी, ठेकेदार आदि— थे, मे कोई सामाजिक या धार्मिक पूर्वग्रह नही था और वे स्वच्छदतापूर्वक अपने बच्चो को अंग्रेजी शिक्षा दिलाने लगे। हिंदुओ ने छ सौ वर्षों के मुस्लिम शासन मे अपने को परिस्थितियो के अनुकूल ढाल लिया था। उस दौरान उन्होंने शासको की भाषा उर्दू और फारसी न केवल सीखी वरन् कई लोगो ने उच्चकोटि की विद्वता हासिल की तथा साहित्य भी लिखे। शासको की भाषा सीखते समय कभी भी हिंदुओ को यह एहसास नही हुआ कि वे धर्म विरुद्ध कोई कार्य कर रहे हैं और न हिंदू पुरोहितो की तरफ से ही कोई रुकावट उत्पन्न की गयी।

मुसलमानो ने अंग्रेजी शिक्षा से अपने को वचित किया। परिणामत सरकारी नौकरियो— जिसमे अंग्रेजी भाषा तथा पश्चिमी विज्ञानो के जानकारो को वरीयता दी जाने लगी थी— मे वे हिंदुओ से पीछे रह गये। कालातर मे सभी सरकारी पदो पर हिंदुओ का एकाधिकार-सा हो गया। यूरोपीय शिक्षा पद्धति से विमुख रहने के कारण मुसलमान चिकित्सा आदि जैसे नये धधो से भी विमुख रहे। इससे जहा एक तरफ ऊची जाति के मुसलमानो के हृदय मे सरकार के प्रति द्वेष-भाव बढ रहा था, वही उनके मन मे हिंदुओ के प्रति भी घृणा उत्पन्न होने लगी।

पश्चिमी शिक्षा, उदारवाद तथा औद्योगीकरण का सम्मिलित प्रभाव यह हुआ कि भारत मे बौद्धिक पुनर्जागरण आया, जो कि आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद के उदय का एक बहुत महत्त्वपूर्ण कारण था। लोगो मे यह भावना जड पकडने लगी थी कि अनेक प्रकार की विभिन्नताओ के बावजूद सारा भारत एक है और इसके निवासियो को अपने भाग्य का निर्णय स्वय करना चाहिए। ब्रिटेन की राजनीतिक शक्ति तथा सास्कृतिक साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप मे भारत के सुधारको तथा धार्मिक नेताओ ने देशवासियो को नयी दिशा दिखायी, नये जीवन का मार्ग प्रशस्त किया, उनमे भयकर विषमावस्था से उठने की हिम्मत बधायी तथा देश को सास्कृतिक निद्रा से झकझोर दिया। भारतीय नवोत्थान आदोलन के नेताओ ने वेद, उपनिषद, गीता आदि धर्म शास्त्रो का मानवतावादी तथा राष्ट्रवादी दृष्टिकोण से विवेचन किया तथा अनेक

वैज्ञानिक सिद्धातो वा मूल उन ग्रंथो मे ढूढ निकालने का प्रयत्न किया। परिणामत अग्रेजी सभ्यता एव सस्कृति की चुनौतियों का सामना करने के लिए ब्रह्म समाज प्रार्थना समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण आदोलन, गुप्त समाज परमहस सभा सर्वेंट्स आफ इंडिया सोसाइटी आदि का उदय हुआ।

सामाजिक समानता बधुत्व, नारी उद्धार मे प्राण फूककर सास्कृतिक परपराओ को पल्लवित एव पुष्पित करके नव भारत के निर्माण मे 'ब्रह्म समाज' अग्रगण्य शक्ति रहा है। इसके सस्थापक राजा राममोहन राय एक महान् त्यागी, राष्ट्र-भक्त और एक मानवतावादी विचारक थे। वे सत्य के नये महाद्वीप की खोज करने वाले भारतीय कोलबस थे। वास्तव मे उन्होने मुगल शासन का स्थान ब्रिटिश शासन द्वारा लिये जाने का स्वागत किया, क्योकि यह अधविश्वासो पर आधारित समाज को चुनौती देने तथा उसका पुनर्निर्माण करके एक विवेक पर आधारित समाज की रचना का सुअवसर दगा। उन्होंने भाषा-सुधार, विधि-सुधार, वर्नाकुलर प्रेस की स्थापना प्रेस की स्वतत्रता की रक्षा, औरतो विशेषकर विधवाओ के अधिकारो के अभिकरण की दिशा मे मजबूत कदम बढाया। वे भारतीय आध्यात्मिक परपराओ के सरक्षक किंतु सामाजिक गतिहीनता तथा धर्मभेद और वर्णभेद पर आधारित सामाजिक सकीर्णताओ के कट्टर विरोधी थे। जहा उपनिषद् और अद्वैतवाद के दार्शनिक आधारो मे उनका अटूट विश्वास था वही उनकी धर्म सस्था मे पूर्ण तथा पश्चिम की विचारधाराओ का समन्वय था। इसमे परपराओ को ठुकराने के बजाय उसके आदर्शों को सम्मान दिया गया धार्मिक कट्टरता के बजाय सर्वधर्म-समन्वय की भावना को गले लगाया गया, किसी जाति या वर्ण के हितो के बजाय विश्व बधुत्व का सदेश गुजित किया गया। इसकी शिक्षाओं से प्रभावित केशवचद्र सेन, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, विजयकृष्ण गोस्वामी, जगदीशचद्र बोस आदि ने देश के सामाजिक तथा सास्कृतिक कायाकल्प म जो योगदान दिया उसे भुलाया नही जा सकता।

नूतन शक्ति दर्शक, पथप्रदर्शक ऋषि अद्वितीय विद्वान और महान् उपदेष्टा स्वामी दयानद ने 1875 मे आर्य समाज की स्थापना के द्वारा धार्मिक पुनर्जागरण की ऐसी अजस्र धारा प्रवाहित की, जो युगो-युगो तक भारत की धार्मिक तथा सास्कृतिक धरती को हरी-भरी बनाती रहेगी, ऐसा दीप प्रज्वलित किया जिसका प्रकाश सामाजिक कुरीतियो, पाखडो तथा बाह्याचारो के अधकार को दूर भगाता रहेगा। जातीय समानता, स्त्री-शिक्षा, पुनर्विवाह और अतर्जातीय विवाह की एसी आदोलनात्मक आधी चलायी, जिसने जाति, वर्ण और लिंग की सकीर्णताओ की जडे हिला दी। आर्य समाज ने समूचे देश मे वैदिक आर्य सस्कृति के प्रचार और प्रसार का क्रातिकारी कदम उठाया। इसके अनुसार वेद पढने का अधिकार शूद्र आदि समस्त मानवो को है। दु खी दरिद्रो की सहायता, स्वदेशी वस्तुओ का प्रयोग, हिदी भाषा और गोरक्षा का प्रसार, मूर्तिपूजा का खडन, पडो, पुरोहितो और महतो की छीछालेदर, अन्य धर्मों को मानने वालों की शुद्धि और शिक्षा की उन्नति आदि कार्यक्रमो को अपनाकर आर्य समाज ने देश के सर्वतोमुखी विकास मे महत्वपूर्ण योगदान दिया।

रामकृष्ण परमहंस के प्रधान शिष्य विवेकानंद ने एक अन्य ऐसा आंदोलन चलाया, जिसने हिंदुत्व के शिथिल शरीर में नयी स्फूर्ति और नयी शक्ति फूंक दी। उन्होंने वेदांत को आधुनिक रूप दिया। वे वेदांत को पंडितों के शास्त्रार्थ या सन्यासियों की साधना का विषय ही नहीं मानते थे बल्कि इसे दैनिक जीवन के कार्यकलाप में अनूदित किये जाने योग्य मानते थे। वेदांत व्यक्ति की आत्मिक उन्नति, समाज के पुनर्गठन और राष्ट्रों के समन्वय का शास्त्र है। उनकी दृष्टि में वेदांत का सार कर्मण्यता है। उन्होंने दूसरों से प्रेम करना, दुःखी, दरिद्र, असहाय लोगों की सेवा करना व्यक्ति का परम कर्तव्य माना है। ज्ञान, भक्ति और कर्म का जो अपूर्व संगम रामकृष्ण आंदोलन में है वह असंख्य दीन-हीन, दुःखी, दरिद्रों तथा असहायों को अलौकिक आनंद देता रहा है और देता रहेगा।

धार्मिक अंधविश्वासों एवं सामाजिक रूढ़िवादिता को अनेक छोटे-छोटे सम्प्रदायों द्वारा भी चुनौती दी गयी। उत्तर प्रदेश में सतनामी, अप्पापंथी और शिव नारायण सम्प्रदाय, बंगाल में कर्ताभज और बलरामी सम्प्रदाय आदि ने बहुदेववाद, मूर्तिपूजा और जाति भेद की भर्त्सना की। इनके द्वारा अंधविश्वासों और पुरोहितों के अत्याचारों से मुक्त जनता के धार्मिक जीवन को सुधारने के अनेक प्रयास किये गये। जिन दिनों पूर्वी और उत्तरी भारत में पुनर्जागरण की दुंदुभी बज रही थी, पश्चिमी भारत भी पीछे नहीं रहा। पश्चिमी भारत के गुप्त समाज, परमहंस सभा और प्रार्थना समाज के नेताओं ने सामाजिक संकीर्णताओं, जातिगत तथा धर्मगत रूढ़ियों, अंधविश्वासों एवं कुप्रथाओं को समूल उखाड़ फेंकने का प्रयास किया। राजस्थान में चरनदासी सम्प्रदाय ने मूर्ति पूजा विरोध और जातिवाद विरोध के लिए वेदों का हवाला दिया, तो आंध्र प्रदेश में ब्रह्म सम्प्रदाय भी अनेक धार्मिक तथा सामाजिक बुराइयों का विरोध करने में लगा रहा। दूसरी तरफ पंजाब में बाबा रामसिंह ने नामधारी आंदोलन चलाया, अनेक समाज सुधारों का श्रीगणेश किया तथा अंग्रेज, अंग्रेजी और अंग्रेजियत का विरोध किया, गांधी जी के आंदोलन से बहुत पहले पंजाब के कोने-कोने में स्वदेशी आंदोलन का बिगुल बजाया।

भारत का इतिहास 18वीं शताब्दी में वैसे तो आधुनिक इतिहासकारों के लिए आकर्षक नहीं रहा, किंतु इस काल में भी सामाजिक धरातल पर परिवर्तन काफी हो रहे थे। उस समय के विसंडन, पेशागत गतिशीलता और संस्कृतीकरण समाज में हो रहे परिवर्तनों को दर्शाते हैं। कला और साहित्य के क्षेत्र में उच्चकोटि की रचनात्मकता को अभिव्यक्ति मिली। इन सबके बावजूद प्रतिबंध, अंधविश्वास, सामाजिक ओहदा, प्राधिकार, धर्मांधता और अंध नियतिवाद इस समय अपनी जड़ें जमाये हुए थे। उन्नीसवीं शताब्दी के बौद्धिकों ने सामाजिक परिवर्तन के लिए जिन साधनों और उपायों को सबसे अधिक महत्त्व दिया, वह था— शिक्षा नीति को सर्वाधिक उपयोगी बनाना। अनेक समाज सुधारकों ने अनुभव किया कि देश की प्रगति और आधुनिक विचारधारा तथा संस्कृति के विकास के लिए विज्ञान की जानकारी अत्यंत आवश्यक है। वे देशी भाषाओं के माध्यम से विज्ञान और सामूहिक शिक्षा के प्रचार-प्रसार पर बल दे रहे थे। जैसाकि राजा राममोहन राय की आपत्ति से स्पष्ट होता है, "युवावर्ग के दिमाग पर व्याकरण संबंधी महीन बातों

और आध्यात्मिक विशिष्टताओं को लादना हानिकारक है, जिनका समाज को और उस व्यक्ति को, जो इन्हें आयत्त करता है, कोई लाभ नहीं।[40] अक्षयकुमार दत्त ने जो शिक्षा की राष्ट्रीय योजना के प्रथम भारतीय प्रवर्तक थे पारम्परिक शिक्षा पद्धति को पूरी तौर पर नामंजूर कर दिया था। उनकी योजना (शिक्षा) में विद्यार्थियों के लिए प्राथमिक स्तर पर ही विज्ञान के प्राथमिक शिक्षण की व्यवस्था थी। विद्यासागर, सैयद अहमद, रानाडे और वीरसालिंगम् ने विज्ञान के महत्त्व को समझा तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने पर बल दिया। ये लोग प्रशिक्षण का एक उदार और प्रबुद्ध तरीका अपनाये जिसमें गणित, प्रकृतिदर्शन, रसायन, शरीर विज्ञान आदि उपयोगी विज्ञानों को शामिल किया गया हो। इस प्रकार भारतीय बौद्धिकों एवं समाज-सुधारकों ने प्रकृति के तथ्यों का शोध करके उनके सिद्धांतों का पता लगाने और भौतिक तथा नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए और विशाल मानवता की प्रकृति के लिए उनका उपयोग करने पर बल दिया। विज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए अनेक कदम उठाये गये तथा इस शताब्दी के बौद्धिकों ने जन-साधारण में शिक्षा के प्रचार-प्रसार के माध्यम के रूप में देशी भाषाओं को अपनाने पर बल दिया जिसकी शैली सरल हो। उनका मानना था कि इसमें पत्र-पत्रिकाओं की बड़ी अहम् भूमिका है। इसलिए इस दिशा में सराहनीय प्रयास किये गये बंगाल में राममोहन राय की संवाद कौमुदी 'यंग बंगाल' का ज्ञानान्वेषण' देवेन्द्रनाथ और अक्षय कुमार की तत्त्वबोधिनी पत्रिका और केशवचंद्र सेन की 'सुलभ समाचार' बंबई में बाल शास्त्री जम्बेकर की 'दिग्दर्शन' और बंबई दर्पण' (द्विभाषिक) भाऊ महाजन की 'प्रभाकर' और दादाभाई नौरोजी की 'रास्तगोफ्तार' आंध्र में वीरसालिंगम की 'विवेकवर्धिनी' और बुचाइया पातुल की हिंदू जन सम्वारिणी आदि के प्रकाशन बौद्धिकों की प्रतिबद्धता को दर्शाते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी की चिंतनधारा की एक प्रमुख विशेषता थी बौद्धिकता। यंग बंगाल के सदस्यों की दृष्टि में, वह आदमी जो तर्क नहीं करता धर्मांध होता है जो कर नहीं सकता, वह मूर्ख होता है और जो करना नहीं चाहता वह गुलाम होता है।[41] अक्षय कुमार का शुद्ध बौद्धिकता में गहरा विश्वास था। उनका मानना था कि अलौकिकता में पड़े बिना शुद्ध यांत्रिक तर्क पद्धति से इस विश्व को समझा जा सकता है और उसका विश्लेषण किया जा सकता है। हालांकि जो लोग सामाजिक सुधार की वास्तविक प्रक्रिया में लगे हुए थे उनमें बौद्धिकता की शुद्धता धीरे धीरे कम होती गयी फिर भी उनके प्रयासों का धर्मनिरपेक्ष मूल्यों के विकास में काफी योगदान रहा। 19वीं शताब्दी की विचारधारा की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता धार्मिक विश्वजनीनता थी। राजा राममोहन राय तथा केशवचंद्र सेन आदि का धार्मिक एकता में विश्वास था। वे एकेश्वरवाद और ईश्वरत्व की एकता पर आधारित एक विश्व दृष्टिकोण रखते थे। राजा राममोहन राय ने मौलिक धार्मिक सिद्धांतों का समर्थन किया चाहे वे हिंदू धर्म के हों, ईसाई धर्म के हों या इस्लाम के। केशवचंद्र सेन ने 'ईश्वर सबका जन्मदाता है' की विश्वभावना के अनुरूप सभी मनुष्य भाई भाई हैं' की प्रतिष्ठा की। सैयद अहमद का विश्वास था कि सारे सभी धर्म एक हैं और सभी धर्म गुरुओं का 'दीन' एक ही है। प्रार्थना समाज का भी कहना

सिद्धांत था कि भगवान एक है और उसने इस विश्व को बनाया है। इसलिए सबको एक-दूसरे के साथ बिना भेदभाव के भाइयों की तरह रहना चाहिए।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में सार्वजनिक सहनशीलता तथा स्वीकृति पर बल दिया गया, धार्मिक विश्वजनीनता काफी जोर पकड़ रही थी किंतु आगे चलकर इसका स्थान हिंदू धर्म केंद्रित ईश्वरवाद ने ले लिया। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी की विश्व विचारधारा का समय से पहले अंत हो गया और इसके अंदर से धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांत के सावयविक विकास की संभावना समाप्त हो गयी। इसके बजाय, इसके स्थान पर धार्मिक विशिष्टता की स्थापना हुई जो भारत जैसे बहुधार्मिक देश के लिए अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण थी। बीसवीं शताब्दी में यह लक्षण और प्रबल हुआ।'[42] हालांकि महात्मा गांधी ने इन धार्मिक विशिष्टताओं से ऊपर उठकर सर्व मुक्तिवाद को अपनाया। उनका मानना था कि सभी धर्म सत्य हैं सभी धर्मों में कुछ बुराइयां हैं तथा सभी धर्म उन्हें लगभग उतने ही प्रिय हैं जितना अपना हिंदू धर्म।

राष्ट्रीय राजनीतिक मंच की स्थापना

सन् 1885 में भारतीय इतिहास में एक अतिशय महत्त्वपूर्ण घटना घटी, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई। यद्यपि सार्वजनिक जीवन का विकास इससे काफी पहले आरंभ हो चुका था। सन् 1837 में जमींदारी एसोसिएशन की स्थापना के साथ वैधानिक राजनीति का सिलसिला शुरू हुआ। 1843 में बंगाल ब्रिटिश इंडिया सोसाइटी तथा 1851 में ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन आदि अस्तित्व में आ चुके थे। सन् 1857 में लगभग चार सौ से अधिक समाचार पत्र अधिकांश प्रांतीय भाषाओं में निकलते थे। इससे स्पष्ट होता है कि एक सार्वजनिक जीवन देश में विकसित हो रहा था तथा राजनीतिक सत्ता के केंद्रीकरण के कारण एक राष्ट्रीय राजनीतिक मंच की आवश्यकता महसूस की गयी, जो क्षेत्रीय संगठनों के संयुक्त मोर्चे के रूप में कार्य कर सके। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना भारतीय जनता को अपनी वास्तविक इच्छाओं को अधिकृत रूप से व्यक्त करने के अवसर देने के उद्देश्य से हुई। इसका एक प्रमुख संस्थापक भारत सरकार का एक भूतपूर्व सचिव ए०ओ० ह्यूम था। इसकी स्थापना में तत्कालीन वायसराय लार्ड डफरिन ने भी सक्रिय सहयोग दिया था। उन्होंने सोचा था कि यह एक 'सुरक्षा कपाट' का कार्य करेगी। इस प्रकार कांग्रेस की स्थापना के पीछे भलाई की भावना से कहीं अधिक शासक और शासितों की परस्पर आवश्यकता का हाथ था। कांग्रेस धर्मनिरपेक्ष थी और सभी सम्प्रदायों के लोग उनके सदस्य बन सकते थे।

राष्ट्रीय नेताओं का मूलभूत उद्देश्य हितों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने के लिए एक एकीकृत मंच की स्थापना करना था। वे देश की सामाजिक, क्षेत्रीय तथा धार्मिक विभिन्नताओं से भली प्रकार अवगत थे उन्होंने कांग्रेस के संगठन को सम्प्रेषण तथा समन्वय के माध्यम के रूप में देखा। दादाभाई नौरोजी, रानाडे, गोखले और आर०सी० दत्त ने भारत के आर्थिक पिछड़ेपन का सूक्ष्म अध्ययन किया। राष्ट्र की ग़रीबी और

पिछड़ेपन का अनेक प्रकार से विश्लेषण किया गया। अगर दादाभाई नौरोजी ने पिछड़ेपन के लिए पराधीनता को दोष दिया, तो दूसरे लेखकों ने अत्यधिक ग़रीबी की आंतरिक जड़ों का विश्लेषण किया। इन शोधों तथा विश्लेषणों का यथार्थ परिणाम यह हुआ कि भारतीय राष्ट्रवाद के विकास के आरंभिक काल के दौरान प्रजातांत्रिक विकास की सहमतिजन्य रणनीति विकसित हुई। राजनीतिक नेता कृषि उद्योग और शिक्षा के समन्वित विकास के लिए प्रजातांत्रिक, राज्य के सक्रिय हस्तक्षेप की आवश्यकता से सहमत थे। अतः कांग्रेस के माध्यम से प्रजातांत्रिक राजनीतिक विकास के महत्त्वपूर्ण कार्यों को पूर्ण करने का प्रयास किया गया। किंतु अभिजातवर्गीय मुसलमानों में दकियानूसी प्रवृत्तियां घर करती चली जा रही थीं। 19वीं शदी के पांचवें दशक के बाद बहाबी आंदोलन भी ज़ोर पकड़ रहा था। मुसलमानों के अंग्रेज़ी शिक्षा के बहिष्कार में नरमी नहीं आ सकी थी। हिंदुओं के शैक्षिक, आर्थिक और राजनीतिक दृष्टियों से हिंदुओं के उच्च वर्ग के उन्नति के पथ पर अग्रसर होने के कारण मुसलमान हिंदुओं से भी घृणा करने लगे थे। वे इन संगठनों को हिंदुओं का संगठन मान बैठे। विदेशी सरकार के जिन उदार नीतियों का वे फायदा स्वयं उठा सकते थे तथा अपने समुदाय का भी हित कर सकते थे, उसे भी अपने आक्रोश का निशाना बना लिया। मुस्लिम अभिजात वर्ग अतीत को याद कर ज़िंदा था। उलेमा तो यहां तक कि हिंदू और अंग्रेज़ से हाथ मिलाने पर उसे धोता था।

मुसलमानों में जागरूकता लाने के लिए, सर सैयद अहमद ने बीड़ा उठाया। वे मुसलमानों की पुराणपंथिता और रूढ़िवादिता के एकदम खिलाफ थे। वे अंग्रेज़ी शासन का विरोध करने के पक्ष में नहीं थे। वे मुसलमानों के रहनसहन का ढांचा बदलने के पक्ष में थे। उन्होंने समाज-सुधार, आधुनिक शिक्षा तथा वैज्ञानिक और तकनीकी विकास पर अत्यधिक ज़ोर दिया। उन्होंने 1875 में अलीगढ़ में विद्यालय क़ायम किया जो शीघ्र ही कॉलिज बन गया और आज मुस्लिम विश्वविद्यालय के रूप में विद्यमान है। उनके विचारों से मुस्लिम समाज में जब नयी जागृति आयी, उनकी तंद्रा टूटी और पाश्चात्य शिक्षा और राजनीतिक विकास की तरफ अग्रसर हुआ, तब काफी देर हो चुकी थी। सरकारी नौकरियों और व्यवसाय के क्षेत्र में हिंदू काफी आगे बढ़ चुके थे। हिंदुओं में लोकतांत्रिक विचार जड़ जमाने लगे थे। शिक्षा के क्षेत्र में मुसलमान हिंदुओं से काफी पीछे रह गये थे। परिणामतः मुसलमानों का हिंदुओं के प्रति आक्रोश बढ़ता ही गया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने एक अच्छा अवसर प्रदान किया था जब वे उसमें शामिल होकर अपना राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक मार्ग प्रशस्त कर सकते थे तथा अपनी शिकायतों को दूर कर सकते थे। किंतु कुछ प्रगतिवादी मुसलमानों को छोड़कर अधिकांश ने अपने को कांग्रेस से अलग रखा। कांग्रेस के 1885 के अधिवेशन में 70 प्रतिनिधियों में से केवल दो मुसलमान थे। जहां कांग्रेस किसानों की दरिद्रता और अवनति, नौकरशाही द्वारा ग़रीबों के उत्पीड़न तथा ब्रिटिश शासकों द्वारा जनता के शोषण की बात करती थी, वहीं मुस्लिम नेतृत्व मुख्यतः अभिजातवर्गीय भावनाओं की परिधि में बंधा हुआ था। जहां कांग्रेस के नेता जनतंत्र, धर्मनिरपेक्षता और राजनीति पर भाषण करते थे, वहीं

मुसलमान नेता, इस्लाम' पर व्याख्यान देते थे। अंग्रेजों के प्रति उनके मन में उत्कट निष्ठा भरी हुई थी। इसी निष्ठा की भावना के कारण सर सैयद अहमद ने कांग्रेस का उग्र विरोध किया उन्होंने तय कर लिया था कि मुसलमानों का कांग्रेस से वस्तुत किसी भी राजनीतिक दल से कोई संबंध नहीं रहेगा। उनके तथा उनके अनुयायियों द्वारा कांग्रेस की पूर्ण अपेक्षा की गयी। कांग्रेस के द्वारा चुनाव के माध्यम से प्रतिनिधित्व और राजकीय सेवाओं के लिए प्रतियोगिताओं पर बल दिया जाना, उच्चवर्गीय मुसलमान अपनी स्थिति के लिए खतरा मानते थे। कांग्रेस के विरोध में उन्होंने एम०ए०ओ० कॉलेज के प्रिंसिपल श्री थियोडोर बेक के सहयोग से एक और संगठन बनाया जिसका नाम रखा—यूनाइटेड इंडियन पैट्रिआटिक एसोसिएशन। बाद में मुहम्मडन ऐंग्लो-ओरियंटल डिफेंस ऐसोसिएशन बनाया। अलीगढ़ के नेताओं के उग्र विरोध के बावजूद कांग्रेस में मुसलमानों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गयी शिक्षित मुसलमानों में कांग्रेस की लोकप्रियता बढ़ रही थी। 1897 की लखनऊ कांग्रेस में तो मुसलमान प्रतिनिधियों की संख्या काफी थी।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में राष्ट्रवाद के रूप में काफी कुछ परिवर्तन आया। 1900 तक ब्रिटिश शासक काफी सुरक्षित महसूस करने लगे थे क्योंकि नौकरशाही तथा सैन्य शक्ति उनके आर्थिक हितों को संरक्षित करने में अत्यधिक सहायक थे तथा साम्राज्य के विस्तार के लिए भारत को बतौर स्प्रिंग बोर्ड इस्तेमाल किया जा सकता था। किंतु साथ ही राष्ट्रवाद को एक धक्का लगा। 1905 तक उग्र राष्ट्रवादी जोर पकड़ने गये तथा पुराना उदारवादी नेतृत्व ढीला पड़ता गया क्योंकि सरकार के दमन ने उग्रवादियों को अपनी शक्ति बढ़ाने का सुनहरा अवसर प्रदान किया। 1905 की सोवियत रूस पर जापान की विजय ने एशिया में राष्ट्रवाद की नयी लहर ला दी। परिणामत अंग्रेजों के दमन के खिलाफ संघर्ष में भारतीयों की भावनाओं को जगाने का प्रयास किया गया। साहित्य धर्म तथा इतिहास के सहारे एकता को मजबूत बनाने का प्रयास किया गया। हिंदू प्रतीकों का प्रयोग किया गया तथा हिंदू महापुरुषों के गुणगान किये गये।

बंकिमचंद्र चटर्जी ने शक्ति माता को भारतमाता के रूप में प्रस्तुत कर यह सिद्ध किया कि उनकी पूजा राष्ट्रभक्ति में सन्निहित है। 1882 में स्वामी दयानंद ने गोरक्षा संघ की स्थापना की थी तथा तिलक ने गोहत्या निषेध आंदोलन को जारी रखा। उन्होंने गणपति पर्व और शिवाजी पर्व पर सैनिक शिक्षण क्रांतिकारी संगठन और उग्र प्रदर्शनों का आयोजन किया। बंगाल में अरविंद घोष और विपिनचंद्र पाल ने धर्म को राष्ट्रीय क्रांति और स्वतंत्रता के आंदोलन के रूप में प्रस्तुत किया। अरविंद घोष ने कहा 'राष्ट्रीय मुक्ति का कार्य एक महान और पवित्र यज्ञ है और विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग, राष्ट्रीय शिक्षा और दूसरे कार्य उसके छोटे बड़े अंग हैं। इस यज्ञ का फल स्वतंत्रता है और उसे हम मातृभूमि देवी को अर्पित करते हैं। वेदांत को उन्होंने राजनीतिक बताया, क्योंकि हम अविभाज्य स्वतंत्र भारत के दैवी साक्षात्कार की ओर अग्रसर हैं। राष्ट्रीय मुक्ति हमारा लक्ष्य है।'[13] उन्होंने राष्ट्रीयता को धर्म से जोड़ते हुए कहा 'राष्ट्रीयता निरा राजनीतिक कार्यक्रम नहीं है राष्ट्रीयता ईश्वरीय धर्म है

राष्ट्रीयता वह धर्म है जिसके अनुसार हम जीवित रहना है। ऐसे किसी व्यक्ति को अपने को राष्ट्रवादी कहने का साहस नहीं करना चाहिए जो बौद्धिक अहंकार से ऐसा बनता है और सोचता है कि इस नाम के धारण करने से वह उन लोगों से ऊंचा हो गया है जो इसे अपने नाम के साथ नहीं जोड़ते। अगर तुम राष्ट्रवादी हो, यदि तुम राष्ट्रीयता के धर्म को अंगीकार करते हो, तो इस धार्मिक भावना से करो और अपने भाग्य को ईश्वर का उपकरण समझो"[44] इस प्रकार धर्म और राष्ट्रीयता के गठजोड़ से लोगों को इसका लहजा मुस्लिम-विरोधी होने के कारण आह्वान में अपूर्व सफलता अवश्य मिली। किंतु इसने हिंदुओं और मुसलमानों के बीच दरार भी पैदा की। अनेक मुसलमानों ने धार्मिक राष्ट्रवाद के लिए दूसरा रास्ता अपनाने के लिए इस अवसर का इस्तेमाल किया। वे धर्मनिरपेक्ष आह्वान तथा प्रजातांत्रिक राजनीति के सिद्धांतों की आलोचना करने लगे कांग्रेस के धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद को चुनौती दी जाने लगी। यह कहा जाने लगा कि प्रजातंत्र का भविष्य है— हिंदू सर्वोच्चता और दमन। इस प्रकार हिंदू राष्ट्रवादियों द्वारा अतीत का गौरवगान साहित्य धर्म आदि के स्वर्णिम काल का स्मरण तथा ब्रिटिश शासन के विरुद्ध संघर्ष को तेज करने के लिए हिंदू प्रतीकों के प्रयोग ने मुस्लिम सम्प्रदायवाद को बढ़ावा दिया। हिंदुओं और मुसलमानों में सौहार्द बढ़ाने के अनेक नेताओं के प्रयासों के बावजूद अंग्रेज शासकों द्वारा इस स्थिति से फायदा उठाने को नहीं रोका जा सका।

हिंदुओं और मुसलमानों के बीच बढ़ती खाई से कांग्रेस के नेताओं को काफी चिंता थी। दोनों समुदायों के बीच एकता लाने के प्रयास अंग्रेज अधिकारियों की कूटनीतिक चालों के आगे बेकार साबित हो रहे थे। यद्यपि तिलक जैसे कांग्रेसी नेता हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए प्रयत्नशील थे। दोनों समुदायों को स्वदेशी अपनाने पर जोर दे रहे थे। उनकी उत्कट राष्ट्रीयता से प्रभावित होकर मुसलमान लोग शिवाजी के उत्सवों में सम्मिलित होने लगे थे। गणपति उत्सव जो राजनीतिक प्रचार का माध्यम बन चुका था अनेक नगरों में मुसलमान भी भारी संख्या में इसमें सम्मिलित होने लगे थे। लेकिन अंग्रेज अधिकारी और अलीगढ़ के नेता कांग्रेस की छवि एक हिंदू संगठन के रूप में प्रदर्शित करने में लगे थे। बीसवीं सदी के पहले दशक में ब्रिटिश अधिकारियों ने फूट डालकर शासन करने की उनकी नीति में काफी सफलता मिली। अंग्रेज अधिकारियों की चालें और मुसलमान नेताओं की हठधर्मिता गुल खिलाने लगी। शिमला में राष्ट्रवादियों के खिलाफ एक बहुत बड़ी साजिश की गयी। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों और मुस्लिम सम्प्रदायवादियों के द्वारा संगठित होकर, भयंकर शरारत की गयी। मुसलमानों के लिए साम्प्रदायिक आधार पर राजनीतिक संगठन बनाया गया।

प्रजातीय आधार पर सांविधानिक सुरक्षा

बीसवीं सदी के आरंभ में भारत में राष्ट्रीयता की लहर तीव्र होने लगी थी वह क्रांतिकारी मार्ग की तरफ बढ़ रही थी। भारत की आर्थिक धार्मिक और सामाजिक

परिस्थितियां तथा अंतर्राष्ट्रीय घटनाएं अंग्रेजों के खिलाफ संघर्ष करने के लिए नवीन प्रेरणाएं दे रही थी। लार्ड कर्जन द्वारा सन् 1905 में बंगाल विभाजन किया गया, इसके कारण असंतोष की लहर सीमाओं को तोड़ बाहर आने लगी। विक्षोभ को शांत करने तथा उग्रवाद पर नियंत्रण पाने के लिए ब्रिटिश सरकार प्रजातांत्रिक मूल्यों के अनुसार कुछ संविधानिक परिवर्तन करने को थी। इसी बीच 1 अक्टूबर सन् 1906 को पैंतीस मुसलमानों का एक शिष्टमंडल आगा खां के नेतृत्व में वायसराय लार्ड मिंटो से शिमला में मिला। शिष्टमंडल ने 'अपने समुदाय के राजनीतिक महत्त्व' और अतीत में उसके अद्वितीय स्थान के आधार पर अपने समुदाय के विशिष्ट हितों की रक्षा के लिए निश्चित संविधानिक सुरक्षाओं की मांग की इसमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थी, सभी प्रतिनिधि संस्थाओं में नगरपालिका से लेकर विधान परिषद् तक मुसलमानों का पृथक् प्रतिनिधित्व। निश्चय ही यह मुसलमानों द्वारा उठाया गया लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं और भारत के वृहत्तर हितों के खिलाफ एक शरारतपूर्ण कदम था। लार्ड मिंटो ने अवसर के महत्त्व को भांपने में देर नहीं की। दोनों समुदायों के बीच राजनीतिक भेदों को बढ़ावा देकर राष्ट्रवादियों की आलोचनात्मक कार्यवाहियों पर अंकुश लगाने के लिए ऐसे सुअवसर को उन्होंने हाथ से जाने नहीं दिया तथा सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व के प्रति सकारात्मक उत्तर देकर कई दशकों से चली आ रही अलगाववाद की नीति को संविधानिक आधार प्रदान कर दिया।

अपनी पृथक् निर्वाचन के संबंध में सफलता के बाद मुस्लिम नेता तुरंत एक पृथक मुस्लिम राजनीतिक संगठन के निर्माण में संलग्न हो गये, 30 दिसंबर, सन् 1906 में अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की नींव शिमला शिष्टमंडल के नेताओं ने रखी।

दूसरी तरफ हिंदुओं के एक वर्ग द्वारा कांग्रेस नेताओं पर आरोप लगाया जाने लगा कि वे अल्पसंख्यकों को प्रसन्न करने के लिए बहुसंख्यकों के हितों का बलिदान कर रहे हैं। साथ ही उन्होंने देखा कि मुस्लिम लीग के नेताओं की सांप्रदायिक समरनीति ने कितनी आसानी से सफलता हासिल कर ली। इन हिंदुओं ने भी 1907 में पंजाब में हिंदू सभा गठित किया। जिसका उद्देश्य था— 'समस्त हिंदू समुदाय के हितों की रक्षा के लिए उत्साही और सतर्क रहना'।

भारतीय परिषद् अधिनियम 1909 में मुसलमानों की मांगों का भली प्रकार ध्यान रखा गया। इस अधिनियम से मुसलमानों को पृथक् निर्वाचन पद्धति द्वारा अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार मिला और साथ ही उनका आम चुनाव में मत देने का अधिकार भी बना रहा। सांप्रदायिक निर्वाचन की इस योजना ने दोनों समुदायों के बीच की खाई और गहरी कर दी तथा उनके हितों का मेल असंभव बना दिया। "यह भारत के भविष्य पर प्रभाव डालने वाला अधिनियम था। भविष्य में मुसलमान केवल पृथक् निर्वाचन क्षेत्रों से खड़े हो सकते थे। इस प्रकार उनके चारों ओर एक राजनीतिक दीवार खड़ी कर दी गयी तथा उन्हें शेष भारत से पृथक् कर दिया गया। यह दीवार प्रारंभ में छोटी-सी थी, क्योंकि निर्वाचन क्षेत्र संकुचित थे। परंतु जैसे-जैसे मताधिकार में वृद्धि होती गयी, यह दीवार बढ़ती गयी और उसका सार्वजनिक तथा सामाजिक जीवन के

ढाचे पर इस प्रकार प्रभाव पडा, मानो सारे ढाचे मे घुन लग गया हो। इससे हर प्रकार की पृथक्तावादी प्रवृत्तिया उत्पन्न हुई तथा अत मे भारत के विभाजन की माग की गयी।[45] इस प्रकार अंग्रेजी शासक राष्ट्रवाद के विरोध मे साम्प्रदायिक भावनाओ को पूर्णरूप से उभारने मे सफल रहे। वास्तव मे देखा जाये तो इन दोनो समुदायो के मध्य सदियो से चले आ रहे धार्मिक तथा सामाजिक विरोधो का इन शासको ने फायदा उठाया तथा इन विरोधो को अपने राजनीतिक लाभ के लिए प्रयोग किया।

सन् 1916 मे *'लखनऊ समझौते' मे दोनो समुदायो को दो विभिन्न समुदायो के रूप मे* मान्यता दे दी गयी। इस समझौते मे काग्रेस ने मुसलमानो के लिए पृथक् निर्वाचन पद्धति स्वीकार करने के साथ प्रत्येक प्रात के विधानमडलो मे उनका अनुपात भी निर्धारित कर दिया। इस प्रकार काग्रेस ने मुसलमानो के पृथक राजनीतिक अस्तित्व को मान्यता दे दी और *अपनी इस घोषणा को कि 'भारत एक राष्ट्र है' निरर्थक साबित कर दिया। साथ ही* उसकी धर्मनिरपेक्ष छवि भी कुछ धूमिल हुई। व्यावहारिक रूप से इस समझौते के द्वारा कुछ अश तक काग्रेस को हिंदुओ की एक साम्प्रदायिक सस्था का रूप मिल गया।

माटफोर्ड रिपोर्ट मे साम्प्रदायिक चुनावो के प्रतिकूल इच्छा व्यक्त की गयी। इसे अवाछनीय बतलाते हुए कहा गया कि वह राष्ट्रविरोधी, खतरनाक और उत्तरदायी सरकार के विरुद्ध *तथा सामान्य नागरिकता की भावना की उत्पत्ति मे बाधक है।* ब्रिटिश सरकार ने घोषित किया कि वह अपने पहले दिये गये वचनो से बाध्य थी जिससे केवल मुसलमान ही छुटकारा दिला सकते थे। उसकी साप छछूदर की-सी गति हुई थी, न तो उसे समाप्त कर सकती थी और न ही आगे बढने से ही रोक सकती थी। परिणामत *साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को न केवल मुसलमानो के लिए कायम रखा गया वरन्* सिखो, ईसाइयो, यूरोपियनो और आग्ल भारतीय समुदाय के लिए भी इसे अपना लिया गया। इसके अतिरिक्त बबई मराठो तथा मद्रास मे गैर ब्राह्मणो के लिए भी स्थान रक्षित कर दिये गये।

इस शताब्दी के दूसरे दशक मे काग्रेस राष्ट्रवाद और मुस्लिम सम्प्रदायवाद के अर्तविरोध को समाप्त करने के असफल प्रयास चलते रहे। धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवादी राष्ट्रीय विषमताओ से भली भाति परिचित थे। वे ऐसे धर्मनिरपेक्ष आदोलन मे विश्वास रखते थे, जिसमे जातीय सीमाओ को लाघकर लोग हिस्सेदारी ले, क्योकि वे जानते थे *कि भारत मे लोग केवल जाति के आधार पर ही नही एक-दूसरे से अलग है। ये जाति की* सीमाए कही भाषा द्वारा तो कही अन्य कारणो से टूट जाती है। प्रमुख धार्मिक समुदाय अनेक भाषायी समुदायो मे विभक्त है तथा उनमे भी जाति तथा वर्ग की श्रेणिया बनी हुई है। इस प्रकार हिंदू अनेक भाषाओ के आधार पर अपनी अलग-अलग पहचान बनाये हुए *है तथा मुसलमानो मे उर्दू से ज्यादा पजाबी तथा बगला बोलने वाले है। यही कारण है कि* किसी एक कारक से घनिष्ठ सबध को जन समर्थन के लिए आधार बनाया जाये तो दूसरे कारको से घनिष्ठ सबध रखने वाले लोग दूर होते जाते है, जिससे दूसरे लोग जन-समर्थन हासिल कर सकते है। जैसे हिंदुओ का समर्थन प्राप्त करने के लिए हिंदी को प्रतीक बनाया जाये तो, अहिंदी भाषी हिंदू दूर भागेगे। इसी प्रकार अगर मुसलमानो के समर्थन के लिए

उर्दू को प्रतीक माना जाये तो बगला तथा पजाबी बोलने वाले विरोध करने लगेंगे तथा परेशानी महसूस करने लगेंगे। पुन धर्म, भाषा, जाति तथा अन्य घनिष्ठ सबधो के अतिरिक्त आर्थिक सबध भी काफी महत्त्व रखते हैं। आर्थिक सपन्नता अथवा विपन्नता भी घनिष्ठता मे सहायक होती है। धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवादी नेताओ ने अधिकतम लोगो की सामान्य बातो को राष्ट्रीय आदोलन का आधार बनाया। प्रथम विश्व युद्ध के बाद गाधी ने विषमताओ मे समन्वय स्थापित करके एक जन आदोलन चलाने का प्रयास किया। उन्होंने धर्मों, सभी भाषाओ सभी जातियो सपन्न लोग तथा गरीब, दलित और शोषित सभी को राष्ट्रीय आदोलन से जोडने का प्रयास किया। इस प्रकार वे राष्ट्रीय आदोलन, खिलाफत आदोलन मे मुसलमान समुदाय की धार्मिक मागो, सिख मदिर सुधारो और हिंदू निम्न जातियो के मदिर-प्रवेश आदोलनो को एक साथ जोडने मे कुछ हद तक सफल रहे। खिलाफत आदोलन मे हिंदू और मुसलमान दोनो कदम से कदम मिलाकर चले। 'हिंदू-मुसलमान की जय' 'भाई-भाई' के नारे लगाये गये। लेकिन यह सब मात्र एक सतही सधि थी, इसमे स्थायित्व के बजाय दिखावा ज्यादा था। मुसलमानो की विचारधारा मे किसी प्रकार का सशोधन नहीं हुआ। खिलाफत आदोलन राष्ट्रीय चेतना के विकास के बजाय मुसलमानो मे उनके धर्म के प्रति उनकी सस्कृति के प्रति तथा उनकी अस्मिता के प्रति नयी जागरूकता भर दी। साथ ही साप्रदायिक विचारधारा, जो मुस्लिम लीग के नेताओ तक सीमित थी को जन साधारण तक पहुचाने मे सहायक हुआ। जैसा कि दोनो समुदायो के मध्य साप्रदायिक दगो ने साबित कर दिया। 1923 अमृतसर, मुल्तान पजाब, मुरादाबाद, मेरठ, इलाहाबाद अजमेर पानीपत, जबलपुर, गोंडा, आगरा रायबरेली, दिल्ली, नागपुर, लाहौर लखनऊ काकीनाडा आदि स्थानो मे दगे फूट पडे। सितबर, 1924 मे कोहाट मे भयानक दगा हुआ। हिंदू जनता को नगर खाली कर देना पडा। मोपलो की धर्माधता के कारण किया गया हिंदुओ के प्रति अत्याचार सहारनपुर और मुल्तान मे की गयी मुस्लिम क्रूरता ने हिंदू मुसलमान सधि के आकर्षक महत्त्व को ढहा दिया। साप्रदायिक शक्तिया पिटारे मे बद विषधर साप की तरह से भयानक रूप से उफन पडी। सपेरा भी उन पर नियत्रण खो चुका था। महात्मा गाधी इन दगो को देखकर आश्चर्यचकित रह गये। उन्होंने अनेक एकता सम्मेलन बुलाये, अनशन किये पर सब बेकार रहा। वे साप्रदायिक रक्तपात की जड धार्मिक शत्रुता को मानते थे। दूसरी तरफ धर्म को मुसलमानो के लिए राजनीति से अलग करना सभव नहीं था। इसलिए उन्होंने धर्म को राजनीति मे अलग करने के बजाय सभी धर्मों की मूलभूत एकता पर बल दिया, दोनो समुदायो को धार्मिक सहिष्णुता का उपदेश दिया। किंतु फिर भी साप्रदायिक तनाव समाप्त नही हो सका, दोनो समुदायो के बीच एकता की भावना, जिसका कि 1857 के विद्रोह के बाद से अभाव था, बल नहीं पकड सकी। मदिरो मे गाय का मास और मस्जिदो मे सूअर का मास देखकर कई बार साप्रदायिक दगो की आग उठी थी। कभी-कभी पुलिस द्वारा किसी एक वर्ग का पक्ष लेने के कारण दगे भडक उठे, कभी-कभी इनके पीछे कुछ अग्रेज अधिकारियो के हाथ हुआ करते थे। लेकिन इस साप्रदायिकता और उससे जनित दगो के लिए धार्मिक द्वेष से कहीं ज्यादा सत्ता के सघर्ष

उत्तरदायी थे। गोलमेज सम्मेलनों (1930-32) में भारतीय नेताओं द्वारा किसी समझौते पर न पहुंच पाना इस सत्ता के संघर्ष का जीता जागता सबूत है।

1928 की नेहरू रिपोर्ट में सुझाव दिया गया कि पृथक् निर्वाचन प्रणाली को पूरी तरह से समाप्त कर दिया जाना चाहिए। सारे भारत के लिए संयुक्त निर्वाचन पद्धति का सुझाव दिया गया। पंजाब और बंगाल के मुसलमानों के आरक्षण को नेहरू रिपोर्ट ने अस्वीकार कर दिया था। इस प्रकार 1919 के अधिनियम के द्वारा जहां सिर्फ 4% लोगों को मताधिकार मिला था वहीं इस रिपोर्ट में एक ही झटके में वयस्क मताधिकार प्राप्त करने का प्रयास किया गया था। इस रिपोर्ट के सुझावों की मुसलमान नेताओं ने घोर निंदा की। उनके सम्मेलनों में इसे प्रतिक्रियावादी और मुस्लिम विरोधी कहकर अस्वीकार किया गया तथा मुसलमानों से 1909 से पहले वाला रुख अपनाने पर जोर दिया। इस प्रकार मुस्लिम संप्रदाय के हितों और अन्य देशवासियों के हितों से कई दशकों से चले आ रहे संघर्ष में कोई नरमी नहीं दिखाई दी। गोलमेज सम्मेलन में मुसलमान सम्प्रदायवादियों से प्रेरणा लेकर अन्य अल्पसंख्यक समुदाय भी अपने हितों की रक्षा की मांग करने लगे। किसी निश्चित निर्णय पर पहुंचने में भारतीय नेतृत्व असफल रहा जिसके कारण इंग्लैंड के प्रधानमंत्री रैमजे मैकडोनल्ड को 'साम्प्रदायिक फैसला' देने का अवसर प्राप्त हुआ। उन्होंने *अपना फैसला सुनाते हुए कहा यह कांफ्रेंस जिस साम्प्रदायिक प्रश्न का निराकरण करने* में असमर्थ रही है उसका यदि भारत के समुदाय स्वयं निराकरण नहीं करते अर्थात ऐसा हल प्रस्तुत नहीं करते जो सब पक्षों को स्वीकार हो तो सरकार स्वयं अस्थायी योजना बनायेगी और उसे लागू करेगी। यही साम्प्रदायिक फैसला भारतीय सरकार अधिनियम 1935 का आधार बना। इसमें केवल मुसलमानों के लिए ही साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति *की व्यवस्था नहीं थी बल्कि सिक्खों भारतीय ईसाइयों और अन्य यूरोपियनों के लिए* साम्प्रदायिक निर्वाचन की व्यवस्था थी। इसमें मुसलमानों के लिए हर प्रांत में स्थानों का आरक्षण था और जिन प्रांतों में वे अल्पसंख्यक थे उनमें उन्हें अधिमान भी दिया गया था। हिंदुओं को भी उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत तथा सिंध में अधिमान मिला था। भारतीय सरकार अधिनियम 1935 द्वारा साम्प्रदायिक चुनाव प्रणाली का विस्तार कर दिये जाने के *बाद भारत विभिन्न सम्प्रदायों का अजायबघर लगने लगा। साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व ने* विभिन्न समुदायों के बीच की खाई पाटने के बजाय उसे और चौड़ा बनाया गया तथा आपसी तालमेल को असंभव बना दिया।

1909 के अधिनियम को लेकर उत्तरोत्तर साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व बढ़ता गया परिणामतः विभिन्न समुदायों में समन्वय स्थापित होने की जगह पर उत्तरोत्तर *साम्प्रदायिकता बढ़ती गयी। विभिन्न समुदायों के मध्य सामाजिक सांस्कृतिक और* राजनीतिक अलगाव व्याप्त होता गया। अल्पसंख्यक अपनी शैक्षिक और आर्थिक स्थिति को सुधारने और अन्य समुदायों की बराबरी में आने के बजाय पृथक् निर्वाचन पर ही पूर्णतः आश्रित हो गये। अल्पसंख्यक हमेशा के लिए अल्पसंख्यक बने रहे और राष्ट्र की मुख्य धारा में शामिल होने के अवसर से वंचित रहे। अंततः मुसलमान नेताओं ने दो राष्ट्र के सिद्धांत को विकसित किया, जिससे वे समझने लगे कि उनके समुदाय के हितों और

संस्कृति की अस्मिता की रक्षा हो सकेगी। यह धर्मनिरपेक्ष ताकतों की असफलता थी। यह बिना धर्म जाति वर्ग और लिंग पर आधारित नागरिकता को बहुत बड़ा धक्का था, जो कि एक धर्मनिरपेक्ष राज्य का परमावश्यक तत्त्व है।

यद्यपि भारतीय समाज में अनेक तरह की सांस्कृतिक और धार्मिक विभिन्नताएं थी, हिंदू अनेक प्रकार की जातियों उपजातियों और वर्गों में बंटे हुए थे और मुस्लिम ग्रीवन आदि में अंत तक धर्मतंत्र की गिरफ्त में था, फिर भी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस एक ऐसा प्लेटफार्म था जहां लोग धर्म जाति कुल और वर्ग की संकीर्णताओं से ऊपर उठकर इकट्ठा हुए और जन आंदोलन चलाते रहे। यह एक ऐसा वृक्ष था जिसकी छाया चाहे हिंदू या मुसलमान सिख हो या ईसाई—सबके लिए सुखदायी थी। इसने ऐसी राष्ट्रवाद की किरणें बिखरीं जिसने भारतीयों को निद्रा त्याग कर्तव्य-पथ पर चलने के लिए आहूत किया। लेकिन विडंबना यह थी कि कांग्रेस को स्पष्ट धर्मनिरपेक्ष नीतियों के बावजूद मुस्लिम लीग के नेताओं ने इसे हिंदू संप्रदाय का प्रतिनिधित्व करने वाला संगठन माना। जबकि कई मुस्लिम नेता इसके अध्यक्ष पद को सुशोभित किये। दूसरी तरफ हिंदुओं में भी एक वर्ग ऐसा था जो समझता था कि कांग्रेस मुस्लिम वर्ग को खुश रखने के लिए हिंदू हितों का हमेशा बलिदान करती रही। लेकिन इसके बावजूद कांग्रेस धार्मिक स्वतंत्रता, सभी धर्मों को समान महत्त्व देने और धार्मिक सहिष्णुता की नीति पर चलती रही। जिसके कारण रानाडे गोखले तिलक और अरविन्द घोष आदि के नेतृत्व में कांग्रेस ने सभी संप्रदायों के लोगों को अपनी तरफ आकर्षित किया। इन नेताओं ने राष्ट्रवाद को जन-जन तक पहुंचाने का प्रयास किया।

सांप्रदायिक सद्भाव का प्रयास

सन् 1920 से कांग्रेस के नेतृत्व की बागडोर महात्मा गांधी ने संभाली। उन्होंने राजनीति में नैतिकता का समावेश किया। गांधी जी के लिए धर्म और राजनीति एक ही सिक्के के दो पहलू थे आत्मा और शरीर की तरह दोनों एक-दूसरे से जुड़े हुए थे। उनके लिए धर्म से अलग कोई राजनीति नहीं थी "धर्म से रहित राजनीति मौत का फंदा है, क्योंकि वह आत्मा का गला घोंट देती है।'

गांधी जी का मानना था कि धर्म हमारे सभी कार्यों में व्याप्त होना चाहिए। धर्म ही मनुष्य को ईश्वर से और मनुष्य को मनुष्य से जोड़ता है। उनके लिए धर्म का अभिप्राय किसी पंथ विशेष से नहीं था, वे एक लौकिक व्यवस्था के अस्तित्व में विश्वास करते थे। धर्म का अर्थ— यह विश्वास है कि विश्व व्यवस्थित रूप में नैतिक नियमों के अनुसार शासित हो रहा है। वे सर्वव्यापी ईश्वर में विश्वास करते थे। जो संपूर्ण विश्व में व्याप्त एक जीवन ज्योति है और उसे वे सत्य कहते थे। उसे ही सच्चिदानंद, ब्रह्म, राम कहा जा सकता है। "वह स्वतः विद्यमान, सर्व ज्ञान संपन्न जीवंत शक्ति है, जो विश्व की अन्य सर्व शक्तियों में अंतर्निहित है।' बिना अहिंसा के सत्य को पाना संभव नहीं है। अहिंसा सर्वोच्च नैतिक तथा आध्यात्मिक शक्ति का प्रतीक है। गांधी जी कहते थे, "अहिंसा भरे

धर्म का सिद्धात है और वही मेरे कर्म का अतिम सिद्धात भी है।'

वे अपने को 'हिंदुओ का हिंदू' मानते थे, एक सनातन हिंदू मानते थे। लेकिन साथ ही अपने को उतना ही ईसाई अथवा मुसलमान कहते थे। वे सकीर्ण साप्रदायिकतावादी नही थे। उन्होंने हिंदू धर्म के नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल को अपनाया। वे हिंदू धर्म की अनेक रूढियो एव कुप्रथाओ से अवगत थे तथा उन्हे दूर करने का अथक प्रयास किया छुआछूत को जड से उखाड फेकने के लिए उन्होने कमर कस ली थी। हिंदू धर्म की सहिष्णुता के कारण वे इसके प्रति विशेष आदर रखते थे। साथ ही वे मानते थे कि यहूदी ईसाई, इस्लाम फारसी आदि धर्मो का सार भी वही है जो हिंदुत्व का है। उन्होने विभिन्न धर्मो की प्रार्थनाओ तथा धर्मग्रथो का बिना सकोच प्रयोग किया। 'सब धर्म समान नैतिक नियमो पर आधारित है। मेरा नैतिक धर्म उन नियमो से बना है, जो विश्व भर के मनुष्यो को एकता के सूत्र मे बाधते है।' वे मानते थे, "*धर्म तो अलग-अलग मार्ग है जो एक बिंदु पर जाकर मिलते है क्या* (फर्क) अतर पडता है, अगर हम अलग-अलग मार्गों मे चलते हैं और एक लक्ष्य पर पहुचते हैं। वास्तव मे जितने व्यक्ति हैं उतने ही धर्म माने जा सकते हैं।"[46] उनके लिए धर्म का *अभिप्राय परोपकार सहनशीलता न्याय, भाईचारा, शाति तथा सर्वव्यापी प्रेम था और* इसी के द्वारा व्यक्ति तथा समाज को नैतिक बनाया जा सकता है।

भारतीय समाज म समन्वयात्मक एकता स्थापित करने के उद्देश्य से गाधी जी न हिंदू और इस्लाम के समर्थको के मध्य एकता स्थापित करने का प्रयास किया। उन्होन लिखा, 'इस एकता की आवश्यकता के बारे म प्रत्येक व्यक्ति सहमत है। लेकिन प्रत्येक व्यक्ति यह नही जानता कि एकता का अभिप्राय केवल राजनीतिक एकता नही है जो थोपी जा सकती है इसका अभिप्राय है कभी न टूटन वाली दिलो की एकता। प्रत्येक काग्रेमी के लिए, चाहे वह किसी भी धर्म का हो इस एकता को प्राप्त करने क लिए यह भी आवश्यक शर्त है कि वह अपने आपम हिंदू मुसलमान ईसाई पारसी यहूदी आदि अर्थात् प्रत्येक हिंदू और अहिंदू का प्रतिनिधित्व करे। हिंदुस्तान के करोडो निवासियो मे प्रत्यक के साथ वह अपने तादात्म्य का अनुभव करे। इस प्राप्त करने के लिए प्रत्येक काग्रेसी अपने से भिन्न पथ के अनुयायियो के साथ व्यक्तिगत मैत्री विकसित करेगा। तथा वह जिस तरह का आदर अपन पथ के प्रति रखता है उसी तरह का आदर दूसरे पथो क प्रति उस रखना चाहिए।'[47] गाधी जी के इन्ही सिद्धातो ने वह आधार स्तभ तैयार किया जिन पर हमारी धर्मनिरपेक्षता का महल तैयार किया गया।

गाधी जी के सहयोगी और अनुयायी मौलाना अबुलकलाम आजाद ने इस्लाम म भी नयी दिशाओ का द्वार खोला तथा नय विचारो को आमत्रित किया। हालांकि उलमा लोग तथा साप्रदायिक मुस्लिम नेता इस्लाम का रूढिवादी जामा पहनान म कोई कसर नही छोड रहे थे। किंतु इकबाल ने इस्लाम की नयी दार्शनिक व्याख्या कर उसे विश्व जैसा विशाल और मानव जैसा महान रूप दिया। (हालाकि उनके विचारो को लेकर पाकिस्तान बना, किंतु वे जिस प्रकार का इस्लामी समाज चाहत थ वह पाकिस्तान क *समर्थक मुसलमानो का दिल दहलान वाला था*)।

प्रारभ म आजाद का मानना था कि धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद क आधार पर हिंदुओ

के लिए राष्ट्रीय पहचान बनाना संभव है किंतु मुसलमान के लिए इस्लाम से परे कुछ संभव नहीं है। किंतु गांधी जी के नेतृत्व में हिंदू मुस्लिम एकता, तुर्की तथा मिस्र में धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद और सीरिया में देश को स्वतंत्र कराने के लिए मुसलमानों तथा ईसाइयों आदि का एकजुट होना आदि ने आजाद को काफी प्रभावित किया। उन्होंने धर्म के संबंध में मौलिक दृष्टिकोण रखा। उन्होंने धर्म (दीन) को शास्त्र (शरीअत) से अलग माना। उनका कहना था कि धर्म सार्वभौम है अतः एक है जबकि शास्त्र संकीर्ण और सांप्रदायिक है इसलिए अनेक हैं। चूंकि मुसलमान धर्म (दीन) को अपने कानून (फिक्ह) के साथ जोड़ते हैं इसलिए उनके कान बंद हो गये हैं उनकी आंखों पर पर्दा पड़ गया है वे जड़ और बठर हो गये हैं। अतः धर्म को शास्त्र से अलग किया जाना चाहिए[48] उन्होंने जिहाद की नयी व्याख्या की। उनका कहना था कि इस्लाम बौद्धिक संकीर्णता जातीय अभिनिवेश और धार्मिक पक्षपात से कोसों दूर है। इसका आशय भलाई को बढ़ाना और बुराई को दूर करना है। सत्य और न्याय के अवलंबन से भलाई बढ़ती और बुराई घटती है। इसी का नाम 'जिहाद' अर्थात् 'धर्मयुद्ध' है।[49] उन्होंने हिंदुओं और मुसलमानों की सहयोग और भ्रातृत्व में एकीकृत होने पर बल दिया।

धर्मनिरपेक्ष मूल्यों के विकास में पं० जवाहर लाल नेहरू का योगदान अभूतपूर्व रहा। नेहरू गांधी जी से अत्यधिक प्रभावित थे किंतु उनका राष्ट्रवाद पूर्णतः धर्मनिरपेक्ष सिद्धांतों पर आधारित था। ब्रिटिश मानववादी उदारवाद की परंपराओं में उनकी गहरी आस्था थी। अंग्रेजी शिक्षा ने उनमें राष्ट्रवाद, अंतर्राष्ट्रीय समझ, असामाजिक उत्तरदायित्व तथा देश के अच्छे भविष्य में अटूट विश्वास की भावना को विकसित किया था। यूरोपीय शिक्षा से उनमें वैज्ञानिक प्रवृत्ति और सृजनात्मक चिंतन का काफी विकास हुआ। विद्यार्थी जीवन से ही समाजवाद उन्हें आकर्षित कर रहा था। गांधी जी के उत्कृष्ट गुणों से नेहरू काफी प्रभावित थे। उन्होंने उनके दर्शन को काफी हद तक अपनाया, हालांकि गांधी जी के कुछ विचार उन्हें मध्ययुगीन लगते थे। मानव विवेक की अंतः शक्ति और मानव की उत्तरजीविता की क्षमता में नेहरू का अटूट विश्वास था। उनका मानव मात्र की पूर्णता में विश्वास था। व्यक्ति की गरिमा और उसका आत्मसम्मान उनके लिए सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण था और इसका अपरदन वे कभी भी बर्दाश्त नहीं कर सके। ऐतिहासिक उन्नति, मनुष्य जाति की असीमित उन्नति में उनकी गहरी आस्था थी। पूर्ण मूल्य के रूप में नागरिक स्वतंत्रता में उनका अटूट विश्वास था तथा वे मानते थे कि मनुष्य की गरिमा और आत्मसम्मान को धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक प्रजातंत्र के द्वारा सही प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

नेहरू को अज्ञेयवादी कहा जाता है। उनकी पास इतिहास की अच्छी पकड़ थी, वे जानते थे कि धर्म कभी-कभी अंधविश्वास और अविवेकपूर्ण चिंतन तथा कार्य के प्रतीक के रूप में माना जाता रहा है। वे संकुचित विचारों और असहिष्णुता, आशु विश्वासिता और अंधविश्वास भावुकता और अविवेक के घोर विरोधी थे। उसे स्वार्थपरकता का नग्न पाखंड मानते थे। इसमें कोई संदेह नहीं है कि धर्मों के संस्थापक महापुरुष थे, किंतु उनके बाद आने वाले लोग तथा उनके शिष्य प्रायः महानता से दूर रहे। इतिहास गवाह है

कि जिस धर्म को लोगों को सदाचारी बनाना चाहिए था उसने लोगों को जानवर बना *दिया तथा जिसे लोगों को प्रबुद्ध बनाना चाहिए था उसने उन्हें अंधेरे में रखा, सकीर्ण तथा* असहिष्णु बना दिया। धर्म के नाम पर अनेक सद्कर्म किये गये हैं, धर्म के नाम पर ही *हज़ारो को बलि चढ़ा दिया गया है, हर सभव अपराध धर्म के नाम पर किये गये। धर्म से* उनका अभिप्राय जीवन के अतरतम् सद्गुणो, चरित्र का मूल तत्त्व, सच्चाई, प्रेम और मन *की शुद्धता से था। उनकी विज्ञान मे गहरी आस्था थी,* जो उन्हे रहस्यात्मकता से दूर रखती थी। धर्म का सबध अज्ञात से है जबकि विज्ञान का सबध ज्ञात से है। वे वैज्ञानिक दृष्टिकोण *अपनाने पर बल देते थे। विज्ञान की आलोचनात्मक प्रकृति सत्य तथा नये* ज्ञान की खोज बिना परीक्षण के किसी चीज को स्वीकार न करना, नये प्रमाण के समक्ष पूर्व के निष्कर्षों को बदलने की क्षमता, पर्यवेक्षित तथ्यो पर विश्वास, मन का कठिन अनुशासन आदि सब विज्ञान के प्रयोग मे ही आवश्यक नहीं है, बल्कि जीवन तथा उसकी अनेक समस्याओ के हल के लिए अति आवश्यक है।[50]

गाधी जी का मानना है कि अल्पसख्यको के मन को सद्भावना तथा उदारता के द्वारा जीता जा सकता है। वे उन्हे कुछ देने को तैयार थे जो भी वे मागते। नेहरू धार्मिक सहिष्णुता, सस्कृति तथा भाषा के सरक्षण को अल्पसख्यको की समस्या का निदान मानते थे। साप्रदायिकता को वे आर्थिक व्यवस्था के सबध मे देखते थे। उनके अनुसार साप्रदायिक मामला उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना कि स्वतत्रता, बेहतर आर्थिक परिस्थितिया जिन्हे वे ज्यादा महत्त्व देते थे। विदेशी शासको पूंजीपतियो और जमीदारो को विशेष रूप से उन्होंने अपना निशाना बनाया।

1927 मे नेहरू ने सोवियत रूस का भ्रमण किया तथा जिस प्रकार से रूस ने अपनी धार्मिक समस्या को हल किया था, उससे वे काफी कुछ सहमत थे। सोवियत रूस की क्राति केवल विवेकवादी और धर्मनिरपेक्ष नहीं थी, बल्कि घोर वैज्ञानिक और धर्म-विरोधी थी। कृषि क्षेत्र मे तीव्र प्रगति, कारागार सुधार, अशिक्षा उन्मूलन, औरतो के प्रति बर्ताव, अल्पसख्यको की समस्या का समाधान, व्यवहार तथा वेशभूषा मे वर्ग विभेद का विघ्वगन आदि ने उन पर ऐसी छाप डाली कि वे यहा से तो गये गाधी के समर्पित शिष्य के रूप मे, किन्तु लौटे एक सकोचशील उग्र सुधारवादी क्रातिकारी के रूप मे।[51]

नेहरू ने अतीत के बारे मे मार्क्सवादी विश्लेषण को हमेशा बहुत ही वैज्ञानिक और प्रबोधक माना। किन्तु वे नागरिक स्वतत्रता की आवश्यकता मे विश्वास और गाधी जी द्वारा प्रतिष्ठित अहिसा द्वारा सतुलित मार्क्सवाद को स्वीकार करते थे। वे ऐसे मार्क्सवादी थे, जो मार्क्सवाद के तर्क मे विश्वास नहीं रखते थे तथा ऐसे गाधीवादी थे, जो नैतिकता के लिए अराजकता को स्वीकार नहीं करते थे।[52] धर्मनिरपेक्षीकरण को काफी लबे समय तक चलने वाली प्रक्रिया के रूप मे देखते थे, जिसका औद्योगीकरण तथा आम *लोगों की शिक्षा (धर्मनिरपेक्ष) से घनिष्ठ सबध है। इसके लिए एक लबे समय की* योजना की आवश्यकता है, जो आजादी के बाद ही सभव है। उनका विश्वास था कि आर्थिक और सामाजिक विकास के साथ ही सप्रदायवाद गायब हो जायेगा। नेहरू विश्वस्त थे कि दुनिया की समस्याओ और भारत की समस्याओ के समाधान को एक

मात्र कुंजी समाजवाद में है। सुभाष चंद्र बोस प० जवाहर लाल नेहरू से पूर्णतया सहमत नहीं थे, क्योंकि वे साम्यवाद के अलावा फासीवाद पर भी आस्था रखते थे। वे भारत में इन दोनों का सामंजस्य चाहते थे। उनके अनुसार, "हर बात को सोचते हुए कोई भी व्यक्ति यह मानने की ओर झुकता है कि विश्व-इतिहास का अगला दौर साम्यवाद और फासीवाद के समन्वय को पैदा करेगा और क्या यह आश्चर्य की बात होगी कि यह समन्वय भारत में ही तैयार हो।"[53] दूसरी तरफ कुछ विचारकों का मानना था कि एक धार्मिक समाज में धर्मनिरपेक्ष राज्य संभव नहीं है। धर्मनिरपेक्षता के लिए विवेकवादी तथा भौतिकवादी आधार आवश्यक है। इस तरह के विचार मार्क्स के भौतिकवाद की देन थे। इस तरह के विचारकों में मानवेन्द्रनाथ राय प्रमुख थे। उनका मानना था कि भारत में जो सबसे महत्त्वपूर्ण सामाजिक सुधार किया जाना है, वह है समाज से धार्मिक दृष्टिकोण को समाप्त करना। आरंभ में वे मार्क्सवाद तथा साम्यवाद के अत्यधिक प्रशंसक थे। गांधी जी की विचारधारा की उन्होंने 'दर्शन रहित,' 'कट्टर धर्म' 'सांस्कृतिक पिछड़ापन' 'अंध विश्वास' आदि शब्दों द्वारा की। किंतु थोड़े समय बाद वे साम्यवादी विचारों से अलग हो गये तथा नये विचारों को अपनाया जिसे 'रेडीकल ह्यूमेनिज्म' की संज्ञा दी। जीवन के बारे में उनका दृष्टिकोण था—एक धर्मनिरपेक्ष मानववादी सदाचार और एक क्रांतिकारी सामाजिक दर्शन। इसके लिए आध्यात्मिक आधार पुनर्निर्दिष्ट भौतिकवाद प्रदान कर सकता है। अलौकिक को समाप्त करके ही मानव को आध्यात्मिक रूप से स्वतंत्र बनाया जा सकता है। उन्होंने अपने ग्रंथों में मनुष्य की सहजात बौद्धिकता की चर्चा की। उन्होंने व्यक्ति के गौरव का प्रतिपादन किया तथा अंतर्राष्ट्रीयता पर बल दिया। उनके इन विचारों को 'नया मानववाद' कहा गया। राय का प्रभाव एक सीमित बुद्धिजीवियों के वर्ग तक ही सीमित रहा। आम जनता का जहां तक सवाल है, उनमें गांधी जैसी पकड़ किसी की नहीं थी। यही कारण है कि भारतीय धर्मनिरपेक्षवाद पर सबसे ज्यादा प्रभाव गांधी जी का ही है।

नागरिक अधिकारों पर बल

वैसे तो भारत में नागरिक अधिकारों की कहानी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के गठन से ही शुरू हो जाती है। भारतीय भी उसी तरह के अधिकारों तथा विशेषाधिकारों की कामना कर रहे थे, जिस तरह के अधिकारों का उपभोग अंग्रेजी शासक भारत में कर रहे थे या ब्रिटेन के नागरिकों को प्राप्त थे। वे अंग्रेजी शासन के अंदर व्यवहार में लाये जा रहे भेदभाव को समाप्त करना चाहते थे। मौलिक अधिकारों के लिए पहली बार स्पष्ट मांग भारतीय संविधान विधेयक 1895 में दिखाई पड़ती है जिसमें विभिन्न अधिकारों की व्यवस्था की गयी थी। सन् 1917 से 1919 के बीच कांग्रेस द्वारा स्वीकार किये गये विभिन्न प्रस्तावों में नागरिक अधिकारों तथा अंग्रेजों के समान प्रतिष्ठा की समानता की मांग दुहरायी गयी। किंतु बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में कांग्रेस तथा भारतीय नेताओं में काफी शक्ति और स्फूर्ति आयी, अस्मिता की रक्षा में नयी जागरूकता आयी,

भारतीयों की *आवश्यकताओं तथा उनके अधिकारों को काफी महत्त्व और तरजीह* दी गयी। इसके निम्नलिखित कारण थे—(1) प्रथम विश्व महायुद्ध के अनुभव, (2) माण्टेग सुधारों के निराशाजनक परिणाम (3) राष्ट्रपति विल्सन का आत्मनिर्णय के लिए समर्थन, (4) गांधी जी का नेतृत्व, (5) धार्मिक भाषाई तथा जातीय अल्पसंख्यकों को राष्ट्र की मुख्य धारा के साथ ले चलने के लिए उनके अंदर निष्ठा और विश्वास की भावना को भरने की इच्छा। *तीसरे दशक के मध्य तक कांग्रेस द्वारा मौलिक अधिकारों* की माँग जोर पकड़ने लगी। 1925 में श्रीमती बेसंट ने कॉमनवेल्थ आफ इंडिया बिल में सात मौलिक अधिकारों के उपबंधों का प्रारूप तैयार किया और उसके समर्थन में आंदोलन किया। इसमें अंतःकरण की स्वतंत्रता तथा कानून के समक्ष समानता आदि को काफी महत्त्व दिया गया था।

इसके तीन साल बाद मद्रास कांग्रेस (1927) के प्रस्ताव के परिणामस्वरूप सन् 1928 में एक समिति गठित हुई। जिसके अध्यक्ष मोतीलाल नेहरू बने। नेहरू ने जो *रिपोर्ट प्रस्तुत की, उसमें अल्पसंख्यकों को संरक्षण देने पर विशेष बल दिया गया था।* एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय पर प्रभुत्व स्थापित कर सके, इसके लिए अंतःकरण की स्वतंत्रता तथा अबाध रूप से धर्म को मानने और आचरण करने की स्वतंत्रता की स्पष्ट रूप से व्यवस्था की गयी थी। अल्पसंख्यकों के लिए प्रारंभिक शिक्षा की भी विशेष व्यवस्था की गयी थी। इस प्रकार अल्पसंख्यकों के भय को दूर करके उनके अंदर सुरक्षा की भावना पैदा करने का प्रयास किया गया था। सन् 1931 में कांग्रेस का अधिवेशन कराची में सम्पन्न हुआ। वहाँ पर एक प्रस्ताव मौलिक अधिकारों तथा आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन *पर स्वीकार किया गया जो कि स्वतंत्र भारत के संविधान में शामिल किए जाने थे।* पुनः इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम सन् 1945 सप्रू रिपोर्ट के रूप में उठाया गया। इसमें तत्कालीन उत्पन्न अल्पसंख्यकों में भय को दूर करने का प्रयास किया गया था। राजनीतिक और नागरिक अधिकारों धर्म और पूजा की स्वतंत्रता उपभोग की स्वतंत्रता और सुरक्षा की समानता के संबंध में एक समुदाय से दूसरे समुदाय को पूर्ण समानता की माँग पर जोर दिया गया था। इस प्रकार कांग्रेस सभी धर्मों के प्रति समान व्यवहार के सिद्धांत के प्रति वचनबद्ध थी।

अतः जब हम इतिहास की दूरबीन उठाकर अतीत की पगडंडियों पर दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि भारत में धर्म की स्वतंत्रता धर्मों के प्रति राज्य की निष्पक्षता और सहिष्णुता अथवा अनेकता में एकता की बहुत प्राचीन परंपरा है। इस धरोहर को भारतीय जनमानस ने अनेक विप्लव, विपदाओं और आपदाओं के बावजूद सजाये रखा। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने इस परंपरा को बनाये रखा, तिलक गांधी जी नेहरू तथा सुभाष आदि नेताओं ने इसे सजाने और सँवारने में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी तथा आजादी के बाद अपनायी जाने वाली धर्मनिरपेक्षता के लिए आधार भूमि तैयार किया। *ऐसी आधार भूमि जिसके अभाव में अनेक तृतीय विश्व के देश उथल-पुथल के दौर में* गुजरते रहे। इसके विपरीत भारत ने 15 अगस्त, सन् 1947 की मध्य रात्रि को दिल्ली के लाल किले पर शंख ध्वनि के साथ तिरंगा झंडा फहराया। इसने इतिहास के काले पृष्ठ

पलटकर आशावाद के उज्ज्वल पृष्ठ खोले प्रजातंत्र और स्वतंत्रता तथा समानता के सिद्धांत को गले लगाया, जिसका प्रत्यक्ष परिणाम था—भारतीय धर्मनिरपेक्षता ।

संदर्भ

1 न्यू लाइट ऑन द मोस्ट एनशेंट ईस्ट (1934) पृ० 220
2 द रेनासां इन इंडिया पृ० 7 29
3 मिनिट आन इंगलिश एजूकेशन इन इंडिया (1935)
4 हिस्ट्री आफ एनशंट संस्कृत लिटरेचर पृ० 31
5 रिलिजन आफ द वेद पृ० 4-5
6 पालिटिकल थ्योरीज आफ द एनशेंट वर्ल्ड पृ० 114
7 विलोबी नचर आफ स्टेट पृ० 42
8 डब्ल्यू ए डनिंग ए हिस्टरी आफ पॉलिटिकल थ्योरीज एनशंट एंड मेडीवल पृ० xix xx
9 भारतीय दर्शन भाग 2, पृ० 682
10 एम एस धवन जी एस शर्मा (संपादक) सेक्यूलरिज्म इट्स इम्प्लिकेशंस फार ला लाइफ इन इण्डिया 1966 पृ० 116
11 महाभारत में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गयी है

धारणाद् धर्ममित्याहु धर्मेण विधृता प्रजा

य स्याद् धारण संयुक्त स धर्म इति निश्चय ॥ शांति पर्व 109,11

12 धर्मस्य गोप्ताजानीति तमभ्युत्कृष्टमेव विदमिव यन्त्रेतयाचामि मनयेत । ऐतरेय ब्राह्मण 7/17
13 छांदोग्योपनिषद् 2/23
14 तैत्तिरीयोपनिषद् 1/11
15 मनुस्मृति अध्याय 6 श्लोक 66
16 चोदनालक्षणार्थो धर्म ।
17 यतोऽभ्युदयनिश्रेयससिद्धि स धर्म ।
18 याज्ञवल्क्य स्मृति अध्याय 1, श्लोक 8 और 121
19 श्रूयता धर्म सर्वस्व श्रुत्वा चैवावधार्यताम् आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत् ॥ देवल
20 *न तत् परस्य समादध्यात् प्रतिकूल यदात्मन*

एष सामासिको धर्म कामादन्य प्रवर्तते ॥

21 शांति पर्व 36/10
22 अशोक का द्वितीय स्तंभ-लेख ।
23 धर्म और समाज 1963 पृ० 160
24 भारतीय दर्शन भाग 1, पृ० 20-21
25 हिंदू व्यूज ऑफ लाइफ 1949, पृ० 41
26 ऋग्वेद मंडल x, न 129
27 डी ई स्मिथ, इंडिया ऐज ए सेक्यूलर स्टेट पृ० 61-62
28 इंडियन फिलासफी खंड 1, पृ० 32
29 वही पृ० 48
30 सिक्स सिस्टम्स ऑफ इंडियन फिलासफी पृ० 17
31 कास्ट एंड क्लास इन इंडिया, बंबई 1950, पृ० 47 52

32. *वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।*
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥ (मनुस्मृति II 12)

33 *राधाकृष्णन् भारतीय दर्शन भाग 1 1986 पृ॰ 21*

34 अद्भुत भारत 1984, पृ॰ 290

35 यू एन घोषल ए हिस्ट्री आफ इंडियन पालिटिकल आइडियाज 1959 पृ॰ 9-12

36 ए आई आर (जनरल) 18-(1963)

37 डॉ यू एन घोषल (अनुवादक) रामचन्द्र सघी हिंदुओ के राजनीतिक सिद्धांत 1950 पृ॰ 86

38 स्टीवेन रनसीमान ए हिस्ट्री आफ द क्रूसेड्स खंड 8 (1954) पृ॰ 474

39 जी एस घुर्ये कास्ट एंड रेस इन इंडिया (1938) पृ॰ 24 पर उद्धृत

40 राममोहन राय ए लेटर आन एजुकेशन में सी घोष (सपादक) दि इगलिश वर्क्स आफ राजा राममोहन राय, 1906 पृ॰ 447

41 सुशोभन सरकार बेंगाल रेनासाँ एंड अदर ऐसेज 1970, पृ॰ 111

42. विपिनचन्द्र (सपादक) आधुनिक भारत (मैकमिलन) के एन पनिक्कर पृ॰ 65

43 दि डाक्ट्रिन आफ पेसिव रेसिस्टेन्स पृ॰ 73-79

44 अरविन्द घोष स्पीचज़, पृ॰ 7 9

45 जवाहरलाल नेहरू डिस्कवरी आफ इंडिया पृ॰ 295-96

46 हिंद स्वराज पृ॰ 24

47 कन्स्ट्रक्टिव प्रोग्राम 1941 पृ॰ 4

48 अल बलाग भाग 1, अंक 1, 12 नवबर 1915

49 अल हिलाल 1 जनवरी 1913

50 सिलेक्टिड राइटिंग्स ऑफ जवाहरलाल नेहरू 1916-1950 (सपादक) ज एस ब्राइट

51 सर्वपल्ली गोपाल जवाहरलाल नहरू 1975 पृ॰ 108 109

52 मोरिस जोन्स इंडियन गवर्नमेंट एंड पॉलिटिक्स 1971

53 द इंडियन स्ट्रगल पृ॰ 346-47

3
सवैधानिक उपबध और न्यायिक पुनरीक्षण

अग्रेज़ी शासन ने जहा हमे अग्रेज़ी शिक्षा दी, सरकार तथा प्रशासन की अनेक अच्छी बातो की जानकारी दी और भौगोलिक एकता दी, वही पर फूट डालकर देश को विभाजित भी किया, साथ ही देश की एकता के भविष्य को भी अधकारमय बना दिया। जाति, सप्रदाय, भाषा और धर्म पर आधारित विभेदो को सत्ता मे बने रहने के लिए सरकार ने भरपूर इस्तेमाल किया। एक ऐसी अर्थव्यवस्था दी जो कुलीनतत्रीय थी, पिछडी हुई थी, जिसका विकास अवरुद्ध था जो कुछ लोगो के शोषण पर आधारित थी। एक तरफ सामती जीवन ऐशोआराम मे भरा जीवन था तो दूसरी तरफ एसे लोग थे, अभाव ही जिनका जीवन था निर्धनता ही जिनका कुटुब था, सिसकिया और आह भर-भरकर प्राण दे देना ही जिनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य था। भूख अशिक्षा बीमारी और मुसीबते जिनकी नियति थी। धार्मिकता दैवी अधिकार कुलीनता, जातीयता आदि पारपरिक रूप से भारतीय समाज के ढाचे के मूल भाग थे। उत्पादन की शक्तियो मे गतिहीनता और एक ऐसे सामाजिक तथा आर्थिक ढाचे का उदय— जो न तो परपरात्मक था और न ही आधुनिक— दोनो सामाजिक रूढिवाद और धर्मनिरपेक्षता की विरोधी शक्तियो के विकास को धरातल प्रदान कर रही थी।

राजनीतिक पराधीनता ने भारत मे मानवीय गरिमा और आत्मसम्मान का गला दबोच रखा था। भारत के लोग बौद्धिक रूप म अग्रेज़ी शासको के समान थे, कुछ तो उनसे ज्यादा थे, फिर भी अग्रेज़ी शासक उन्हे घटिया स्तर का समझते रहे। अभिव्यक्ति की स्वतत्रता, समानता आदि मौलिक मानव अधिकारो के लिए भारतीय मानस तरस रहा था। आज़ादी से पहले भारत मे एसे सगठन थे जिन्हे प्रतिनिधिमूलक सस्थाए कहा जाता था, किंतु उसे प्रजातत्र नही कहा जा सकता था, अधिक-से-अधिक प्रजातत्र के लिए प्रशिक्षण माना जा सकता था। थोडे म लोगो को ही मतदान के सीमित अधिकार थे। मतदान का अधिकार आर्थिक या शैक्षणिक स्तर के आधार पर दिया गया था। आज़ादी से पूर्व और बाद के वर्षों मे जो खून की होली खेली गयी, उसकी छीटे देश के सामाजिक परिधान पर आज भी दिखाई पडती हैं और न ही जल्दी मिटेगी। अनेक मासूम बच्चो के

सिर से पिता का साया छिन गया, वे अनाथ हो गये। माताओं की गोद सूनी हो गयी, सुहागिनियों के माथे से सिंदूर पोंछ उठे। असंख्य मां-बहनों की इज्जत लूटी गयी बच्चों के धड़ से तलवार की धार तेज की गयी। इतनी संपत्ति का नुकसान हुआ कि उसका अनुमान ही नहीं लगाया जा सकता। जिंदगी की आंखों में मौत का खुमार छाया हुआ था। हिंसा, वैमनस्य, घृणा और अशांति प्रेम, अहिंसा शांति और सद्‌भावना की कब्र पर घी के दीये जला रहे थे।

संविधान निर्माताओं को अनेक प्रकार की भिन्नताओं वाले देश भारत में राजनीतिक एकता मजबूत करनी थी राष्ट्रीय एकीकरण को बल प्रदान करना था दल-दल में फंसी आर्थिक व्यवस्था की गाड़ी को साफ-सुथरे रास्ते पर लाना था। समाज के जातिवाद, संप्रदायवाद, धार्मिक अंधविश्वास के कोढ़ का इलाज करना था। शिक्षा प्रणाली के दूषण तथा सांस्कृतिक मंडाध को दूर करना था ताकि राष्ट्र की फुलबगिया का भविष्य उज्ज्वल हो, किशोर कलियों और नूतन पुष्प अपनी अंतिम सांसें गिनने के बजाय चमन की बांहों में मधुमास के भीने आंचल में खुशबू बिखर सकें। प्रजातंत्र के विचारकों का मानना है कि प्रजातंत्र की सफलता के लिए आर्थिक विकास आवश्यक है। पश्चिम के विकसित देशों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि आर्थिक विकास और राजनीतिक एकीकरण प्रजातंत्र की पूर्व शर्त है तथा प्रजातंत्र और धर्मनिरपेक्षता एक-दूसरे के पूरक हैं और एक-दूसरे को मजबूत बनाते हैं। एक के अभाव में दूसरा अधूरा रह जाता है। प्रजातंत्र के अभाव में धर्मनिरपेक्षता मताग्रह की शिकार हो जाती है और इसी प्रकार धर्मनिरपेक्षता के अभाव में प्रजातंत्र रूढ़िवाद, अलगाववाद तानाशाही अथवा फासीवाद का शिकार हो जाता है। एक निर्धनता, जातीय भिन्नता और विकास की समस्याओं की अत्यधिक जटिलता का परिवेश होने के बावजूद संविधान निर्माताओं ने धर्मनिरपेक्ष प्रजातंत्र को अपनाया। वे गांधी जी के साधन और साध्य की शुद्धता से प्रभावित थे। इसलिए भारत में सामाजिक और आर्थिक क्रांति के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए धर्मनिरपेक्षता पर आधारित प्रजातंत्र को अपनाया, साथ ही जैसाकि हमने पिछले अध्याय में देखा कि भारत की सामाजिक बाह्याडिकी (सोसल कास्मोलाजी) ऐसी है जो कि धर्मनिरपेक्षता पर आधारित प्रजातंत्र के विकास के अनुकूल है। वास्तव में देखा जाये तो पश्चिमी देशों की धर्मनिरपेक्षता दो क्रांतियों की देन है, प्रथमतः वैज्ञानिक क्रांति और द्वितीयतः औद्योगिक क्रांति, जिसके कारण लोगों ने रोजमर्रा की जिंदगी के उत्तरदायित्वों, व्यवहारों और संस्थाओं को बिना ईश्वरी सत्ता का उल्लेख किये समझना और अनुभव करना प्रारंभ किया। भारत में धर्मनिरपेक्षता का विकास एक निश्चित सीमा तक पश्चिमी चिंतन के साथ भारत के लगभग 300 वर्षों के संपर्क से प्रभावित हुआ है। किंतु धर्मनिरपेक्षता के बीज को अंकुरित करने, उपजाऊ धरती प्रदान करने तथा इसके विकास को प्रशस्त बनाने में भारत की सामाजिक बाह्याडकी का ही योगदान है।

नेहरू जी और डॉ. अम्बेडकर आदि नेता इस बात को भलीभांति जानते थे कि पृथक् धर्म तथा क्षेत्र, संप्रदाय तथा जातियों को राजनीति का धर्मनिरपेक्षीकरण करके

तथा अल्पसंख्यकों में सुरक्षा तथा लगाव का भाव पैदा करके ही एक साथ रखा जा सकता है। यह बात नेहरू के 13 दिसंबर 1946 के महान उद्देश्य पत्र में स्पष्ट रूप से व्यक्त होती है। इसमें कहा गया

1. संविधान-सभा यह घोषित करती है कि इसका ध्येय व संकल्प भारत को एक सर्वोच्च प्रजातांत्रिक गणराज्य बनाना है तथा इसके भावी शासन के लिए एक संविधान का निर्माण करना है।
2. स्वतंत्र व प्रभुत्व संपन्न भारतीय संघ और उसकी इकाइयां व सरकार के अंगों की समस्त सत्ता का मूल स्रोत जनता है।
3. भारत में सभी नागरिकों को सामाजिक आर्थिक व राजनीतिक न्याय, प्रतिष्ठा कानून के समक्ष व अवसरों की समानता न्याय व सार्वजनिक सदाचार की सीमा में विचार अभिव्यक्ति धर्म उपासना विश्वास और कार्य की स्वतंत्रता की प्रत्याभूति होगी।
4. संविधान द्वारा भारत के अल्पसंख्यकों पिछड़ी जातियों और अन्य जातियों व अनुसूचित जातियों के लिए पर्याप्त संरक्षण की व्यवस्था होगी।
5. भारतीय गणतंत्र की क्षेत्रीय अखंडता व उसके जल थल व वायु क्षेत्र की संप्रभुता की न्याय व सभ्य राष्ट्रों के कानूनों के अनुसार रक्षा की जायगी।
6. इस प्राचीन देश ने विश्व में अपना समुचित व सम्मानित स्थान प्राप्त किया है और हम सभी भारतवासी विश्व में शांति बनाये रखने व मानव जाति के कल्याण-कार्यों में अपना पूर्ण सहयोग प्रदान करेंगे।

नेहरू ने इसे एक सुदृढ़ निश्चय एक प्रतिज्ञा व एक संकल्प कहा है यह उद्देश्य-पत्र एक महान आधारशिला थी जिस पर भारतीय संविधान के भव्य महल का निर्माण किया गया।

संविधान सभा द्वारा 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द का संविधान में उल्लेख नहीं है

आरंभ में संविधान में कहीं भी 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द का जिक्र नहीं किया गया था, इसका उल्लेख न तो भारतीय गणतंत्र के चरित्र के संबंध में उद्देशिका में और न ही संविधान के अंदर कहीं किया गया।[1] नेहरू जी अपने उद्देश्य-पत्र में तथा डॉ० अम्बेडकर ने अपने संविधान-सभा में विदाई के भाषण में भी इस शब्द का उल्लेख नहीं किया। यह भी सत्य है कि यह कोई भूलवश नहीं किया गया बल्कि लोगों ने जानबूझकर इसका उल्लेख न करने को उचित समझा। संविधान सभा की कार्यवाही से यह ज्ञात होता है कि प्रो० के०टी० शाह ने सेक्यूलर (धर्मनिरपेक्ष) अथवा सेक्यूलरिज्म (धर्मनिरपेक्षता) शब्द को संविधान में सम्मिलित करवाने के दो प्रयास किये— प्रथम, संविधान के प्रारूप के अनुच्छेद 1 में उन्होंने यह संशोधन प्रस्तावित किया कि भारत एक धर्मनिरपेक्ष, संघात्मक समाजवादी राज्य संघ होगा। द्वितीय संविधान में एक नया अनुच्छेद

जोडने के लिए सशोधन प्रस्तावित किये, जिसमे यह व्यवस्था की कि भारत राज्य धर्मनिरपेक्ष होने के कारण किसी धर्म, पथ अथवा धार्मिक आचरण अथवा विश्वास से कोई सबध नही रखेगा ।

"भारत राज्य धर्मनिरपेक्ष होने के कारण किसी भी धर्म पथ, व्रतदीक्षा अथवा विश्वास से कोई सबध नहीं रखेगा और अपने नागरिको वे किसी वर्ग अथवा सघ के किसी अन्य व्यक्ति के धर्म स सबधित सभी मामलो म पूर्ण तटस्थता की धारणा रखेगा । उन्होने आगे कहा "यह किसी भी दशा मे विवादास्पद विषय नही होना चाहिए । हमने बार-बार समय-समय पर यह घोषणा की है कि भारत धर्मनिरपेक्ष राज्य है और इसलिए यह किसी धर्म के मामले से, किसी विशेष विश्वास पथ अथवा मत को मानने से सबधित मामलो से कोई सबध नही रखेगा । मैं मैं बार-बार धर्म के इस पहलू पर ज़ोर दे रहा हू क्योकि वह मूलत अलौकिक क्रियाओ से सबधित होता है जबकि राज्य—बिना किसी अनादर भाव के कहा जा सकता है—मूलत एक सासारिक सगठन है ।

तजामुल हसन ने भी सविधान मे ऐसे उपबधो को सम्मिलित करन का ज़ोरदार अनुरोध किया जो कि धर्मनिरपेक्षता के विकास मे सहायक हो । उन्होने दो सशोधन पेश किये— प्रथम सशोधन उन्होने पेश किया कि (सविधान प्रारूप के) अनुच्छेद 19 के खड (1) स्पष्टीकरण को हटा दिया जाये और उसके स्थान पर यह जोड दिया जाय कि कोई भी व्यक्ति ऐसा कोई स्पष्ट निशान अथवा प्रतीक या नाम नही रखेगा और कोई भी व्यक्ति कोई एसी पोशाक नही पहनगा जिसके द्वारा उसका धर्म पहचाना जा सके । दूसरा सशोधन उन्होने पेश किया कि अनुच्छेद 19 खड (1) म धर्म का आचरण करन और प्रचार करने शब्दो के स्थान पर धर्म का आचरण व्यक्तिगत रूप मे करने शब्दो का इस्तेमाल किया जाये ।' उन्होने तर्क दिया कि धर्म व्यक्ति का और उसके विधाता के बीच का निजी मामला है । दूसरो स इसको कुछ नही लेना-देना है । यह बात स्वीकार कर लेने के बाद धर्म के प्रचार की कोई आवश्यकता नही रहती । जब धर्म एव व्यक्ति उसके विधाता से सबधित हैं तो ईमानदारी के साथ घर पर ही रहकर धर्म को माना जाना चाहिए और आचरण किया जाना चाहिए । प्रचार के लिए इसका प्रदर्शन नही किया जाना चाहिए केवल दिखावे के लिए धर्म का प्रचार जनता म नही किया जाना चाहिए । यदि इस देश म धर्म का प्रचार शुरू हो जायेगा तो धर्म प्रचारक दूसरो के लिए न्यूसेंस बन जायेंगे जबकि यह पहले से ही न्यूसेंस बन चुका है । इसलिए मेरा विनम्र निवेदन है कि भारत धर्मनिरपेक्ष राज्य है और धर्मनिरपेक्ष राज्य को धर्म से कोई सबध नही रखना चाहिए । इसलिए मेरी आपसे प्रार्थना है कि अपने धर्म को निजी रूप म मानने और आचरण करने के लिए मुझे अकेला छोड दिया जाये ।

किन्तु इस सशोधन को अस्वीकार कर दिया गया । अनेक सदस्यो ने निहित स्वार्थो के कारण धर्मनिरपेक्ष आदर्शो को अपनाये जाने का विरोध किया । इसलिए सविधान मे जो स्थान धर्मनिरपेक्ष मूल्यो को मिलना चाहिए था वह न मिल सका । लोकनाथ मिश्रा ने विरोध व्यक्त करते हुए कहा, "मैं समझता हू कि अगर सविधान प्रारूप का अनुच्छेद 13 स्वतत्रता का चार्टर (घोषणा पत्र) है तो अनुच्छेद 19 हिंदू दासता का चार्टर है । न्याय

कहता है कि इस धरती के प्राचीन धार्मिक विश्वास और संस्कृति को अगर हजारों वर्षों के दमन के बाद उचित स्थान पर पुनर्स्थापित नहीं किया जाता है तो कम-से- कम उसके साथ उचित व्यवहार किया जाये।'

दूसरी तरफ अपने पिछड़ेपन और रूढ़िवादिता के दामन में उलझे हुए मुहम्मद इस्माइल साहिब यह सुनिश्चित करना चाह रहे थे कि जब राज्य धर्म के धर्मनिरपेक्ष पहलू के संबंध में कुछ करता है तो उसे स्वीय विधि को नहीं छूना चाहिए, क्योंकि स्वीय विधि का पालन लोग युगों से करते चले आ रहे हैं।

डॉ० अम्बेडकर ने संशोधनों को स्वीकार नहीं किया। संविधान निर्माताओं ने धर्मनिरपेक्षता को संविधान का आधारभूत सिद्धांत माना किंतु संविधान में कहीं भी इस शब्द का प्रयोग नहीं किया गया। ऐसा अनजाने में नहीं बल्कि जानबूझकर किया गया था क्योंकि संविधान निर्माताओं को यह आशंका थी कि अगर धर्मनिरपेक्षता शब्द का प्रयोग किया गया तो भारत में भी ईसाई देशों की भांति धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धर्मविरोध से ले लिया जायगा। अमरीका की तरह अनावश्यक विवाद उठ खड़ा होगा जिसका कि हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं। दूसरा धर्मनिरपेक्षता का अभिप्राय राज्य और धर्म के बीच पृथक्करण से ले लिया जायेगा तो वह भारत जैसे देश में सामाजिक विकास की गति को कुंठित कर देगा। क्योंकि इतिहास साक्षी है कि धर्म के नाम पर अंधविश्वास के कारण, अज्ञानता में अथवा दुष्टता से अनेक जघन्य और समाज विरोधी कार्यों को भी संरक्षण देने का प्रयत्न किया गया है। दूसरे धर्मों के अनुयायियों पर अत्याचार हुए हैं। धर्म के नाम पर अनेक प्रकार की बुराइयां और नृशंसताएं पनपती हैं नर बलि, सती अस्पृश्यता देवदासी बाल विवाह आदि कुरीतियों ने समाज को क्षयरोग ग्रस्त बना दिया था इन कुरीतियों और नृशंसताओं को राज्य और धर्म के बीच पृथक्करण के द्वारा नहीं दूर किया जा सकता है। संविधान निर्माताओं का धर्मनिरपेक्षता से अभिप्राय था कि राज्य किसी विशेष धर्म को मानने के लिए लोगों को न तो प्रोत्साहित करेगा और न ही हतोत्साहित करेगा और किसी व्यक्ति को किसी विशेष धर्म को मानने के परिणामस्वरूप राज्य की ओर से न कोई हानि होगी न कोई लाभ। धर्मनिरपेक्षता का तात्पर्य सभी धर्मों को समान आदर देने से है। अनन्तसायनम् आयंगार ने 7 दिसंबर 1984 को संविधान सभा में कहा 'हम राज्य को धर्मनिरपेक्ष बनाने के लिए कृत संकल्पित हैं। मेरा धर्मनिरपेक्ष शब्द से तात्पर्य किसी भी धर्म को न मानने और दैनिक जीवन में उससे कोई संबंध न रखने से नहीं है। इसका अर्थ केवल यह है कि राज्य या सरकार किसी भी धर्म विशेष की सहायता नहीं करेगी या किसी धर्म को अन्य वर्गों के विरुद्ध प्राथमिकता नहीं देगी। अतः शासन अपनी प्रवृत्ति से पूर्णतया धर्मनिरपेक्ष ही रहेगा।'

भारत में धर्मनिरपेक्षता का अभिप्राय साम्यवादी देशों की तरह धर्म विरोध से नहीं है न ही अमेरिका की तरह धर्म को राज्य से बिलकुल पृथक् करने से है और न ही ब्रिटेन की तरह एक स्थापित चर्च के साथ धर्मनिरपेक्षता से है। भारत में राज्य द्वारा सहायता प्राप्त विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा न दिये जाने की व्यवस्था है। कानून न तो किसी धर्ममत को संरक्षण प्रदान करता है और न ही नास्तिकता को दंडनीय मानता है।

किंतु धर्मों से पृथक्ता बनाये रखने के बदले राज्य सभी धर्मों से समान सबध स्थापित करता है, सभी धर्मों को समान आदर प्रदान करता है। भारतीय सविधान धार्मिक स्वतत्रता के अधिकारो को मौलिक अधिकारो के रूप मे स्थान देता है। अत हमारा सविधान 'धर्म की स्वतत्रता' के साथ-साथ कई परिस्थितियो मे धर्म से स्वतत्रता दिलाता है। देश मे साम्प्रदायिकता मे हो रही वृद्धि को देखते हुए, सविधान को सशोधित करके धर्मनिरपेक्ष शब्द को उद्देशिका म सम्मिलित कर लिया गया तथा अनुच्छेद 51 क (ज) मे यह उपबधित किया गया कि भारत म प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे। यद्यपि धर्मनिरपेक्षता हमारे सविधान म निहित समझी जाती थी 42वे सविधान सशोधन अधिनियम (1976) द्वारा उद्देशिका म धर्मनिरपेक्ष' शब्द जुड जाने म प्रत्यक्ष हो गया है।

उद्देशिका स्वय म शक्ति का स्रोत नही है। विधायी सदर्भों म उस सविधान का अश नही माना जा सकता है, न्यायपालिका से यह अपेक्षित नही है कि वह उद्देशिका म सबधित विधायी या प्रशासकीय कार्यों को कानूनी या सवैधानिक औचित्य के आधार पर विचारार्थ स्वीकार करे। इसके बावजूद उद्देशिका विधान द्वारा लक्षित उद्देश्यो पर पर्याप्त प्रकाश डाल सकती है। इसका उद्देश्य—निरकुशता के सभी अवशेषो और निर्जीव रूढियो के अदृश्य लक्षणो को मिटाना है। सशोधन द्वारा 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द को जोड देने स महत्त्वपूर्ण लाभ यह हुआ है कि विधि निर्माण तथा न्यायिक निर्णय आदि मे सरकार द्वारा उद्देशिका के इस उद्देश्य और भावना को ध्यान म रखा जायेगा।

धर्मनिरपेक्ष मूल्यो से सबधित सवैधानिक उपबध

विदेशी शासन स मुक्ति भारत के आधुनिक राष्ट्र के रूप मे विकास की दिशा म पहला कदम था सन् 1947 मे देश म राजनीतिक क्राति सफल हुई। इतिहास के काले पन्ने पलटकर उज्ज्वल भविष्य के पृष्ठ खोले गये। किंतु केवल राजनीतिक क्राति पर्याप्त नही थी। भारत को आधुनिक राष्ट्र बनाने के लिए सामाजिक और आर्थिक क्राति अत्यत आवश्यक थी। यही कारण है कि सविधान निर्माताओ ने किसी सिद्धात विशेष म चिपके रहने के बजाय अभसियत का सामना करना अधिक उचित समझा क्योंकि अमरीका आदि देशो की भाति धर्म और राज्य मे पृथक्करण अपनाने का मतलब था— सामाजिक वास्तविकताओ से मुह मोडना। अगर भारत म राज्य म धर्म ने अपना हाथ खीच लिया होता तो शायद काफी समय म अपेक्षित सुधारो को लागू करना सभव न होता। जातीय कट्टरता छुआछूत बहुपत्नी विवाह आदि मानव-समानता, आपसी सौहार्द तथा स्त्रियो के सम्मान का गला घोटते रहते। भारतीय समाज के अशिक्षित और दलित वर्ग अनेक धार्मिक अधविश्वासो एव कुप्रथाओ क बोझ तले दब रहते। सामाजिक और आर्थिक रूप म पिछडे हुए लोगो का शोषण होता रहता। सार्वजनिक स्थान उनकी पहुच स बाहर ही बने रहते। इसलिए धर्मनिरपेक्षता क सिद्धातो को भारत की परिस्थितियो क अनुरूप परिवर्तित करक अपनाया गया है। हिंदू धर्म क सगठित धर्म न होन क कारण सुधारो म बडी कठिनाई आती है

इसलिए राज्य को यह कार्य अपने हाथो मे लेना आवश्यक था। दूसरे, देश के विभाजन का दोष इस्लाम पर मढा गया हालांकि विभाजन के लिए जिम्मेदार ज्यादातर मुसलमान पाकिस्तान चले गये। फिर भी बहुत बडी सख्या में लोग भारत म भी रह गये। उनके अदर सुरक्षा की भावना भरी जानी थी। तीसरे जाने-अनजाने विभाजन के कलक का भाव उन मुसलमानो के मन मे भी समाया हुआ था जिनका देश के विभाजन से कुछ नहीं लेना था। उनके उस भाव को दूर कर देश को मुख्य धारा से जोडना था। इसके लिए सविधान में अनेक उपबधो की व्यवस्था की गयी।

भारत मे नागरिकता व्यक्ति के किसी धर्म विशेष के साथ सबध पर आधारित नही है। सविधान के लागू होने के समय मे नागरिकता मुख्यत भारत के राज्य-क्षेत्र मे अधिवास के आधार पर दी गयी है।[2] नागरिकता प्राप्त करने के दो और तरीके हैं—प्रथम भारत को प्रवास के द्वारा।[3] द्वितीय भारत के बाहर रहने वाले भारतीय उद्भव का व्यक्ति नागरिक बन सकता है यदि वह नागरिकता प्राप्ति के लिए भारत डोमिनियन की सरकार द्वारा या भारत सरकार द्वारा विहित प्रारूप मे और रीति से उसके द्वारा उस देश मे जहा वह तत्समय निवास कर रहा है भारत के राजनीतिक या कौंसिलीय प्रतिनिधि को इस सविधान के प्रारभ से पहले या उसके पश्चात् आवेदन किये जाने पर ऐसे राजनयिक या कौंसिलीय प्रतिनिधि द्वारा भारत का नागरिक रजिस्ट्रीकृत कर लिया गया है।[4] भारतीय नागरिकता प्राप्त करने का आधार धर्म नही बल्कि जन्म, अवजनन रजिस्ट्रेशन देशीयकरण और किसी राज्य क्षेत्र का भारत सघ मे सम्मिलित होना है।[5] इस प्रकार भारतीय सविधान व्यक्ति के धर्म सप्रदाय अथवा सामाजिक भेदभाव को ध्यान मे बिना रख नागरिकता प्रदान करता है। हिंदू 80% मे भी ज्यादा होने के बावजूद उनके साथ कोई तरजीह बर्ताव नही किया जाता है। धार्मिक अल्पसख्यक नास्तिक और अज्ञेयवादी सभी नागरिकता के पूर्ण अधिकारो के हकदार हैं।

ब्रिटिश शासन के दौरान प्रतिनिधित्व का आधार धर्म और सप्रदाय पर आधारित था। भारतीय सविधान ने साप्रदायिक प्रतिनिधित्व को दफना दिया। सार्वजनिक वयस्क मताधिकार नागरिको की धर्मनिरपेक्षता को और अधिक प्रबल तथा सार्थक बना देता है। सविधान यह उपबधित करता है कि ससद के प्रत्येक सदन या किसी राज्य के विधानमडल के सदन या प्रत्येक सदन के लिए, निर्वाचन के लिए प्रत्येक प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र के लिए एक साधारण निर्वाचन नामावली होगी और केवल धर्म, मूलवश, जाति, लिग या इनमे से किसी के आधार पर कोई व्यक्ति ऐसी किसी नामावली मे सम्मिलित किये जाने के लिए अपात्र नहीं होगा या ऐसे किसी निर्वाचन क्षेत्र के लिए किसी विशेष निर्वाचन नामावली मे सम्मिलित किये जाने का दावा नही करेगा। अनेक अन्य उपबध भारतीय सविधान म धर्मनिरपेक्ष मूल्यो को स्थापित करते हैं।

अनुच्छेद 14 भारत मे विधि के शासन को स्वीकार करता है। इसके अनुसार राज्य भारत की सीमाओ के अतर्गत किसी व्यक्ति को कानून के समक्ष समानता तथा कानून के समान सरक्षण से वचित नही करेगा।

अनुच्छेद 15 के अनुसार, राज्य किसी व्यक्ति के साथ उसकी नस्ल, धर्म व जाति के

आधार पर विभेद नहीं करेगा। आगे यह प्रावधान भी किया गया है कि धर्म जाति व नस्ल आदि के आधारों पर किसी भी नागरिक को दुकानों सार्वजनिक भोजनालयों जलगृहों मनोरंजन स्थलों आदि में प्रवेश करने पर या राज्य के कोष द्वारा आंशिक या पूर्ण रूप में सहायता प्राप्त कुओं तालाबों सड़कों व सार्वजनिक विश्राम स्थलों के उपयोग पर कोई बाध्यता या अयोग्यता लागू नहीं की जा सकती।

अनुच्छेद 16 के अनुसार किसी नागरिक को धर्म जाति या नस्ल के आधार पर सार्वजनिक सेवाओं के लिए अयोग्य व अपात्र घोषित नहीं किया जायगा और न ही राज्य द्वारा आंशिक या पूर्ण रूप में सहायता प्राप्त किसी शैक्षिक संस्था में प्रवेश से वंचित किया जायेगा। इस प्रकार के उपबंध के द्वारा राज्य सभी धर्मों से पूर्ण तटस्थता का संबंध रखता है। यद्यपि अनुच्छेद 15 (4) इसके प्रतिकूल लगता है क्योंकि 1951 में इस अनुच्छेद के द्वारा यह व्यवस्था कर दी गयी कि राज्य सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिकों के किन्हीं वर्गों की उन्नति के लिए या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए कोई विशेष उपबंध कर सकेगा। वास्तव में इस प्रकार का संरक्षणात्मक विभेद दलित और शोषित लोगों को एक प्रतिष्ठित और स्वतंत्र जीवन के लिए आवश्यक न्यूनतम सामाजिक परिस्थितियाँ उपलब्ध कराने के लिए आवश्यक था। ताकि इन वर्गों का समाज के अन्य वर्गों के साथ एकीकरण किया जा सके।

अनुच्छेद 17 के अनुसार छुआछूत समाप्त कर दिया गया है और किसी भी रूप में इसका पालन वर्जित है। अस्पृश्यता के आधार पर किसी प्रकार की अयोग्यता को लागू करना कानून के अंतर्गत दंडनीय अपराध होगा।

अनुच्छेद 19 के द्वारा सभी नागरिकों को बिना उनके धार्मिक अथवा सामाजिक गुट को ध्यान में रखे अनेक स्वतंत्रताएँ दी गयी है।

अनुच्छेद 25, 26, 27 और 28 निश्चय ही हमारे संविधान के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप को साकार करते है। अनुच्छेद 25 के अनुसार लोक व्यवस्था सदाचार और स्वास्थ्य तथा इस भाग के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए सभी व्यक्तियों को अंत करण की स्वतंत्रता का और धर्म के अबाध रूप में मानने आचरण करने और प्रचार करने का समान हक होगा। इस प्रकार अनुच्छेद 25 धार्मिक स्वतंत्रता के चार पहलुओं को प्रत्याभूतित करता है। वे है

1 अंत करण की स्वतंत्रता।
2 धर्म के अबाध रूप में मानने का हक।
3 आचरण करने का हक।
4 धार्मिक प्रचार करने का हक।

यहाँ यह बात स्पष्ट है कि ये धर्म की स्वतंत्रता के मूल अधिकार सभी व्यक्तियों को अर्थात् सभी धर्मों के अनुयायियों को तथा उन्हें भी जो किसी भी धर्म में आस्था नहीं रखते समान रूप में दिया गया है अर्थात् इस विषय में भी समता के सिद्धांत पर बल दिया गया है। अंत करण का अभिप्राय व्यक्ति का सही और गलत के बारे में आत्मनिष्ठ भाव होता है। अंत करण की स्वतंत्रता का अर्थ है कि व्यक्ति किसी भी विश्वास अथवा सिद्धांत को

अपनाने के लिए स्वतंत्र है जिसे वह अपनी आध्यात्मिकता मे सहायक मानता है। कोई किसी भी व्यक्ति को बाध्य नहीं कर सकता कि वह किस धर्म मे विश्वास करेगा, उसका दर्शन क्या होगा, उसके राजनीतिक विचार क्या होंगे अथवा इतिहास के किस मत को स्वीकार करेगा। इस स्वतंत्रता में यह बात निहित है कि राज्य किसी राजधर्म को नहीं अपनायेगा।

धर्म के आचरण की स्वतंत्रता निश्चय ही अंत करण की स्वतंत्रता का परिणाम है। अंत करण की स्वतंत्रता व्यक्ति का कोई आतंरिक मामला है, जो स्वयं उस व्यक्ति से ही सबधित है जबकि धार्मिक आचरण दूसरो से भी सबधित हो सकता है। धार्मिक आचरण की स्वतंत्रता का उपयोग व्यक्ति शब्दो के द्वारा या व्यवहार के द्वारा कर सकता है। धार्मिक आचरण की स्वतंत्रता में व्यक्ति खुलेआम अपने धर्ममत को व्यक्त कर सकता है। इस प्रकार हिंदू धर्म को मानने वाला यज्ञोपवीत पहन सकता है, तिलक या चदन लेप लगा सकता है सिख कृपाण धारण कर सकता है, मुसलमान रोज़ा रख सकता है और ईसाई क्रास धारण कर सकता है। धार्मिक जुलूस मे सम्मिलित हो सकता है, धार्मिक उपदेश दे सकता है और खुलेआम पूजा-पाठ कर सकता है। किंतु अनुच्छेद 25 मे दिये गये अधिकार आत्यंतिक नहीं है। अनुच्छेद के प्रारंभ में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ये अधिकार लोक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के अध्यधीन हैं। इसके अतिरिक्त ये अधिकार मूल अधिकारो के भाग 3 के भी अध्यधीन हैं। अनुच्छेद 25 (2) "धार्मिक आचरण से सबद्ध किसी आर्थिक, वित्तीय राजनीतिक या अन्य लौकिक क्रियाकलापो का विनियमन या निर्बंधन करने तथा सामाजिक कल्याण और सुधार का उपबंध करने या सार्वजनिक प्रकार की हिंदुओं की धार्मिक संस्थाओ को हिंदुओं के सभी वर्गों और विभागो के लिए खोलने की राज्य की शक्ति को सुरक्षित रखता है। इस प्रकार सविधान धार्मिक स्वतंत्रता पर सशक्त प्रतिबंध लगाता है। ये प्रतिबंध अंत करण की स्वतंत्रता पर भी लगाये गये हैं। वैसे देखा जाये तो इसकी कोई आवश्यकता नही थी क्योंकि अंत करण की स्वतंत्रता तो आत्यंतिक होती है।'

लोक व्यवस्था

यह काफी व्यापक शब्द है। इसका अभिप्राय समाज के सदस्यो म प्रशांति की स्थिति से है, क्योंकि यदि समाज में अशांति रहती है या फैलती है तो म अधिकार निरर्थक सिद्ध होंगे। धर्म का उद्देश्य मूलत मन की अशांति को दूर करना होता है और जब धर्म का पालन स्वयं अशांति का कारण बन जाये तो उस पर अंकुश लगाना आवश्यक है। क्योंकि दूसरे अन्य अधिकारो का भी उपयोग लोक अव्यवस्था के वातावरण म सभव नही हो पायेगा।

इस प्रतिबंध के अनुसार राज्य कानून पारित करके सार्वजनिक स्थलों, जैसे—सड़को गलियां और उद्यानो आदि म धार्मिक सभाओ अथवा जुलूसो पर रोक लगा सकता है। यदि जानबूझकर किसी सप्रदाय के लोगो की धार्मिक भावनाओ को आघात पहुंचाने के आशय से लेख आदि लिखे जाते है, तो राज्य उस सार्वजनिक व्यवस्था

के अधीन विधि बना कर दडनीय अपराध घोषित कर सकता है। किसी वर्ग की धार्मिक भावनाओ को ठेस पहुचाने वाले कार्यों—विभिन्न धार्मिक, नस्ल अथवा भाषा से सबधित वर्गों मे धर्म, नस्ल, भाषा, जाति अथवा सप्रदाय के आधार पर फूट डालने वाले कार्यों—पर राज्य इस आधार पर रोक लगा सकता है। इसी प्रतिबध के अधीन कुछ राज्यो ने साप्रदायिक सद्भाव को बनाये रखने के लिए गो-हत्या पर प्रतिबध लगाया है। यह प्रतिबध इतना व्यापक है कि धार्मिक कार्यों के लिए ध्वनि यत्रो के प्रयोग पर रोक लगायी जा सकती है, मेलो, जलसो और जुलूसो पर पाबदी लगायी जा सकती है। सविधान सभा के ईसाई सदस्यो के ज़ोर देने के कारण धार्मिक प्रचार की स्वतत्रता का अधिकार अनुच्छेद 25 मे दिया गया। किंतु राज्य विधि बनाकर बल प्रयोग द्वारा या छल से या प्रलोभन देकर किये जाने वाले धर्म परिवर्तन को लोक-व्यवस्था के आधार पर प्रतिषिद्ध तथा दडित कर सकता है। इसे धार्मिक प्रचार की स्वतत्रता का हनन नही माना जायेगा। **रेवरेन्ड स्टेनिसलास बनाम मध्य प्रदेश राज्य**[6] के मामले मे यह दावा किया गया था कि अनुच्छेद 25 मे धर्म के अबाध रूप से प्रचार करने के हक होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति को दूसरे धर्म के लोगो को धर्म परिवर्तन द्वारा अपने धर्म मे लाने का मूल अधिकार है। इस दावे को अस्वीकार करते हुए, उच्चतम न्यायालय ने कहा कि सविधान दूसरो का धर्म परिवर्तन कराने का कोई मूल अधिकार नही देता है। एकमत न्यायपीठ ने मत व्यक्त किया कि सविधान मे 'प्रोपेगेट' (प्रचार) शब्द को किसी नमूने की वृद्धि करने के अर्थ मे प्रयुक्त नहीं किया गया है। आक्सफोर्ड डिक्शनरी मे इस शब्द का अर्थ दिया गया है, "एक व्यक्ति से दूसरे तक तथा एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाना या विस्तृत करना, आगे बढाना या आगे ले जाना, फैलाना, बढाना, जैसाकि किसी रिपोर्ट का प्रचार करना या ईसाई धर्म का प्रचार करना।' इस प्रकार अनुच्छेद 25 का मूल अधिकार दूसरे व्यक्ति को अपने धर्म के अनुयायी के रूप मे परिवर्तित करने का अधिकार नही है, बल्कि अपने धर्म की मान्यताओं को समझकर उसका प्रचार या फैलाव करने का अधिकार है। "यह ध्यान मे रखना अनिवार्य है कि सविधान द्वारा दिये गये धर्म की स्वतत्रता के अधिकार केवल किसी एक धर्म के लिए नही बल्कि समान रूप से सभी धर्मों के लिए हैं। यदि एक धर्म को मानने वाले जान-बूझकर दूसरे धर्म के अनुयायी को अपने धर्म मे परिवर्तित करने लगे तो इससे अनुच्छेद 25 मे सभी को समान रूप से दी गयी अत करण की स्वतत्रता को आघात पहुचेगा।' जो स्वतत्रता एक के लिए है, वही स्वतत्रता समान परिमाण मे दूसरो के लिए भी है। अत दूसरो को अपने धर्म म परिवर्तित करने के मूल अधिकार जैसी किसी वस्तु के लिए कोई स्थान नहीं है।

धर्म परिवर्तन की व्यवस्था का हिदुओ ने काफी विरोध किया था। उनके द्वारा अपने समर्थन मे अनेक तर्क दिये जाते रहे हैं। यह तर्क दिया जाता है कि धर्म परिवर्तन स परिवार, जाति और गाव के सामाजिक जीवन के काफी लबे समय से चले आ रहे ढाचे भग हो जाते हैं। हिंदू समाज का ढाचा जाति पर आधारित है, व्यक्तिगत स्वतत्रता के बजाय सामाजिक सुरक्षा पर ज्यादा बल दिया जाता है, सयुक्त परिवार समाज की इकाई रहे हैं। धर्म परिवर्तन पर व्यक्ति प्राय जाति बहिष्कृत कर दिया जाता है तथा परिवार से बाहर निकाल

दिया जाता है। और ईसाइयों की संस्कृति हिंदुओं से बिलकुल भिन्न है इसीलिए ईसाई धर्म में परिवर्तन होने पर एक तरह से भारतीय संस्कृति का त्याग होता है । आजादी से पहले धर्म-परिवर्तन राजनीतिक सोच विचार के कारण होते थे। हिंदुओं का कहना था कि चूंकि मुसलमानों एवं ईसाइयों को साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व मिले हुए थे इसलिए वे अपनी संख्या को बढ़ाने के लिए धर्म परिवर्तन करते थे। वैसे 20वीं शती के पूर्वार्द्ध में हिंदुओं का आत्मविश्लेषण तथा अछूतोद्धार कुछ हद तक इसी के परिणाम थे हालांकि आज स्थिति बदल गयी है। आजादी के बाद यह तर्क दिया जाता था कि शीतयुद्ध को ध्यान में रखकर अमरिका की मिशनरियां अनेक हिंदुओं को ईसाई बनाने में लगी हुई थीं। एक अन्य तर्क दिया जाता है कि धर्म परिवर्तन के लिए अनैतिक तरीके इस्तेमाल में लाये जाते हैं— एेसे तरीके जिन पर प्रश्नचिह्न लगाया जा सकता है और फिर जब सभी धर्म सत्य हैं तो धर्म परिवर्तन का औचित्य क्या है ? गांधी जी इसके काफी विरुद्ध थे ।

दिसंबर 1954 में धर्म परिवर्तन के संबंध में एक प्राइवेट विधेयक लोकसभा में पेश किया गया था किंतु बहस के बाद विधेयक अस्वीकृत कर दिया गया। पुनः 1960 में पिछड़े समुदायों के धार्मिक संरक्षण के विधेयक की भी आवश्यकता नहीं समझी गयी और उसे अस्वीकृत कर दिया गया। यद्यपि धर्म परिवर्तन के संबंध में कोई विधेयक पारित नहीं हो सका। फिर भी हिंदू विवाह अधिनियम 1955 में कुछ ऐसे उपबंध हैं जो धर्म परिवर्तन को हतोत्साहित करते हैं। साथ ही हिंदू समुदाय की एकता को बनाए रखने तथा दूसरे धर्मों को ग्रहण करने से रोकने में अनुसूचित जातियों को दी जाने वाली शैक्षणिक तथा आर्थिक सहायता का बहुत बड़ा योगदान है।

सदाचार सदाचार के आधार पर राज्य कानून बनाकर अनैतिक कार्यों पर रोक लगा सकता है भले ही ये कार्य धर्म द्वारा अनुमान्य हों। हिंदू धर्म में कुछ ऐसी प्रथाएं विद्यमान थीं जो अनैतिक थीं। दक्षिण भारत में कुछ लोक धार्मिक आस्था के कारण लड़कियों को मंदिरों में देवी-देवताओं को सौंप देते थे जिन्हें देवदासी कहा जाता था। इससे वास्तव में मंदिरों में वेश्यावृत्ति को बढ़ावा मिलता था। इसी तरह सती प्रथा का आधार धर्म था। दीवाली के दिन भी ऐसा विश्वास किया जाता है कि द्यूत क्रीड़ा की अनुमति धर्म देता है। दास रखने की अनुमति इस्लाम धर्म देता है मुसलमान द्वारा चार बीवियां रखने और आसानी से तलाक दे देने का विषय हाल के वर्षों में काफी चर्चा का विषय रहा है। इस तरह की धार्मिक प्रथाओं को राज्य सदाचार के आधार पर अवैधानिक घोषित कर सकता है अथवा उन पर अंकुश लगा सकता है।

जन-स्वास्थ्य अमेरिका में कुछ ऐसे मामले भी देखने को आये हैं कि धार्मिक विश्वास के कारण मरीजों को रक्त नहीं चढ़ाने दिया गया है क्योंकि यह खून चूमने के समान हुआ जो कि बाइबिल द्वारा वर्जित है। इसी तरह भारत में सती की भांति निर्वाण की प्रथा चली आ रही थी। लोग मोक्ष प्राप्त करने के लिए ताड़ना सहन कर जीवन का अंत कर देते हैं या बच्चों की बलि चढ़ा देते हैं कम उम्र में बच्चों की शादी कर देते हैं। धर्म का अधिकार इस तरह के अत्याचारों की छूट नहीं देता है। राज्य इन पर स्वास्थ्य के आधार पर रोक लगा सकता है। राज्य तीर्थ स्थलों को जाने वाले तीर्थयात्रियों को टीके लगवाने के लिए बाध्य

कर सकता है तथा जन-स्वास्थ्य की रक्षा के लिए अनेक अन्य क़दम उठा सकता है। तालाबों, जलाशयों आदि में अनेक तरह के रसायनों से बनी मूर्तियों, प्रतिमाओं आदि को विसर्जित करने पर राज्य स्वास्थ्य के आधार पर रोक लगा सकता है ।

संविधान के भाग 3 द्वारा लगाये गये प्रतिबंध

संविधान के भाग तृतीय में अनेक मौलिक अधिकार दिये गये हैं जिनसे अनुच्छेद 25 की धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार में विरोध उत्पन्न हो सकता है। चूंकि अनुच्छेद 25 के अधिकार तृतीय भाग के अधिकारों के अध्यधीन है, इसलिए विरोध की स्थिति में तृतीय भाग अभिभावी होगा । अनुच्छेद 17 छुआछूत को समाप्त करता है अत धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार का सहारा लेकर छुआछूत का पालन नहीं किया जा सकता है। अनुच्छेद 23 मानव के दुर्व्यापार और बलात्‌श्रम का प्रतिषेध करता है। इसके अनुसार राज्य केवल धर्म, मूलवंश जाति या वर्ग अथवा इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद किये बिना सार्वजनिक प्रयोजनों के लिए अनिवार्य सेवा अधिरोपित कर सकता है। अत अनुच्छेद 25 के धर्म के अधिकार का सहारा लेकर अनुच्छेद 23 की व्यवस्थाओं से नहीं बचा जा सकता है ।

धार्मिक आचरण से संबद्ध लौकिक और आर्थिक क्रिया-कलापों का प्रतिबंध यह प्रतिबंध धार्मिक आचरण पर नहीं, बल्कि उससे संबद्ध उन क्रिया-कलापों पर है जो वास्तव में आर्थिक वित्तीय, राजनीतिक या अन्य लौकिक प्रकृति के होते हैं। हमारे संविधान में 'धर्म की स्वतंत्रता के साथ-साथ अनेक परिस्थितियों में धर्म से स्वतंत्रता का अधिकार दिया गया है। यह प्रतिबंध वास्तव में इसी उद्देश्य को लक्ष्य करके रखा गया है। धर्म के नाम पर किये जाने वाले अनैतिक, समाज विरोधी तथा अन्यायपूर्ण कृत्यों से मानव और उसकी गरिमा की रक्षा करने के लिए राज्य अनेक कदम उठा सकता है। यह बात अवश्य है कि धार्मिक कार्यों संबंधी विषय और धर्म से संबद्ध लौकिक विषय' के मध्य की विभाजन रेखा अनेक बार स्पष्ट नहीं होती है। जिस कारण से न्यायालयों के समक्ष अनेक मामले आये, जिनकी चर्चा हम आगे करेंगे ।

सामाजिक कल्याण और सुधार अथवा धार्मिक संस्थाओं को हिंदुओं के सभी वर्गों के लिए खोलना भारत में धार्मिक आचरण जीवन के हर पहलू में जुड़ा हुआ है। वह घरेलू और सामाजिक संबंधों को नियंत्रित करता है। किंतु कभी-कभी धार्मिक आचरण सामाजिक और नैतिक विकास में बाधक हो जाते हैं अनेक कुप्रथाएं एवं रूढ़ियां सामाजिक विकास को कुंठित कर देती हैं। ऐसी स्थिति में राज्य धार्मिक स्वतंत्रता के बावजूद सामाजिक कल्याण और सुधार के लिए विधि निर्माण कर सकता है। इस प्रकार राज्य विवाह, तलाक़, गोद लेने उत्तराधिकार, विरासत अल्पसंख्यक संरक्षकता आदि के संबंध में सामाजिक कल्याण और सुधार के लिए विधि बना सकता है ।

हिंदू धर्म में अनेक कुरीतियां घर कर गयी थीं जिनमें से कई एक ब्रिटिश काल में समाज सुधारकों तथा सरकार की मदद से समाप्त की गयीं। सती प्रथा, ठगी, नरबलि शिशुवध आदि पर रोक लगा दी गयी थी, किंतु मंदिर वेश्यावृत्ति तथा हरिजनों का मंदिर

में प्रवेश-निषेध जैसी कुरीतियां बीसवीं शताब्दी में भी प्रचलित थी। देवदासी प्रथा में वैसे काफी कमी आयी थी फिर भी दक्षिण भारत के कुछ मंदिरों में इसका चलन समाप्त नहीं हुआ था। अछूत वर्ग को भारत के अधिकांश मंदिरों में प्रवेश बिलकुल नहीं दिया जाता था। मंदिरों का प्रशासन भी सुचारु रूप में नहीं चल पा रहा था काफी भ्रष्टाचार व्याप्त था। मंदिरों का धन अधिकांश प्रबंधकों द्वारा अनाप-सनाप खर्च किया जाता था। जबकि मंदिरों में पूजा-पाठ की अवहेलना हो रही थी तथा मंदिरों की मरम्मत और रख-रखाव न होने के कारण कई एक खराब स्थिति में थे। चूंकि हिंदू धर्म में कोई ऐसा संगठन नहीं है जो धार्मिक सुधारों को लागू कर सके। इसमें आदिकाल से ही अंत करण की पूर्ण स्वतंत्रता थी इसलिए स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राज्य को एक धर्म सुधारक की भी भूमिका निभानी पड़ी।

देवदासियां मूर्तियों के सामने तथा धार्मिक शोभायात्राओं में नाचती तथा गाती थीं। यद्यपि देवदासी प्रथा की उत्पत्ति धार्मिक थी किंतु धीरे-धीरे इस प्रथा में दुर्गुण आते गये तथा अनेक देवदासियां वस्तुतः वेश्या हो गयीं। सर्वप्रथम 1909 में मैसूर राज्य में लड़कियों को मंदिरों को समर्पित करने पर रोक लगायी गयी। मद्रास विधायिका में भी 1927 में इसी प्रकार का विधेयक लोकव्यवस्था स्वास्थ्य तथा सदाचार और धर्मनिरपेक्ष आधार पर पेश किया गया था किंतु देवदासी (समर्पण निषेध) विधेयक 1947 में जाकर पास किया जा सका। इस विधेयक का विरोध केवल कुछ ही सदस्यों द्वारा किया गया था। उनका कहना था कि यह प्रथा एक धार्मिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए है उनको केवल कुछ ही देवदासियां हैं जो नैतिक रूप से पतित हैं। उनकी संख्या नगण्य है, किंतु अधिकांश सदस्यों ने इस विधेयक का समर्थन किया था। इसी तरह का कानून महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश उड़ीसा तथा अन्य राज्यों में बनाया गया। यह एक अति महत्त्वपूर्ण धार्मिक सुधार का कदम था। जिसका परिणाम यह है कि आज देवदासी प्रथा लगभग समाप्त हो चुकी है।

छुआछूत को समाप्त करने के वैसे तो आदिकाल से ही अनेक संतों तथा महात्माओं ने अनेक तरह के प्रयास किये, किंतु अछूतों को मंदिर के प्रबंधक मंदिर में प्रवेश नहीं देते थे। मंदिरों में प्रवेश के लिए सर्वप्रथम पहल देशी रियासत त्रावणकोर में किया गया। 1919 में त्रावणकोर में मंदिरों में प्रवेश देने के लिए आंदोलन चले। हालांकि आरंभ में सरकार ने इस आधार पर हस्तक्षेप करने से मना भी किया कि यह अहस्तक्षेप की नीति का उल्लंघन होगा। किंतु इसके बावजूद इस दिशा में प्रयास चलते रहे। गांधी जी के नेतृत्व में यह प्रयास और जोर पकड़ता गया। 1932 में अखिल भारतीय छुआछूत विरोधी लीग की स्थापना के साथ यह आंदोलन बढ़ता गया। महात्मा गांधी, डॉ॰ अम्बेडकर तथा अन्य कांग्रेसी नेता और समाज सुधारकों ने अछूतोद्धार के समर्थन में कमर कस लिए थे। देश में नयी जागृति आ रही थी। 1936 में बहुत बड़ी सफलता मिली जब त्रावणकोर के महाराजा ने मंदिर प्रवेश के संबंध में घोषणा की। घोषणा का सभी प्रमुख नेताओं ने स्वागत किया। अनेक ब्राह्मणों तथा हिंदू महासभा के सदस्यों ने इस हिंदू धर्म को सुदृढ़ बनाने तथा हिंदू समुदाय को एकीकृत करने में बहुत ही साहस भरा कदम

बताया। कुछ आलोचको का कहना था कि यह कदम अछूतो द्वारा धर्म-परिवर्तन को रोकने के लिए उठाया गया था। हो सकता है कि धर्म-परिवर्तन को रोकना इस घोषणा के पीछे एक कारण रहा हो, किंतु छुआछूत को समाज का प्रबुद्ध वर्ग हमेशा एक बुराई मानता आया है। नवोत्थान के बाद भारत म जागृति आयी तो हिंदू धर्म की अनक बुराइया दूर की गयीं, किंतु इस बुराई की तरफ से लोग आख कैसे मूद रहते। शिक्षा के विशेषकर धर्मनिरपेक्ष, विज्ञान के प्रचार-प्रसार के लोगो म जागरूकता आयी परिणामत छुआछूत के सामाजिक कोढ का विविध इलाज आरभ हुआ। गाधी जी का कहना था कि यह धर्म-परिवर्तन को रोकने के लिए नही बल्कि हिंदू धर्म को उस प्रथा से छुटकारा दिलाना था जो नैतिक रूप से ग़लत था। छुआछूत को समाप्त करना एक नैतिक उद्देश्य है।

अत्यधिक रूढिवादी हिंदुओं ने हरिजनो के मदिर-प्रवेश का विरोध किया, उनका मानना था कि यह धार्मिक मामलो मे हस्तक्षेप है आगमो द्वारा स्पष्ट रूप से हरिजनो का मदिर मे प्रवेश वर्जित है। यही कारण है कि उनके हित के लिए वार्षिक उत्सवो म देवी-देवताओ की शोभायात्रा निकाली जाती है ताकि हरिजन लोग भी दर्शन कर सक। किंतु इन विरोधो के बावजूद जनमत सुधार के पक्ष म था। त्रवणकोर की घोषणा के बाद मद्रास राज्य म इस दिशा म अनेक प्रयास किय गय। 1939 म एक विधेयक पारित करके ट्रस्टियो को अनुमति दे दी गयी कि जनमत अगर पक्ष म हो तो हरिजनो को मदिर म प्रवेश दे दिया जाये। परिणामत अनेक मदिरो का द्वार हरिजनो के लिए खोल दिया गया। 1947 म एक विधेयक द्वारा सभी मदिरो म हरिजनो के प्रवेश की अनुमति दे दी गयी। मद्रास के इस कदम का अनक प्रातो ने अनुकरण किया। 1955 म भारतीय ससद न अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम पारित करके छुआछूत को दडनीय अपराध घोषित कर दिया है। इसके एक उपबध ने किसी मदिर मे प्रवेश अथवा पूजा करने म छुआछूत के आधार पर रोकने को छ महीने के कारावास द्वारा दडनीय बना दिया है। वित्तीय अनियमितताओ को दूर करने के लिए तथा मदिरो और मठो के सुचारु प्रबधन के लिए राज्य सरकारो ने अनेक अधिनियम पारित किय। इन अधिनियमो को धार्मिक स्वतत्रता के हनन के आधार पर न्यायालयो मे अनेक मामलो म चुनौती दी गयी।

सरदार सैदना ताहर सैफुद्दीन साहब बनाम मुबई राज्य क मामल म बबई बहिष्कृति निवारण अधिनियम 1949 द्वारा किसी भी प्रकार की बहिष्कृति अवैध और शून्य घोषित कर दी गयी थी। दाउदी बोहरा समुदाय म बहिष्कृत किय जाने पर किसी भी दाउदी बोहरा व्यक्ति को कई सिविल अधिकारो म हाथ धाना पडता था। उदाहरणार्थ, बोहरो के सामुदायिक प्रार्थना घरो म प्रार्थना करना उनके कब्रिस्तान म अपने-अपने परिवार के मुर्दों को गाडना, उनकी सभाओ, जुलूसो और सामूहिक भाजो म भाग लेना आदि। हालाकि बबई उच्च न्यायालय ने अधिनियम को वैध करार किया था किंतु उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि यह अधिनियम दाउदी बोहरा सप्रदाय और उसके अध्यक्ष के मूल अधिकार का अतिक्रमण करता है इसलिए अवैध है। इसमे प्रत्यर्थी की ओर से यह तर्क प्रस्तुत किया गया था कि उक्त अधिनियम सामाजिक

सुधार का एक कदम है जिस कारण यह अनुच्छेद 25 (2) ख का संरक्षण प्राप्त करने की अर्हता रखता है। इसलिए अवैध नहीं है। विसम्मत निर्णय में मुख्य न्यायाधिपति बी० पी० सिन्हा ने तो इस तर्क को स्वीकार भी किया परन्तु बहुमत की ओर से कहा गया कि विचाराधीन अधिनियम को सामाजिक सुधार का अधिनियम नहीं कहा जा सकता। बहुमत के अनुसार यदि अधिनियम धार्मिक आधारों के अतिरिक्त अन्य आधारों पर उदाहरणार्थ किसी अनुचित सामाजिक रूढ़ि या नियम के पालन में त्रुटि के आधार पर बहिष्कृति के विरुद्ध उपबंध करता तो उसे सामाजिक सुधार कहा जा सकता था और अनुच्छेद 25 (2) (ख) का संरक्षण प्राप्त हो सकता था। परन्तु उसने तो धार्मिक और सामाजिक दोनों ही आधारों पर बहिष्कृति को प्रतिषिद्ध किया है और धार्मिक आधार पर बहिष्कृति को प्रतिषिद्ध करना अनुच्छेद 25 (2) (ख) का संरक्षण नहीं पा सकता। इस प्रकार इस निर्णय में सामाजिक सुधार की बड़ी ही संकीर्ण व्याख्या की गयी है। धर्मगुरुओं की निरंकुशता और उनके द्वारा किये जाने वाले शोषण को न्यायालय रोकने में असमर्थ रहा।[7]

बिहार राज्य ने बिहार पशु परिरक्षण और सुधार अधिनियम 1956 पारित करके राज्य में कहीं भी गाय, गाय के बछड़े, बैल या सांड तथा भैंसा, भैंस के बछड़े और भैंस के वध को प्रतिषिद्ध करके दंडनीय अपराध घोषित कर दिया था। इसे **मुहम्मद हनीफ कुरैशी बनाम बिहार राज्य**[8] के मामले में चुनौती दी गयी। इसमें यह तर्क दिया गया था कि कुरान बकरीद के दिन गाय की बलि देने को कहता है इसलिए गाय का वध मुसलमानों का धार्मिक अधिकार है। किन्तु उच्चतम न्यायालय ने इस दावे को अस्वीकार कर दिया क्योंकि इसके लिए सन्तोषजनक प्रमाण उपलब्ध नहीं थे।

किसी भी मंदिर या आराधना गृह को जो व्यापक रूप में हिंदुओं के लिए अथवा उनके किसी भी वर्ग या विभाग के लिए खुला हो हिंदुओं के सभी वर्गों या विभागों के लोगों के लिए खोलने से संबंधित विधि इस आधार पर अवैध नहीं होगी कि उसमें धार्मिक स्वतन्त्रता का हनन होता है। मद्रास मंदिर प्रवेशाधिकार अधिनियम 1947 को **श्री वेंकट रमण देवारु बनाम मैसूर राज्य**[9] के मामले में चुनौती दी गयी थी। उक्त मामले में न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 25 (2) का उपबंध उन सभी हिंदू धार्मिक संस्थाओं पर लागू होता है जो सार्वजनिक प्रकार की हैं और उसमें किसी भी प्रकार की शर्त या अर्हता नहीं लगायी गयी है। साधारण जनता के लिए खोली गयी संस्था तो सार्वजनिक प्रकार की संस्था होती ही है साथ ही जो जनता के किसी वर्ग या विभाग के लिए स्थापित की गयी हो वह भी सार्वजनिक प्रकार की संस्था होती है। न्यायालय ने अधिनियम को वैध घोषित करते हुए निर्णय दिया कि यद्यपि मल्लसपटी गांव में स्थित श्री वेंकटरमण देवारु का मंदिर केवल गौड सारस्वत समाज नाम के एक धार्मिक सम्प्रदाय के ही लिए स्थापित किया गया था तथापि उस मंदिर पर उक्त अधिनियम लागू होगा और वहां भी अपवर्जित जातियों के हिंदुओं को सामान्य हिंदुओं के समान ही पूजा प्रार्थना करने का अधिकार प्राप्त होगा। **शास्त्री यज्ञ पुरुषदास जी बनाम मूलदास भून्दरदास वैश्य**[10] के मामले में उच्चतम न्यायालय ने स्वामीनारायण सम्प्रदाय का यह दावा रद्द

कर दिया कि वह सम्प्रदाय हिंदू धर्म के बाहर है और इस कारण बाद हिंदू सार्वजनिक प्रार्थना स्थान (प्रवेशाधिकार) अधिनियम 1956 उस सम्प्रदाय के मंदिरों या आराधना गृहों पर लागू नहीं होता। मुख्य न्यायाधिपति ने कहा कि इस अधिनियम का एकमात्र उद्देश्य हिंदुओं के सभी वर्गों और विभागों में मंदिरों में उपासना करने के संबंध में पूर्ण सामाजिक समानता स्थापित करना है। अधिनियम द्वारा हरिजनों तथा अन्य निष्कासित वर्गों को मंदिर के उन्हीं भागों तक जाने का तथा वहीं क्रियाएं करने का अधिकार दिया गया है जोकि अन्य सब उपासना करने वालों को उपलब्ध हैं।

इस प्रकार धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार पर ये प्रतिबंध राज्य के हाथों में ऐसा हथियार देते हैं जिससे वह सामाजिक अन्याय दमन पिछड़ापन अंधविश्वास छुआछूत और शोषण के दुर्गों को ढहा सकता है तथा प्रबुद्ध उदार मानववादी समाज की स्थापना कर सकता है। सदियों से पिछड़े भारतीय समाज के लिए ये उपबंध आधुनिकीकरण का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

धार्मिक कार्यों के प्रबंध की स्वतंत्रता

अनुच्छेद 26 के अनुसार लोकव्यवस्था सदाचार और स्वास्थ्य के अधीन रहते हुए प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय या उसके किसी विभाग को

(क) धार्मिक और पूर्त प्रयोजनों के लिए संस्थाओं की स्थापना और पोषण का

(ख) अपने धर्म विषयक कार्यों का प्रबंध करने का

(ग) जंगम और स्थावर संपत्ति के अर्जन और स्वामित्व का और

(घ) ऐसी संपत्ति का विधि के अनुसार प्रशासन करने का अधिकार होगा।

अनुच्छेद 26 में दिये गये अधिकार धार्मिक सम्प्रदायों के साथ-साथ उसके विभागों को भी प्राप्त है। हिंदू धर्म में अनेक सम्प्रदाय और उसके विभाग हैं—अद्वैत शैव वैष्णव आदि। इसी प्रकार इस्लाम और ईसाई धर्मों के सभी सम्प्रदाय और उनके विभाग इन अधिकारों का उपयोग कर सकते हैं। उपरोक्त अधिकारों को स्पष्टतः दो भागों में बांटा जा सकता है—प्रथमतः वे अधिकार जो धार्मिक या धर्म विषयक कार्यों से संबंधित हैं। द्वितीयतः वे जो वास्तविक रूप में धार्मिक नहीं है या धार्मिक मान्यता के अभिन्न अंग नहीं है। यहां पहली तरह के अधिकार ही केवल लोकव्यवस्था सदाचार और स्वास्थ्य के अध्यधीन हैं किंतु दूसरे तरह के अधिकार राज्य की सामान्य विधि के अधीन रहकर उपभोग किये जा सकते हैं। अनुच्छेद 26(क) धार्मिक और पूर्त प्रयोजनों के लिए संस्थाओं की स्थापना और पोषण का अधिकार प्रदान करता है। संस्था शब्द के अन्तर्गत धार्मिक प्रयोजनों के लिए विभिन्न संगठन सम्मिलित होते हैं जैसे मंदिर चर्च मस्जिद यहूदी सभाघर मठ आदि। इसमें विभिन्न प्रकार के धर्मस्व—संगठन जैसे धार्मिक संस्थाओं द्वारा चलाये जाने वाले अस्पताल, अनाथालय शरणार्थी गृह आदि सम्मिलित होते हैं।

अनुच्छेद 26(ख) प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय या उसके किसी विभाग को अपने धर्म विषयक कार्यों का प्रबंध करने का अधिकार देता है। किंतु प्रश्न उठता है कि 'धार्मिक' तथा धर्म विषयक कार्य' क्या हैं ? इन कार्यों का निर्धारण कौन करेगा ? धार्मिक आचरण से सबद्ध लौकिक क्रियाएं क्या हैं ? क्या इन क्रियाओं पर राज्य की विनियमन अथवा निर्बंधन लगाने की शक्ति पर कुछ सीमाएं हैं ? उच्चतम न्यायालय ने इन प्रश्नों का उत्तर **शिरूर मठ के श्री लक्ष्मीन्द्र तीर्थ स्वामियर के मामले**[11] में दिया है। इस मामले के पीछे पृष्ठभूमि यह थी कि जब मठाधिपति ने शिरूर मठ का प्रबंध अपने हाथों में लिया तो उस समय मठ काफी वित्तीय संकट से गुज़र रहा था। इस संकट को दूर करने के लिए किये गये प्रयासों को 1931 और 1946 के 'पारियायम्' उत्सवों ने व्यर्थ साबित कर दिया था। 1946 के उत्सव के बाद मठ लगभग 1 00 000 रुपयों के कर्ज में डूब गया था। इस स्थिति में मठ को सहायता देने के लिए हिंदू धार्मिक विन्यास बोर्ड ने हाथ बढ़ाया। प्रबंधक के मुख्तारनामे पर हस्ताक्षर करके मठाधिपति ने बोर्ड के हस्तक्षेप को स्वीकृति दे दी थी। आरंभ में तो सब कुछ ठीक-ठाक चला किंतु धीरे-धीरे स्थिति तब बिगड़ने लगी, जब बोर्ड द्वारा नियुक्त प्रबंधक मठाधिपति की इच्छाओं को कोई महत्त्व न देकर मठ के सभी मामलों में मनमानी करने लगा। इस कारण से मठाधिपति ने वह मुख्तारनामा वापस ले लिया और बोर्ड के प्रयासों की अवहेलना करना आरंभ कर दिया। परिणामत बात उच्च न्यायालय में पहुंची जहां धर्म को संकुचित परिभाषा देकर बोर्ड के कार्यों को वैध ठहराया गया। तत्पश्चात् मठाधिपति ने अनुच्छेद 25 और 26 में दिये गये अधिकारों का सहारा लेकर उच्चतम न्यायालय में अपील की। बाबे उच्च न्यायालय ने माना था कि निश्चित और व्युत्पत्तिमूलक अर्थ में धर्म वह है— (1) जो व्यक्ति को उसके स्रष्टा से जोड़ता है और (2) जो व्यक्ति को उसके अंत करण से जोड़ता है तथा उन महवर्ती सदाचारी और नैतिक सिद्धांतों से जोड़ता है जिनका पालन प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति को अवश्य करना चाहिए। उच्चतम न्यायालय ने धर्म के इस अर्थ को अस्वीकार करके एक काफी व्यापक परिभाषा दी। उसके अनुसार धर्म निश्चय ही व्यक्तियों और सम्प्रदायों के विश्वास का विषय है और यह कोई आवश्यक नहीं है कि वह ईश्वरवादी ही हो। भारत में बौद्ध और जैन जैसे महत्त्वपूर्ण धर्म ईश्वर अथवा अभिज्ञ आदिकरण में विश्वास नहीं रखते हैं। न्यायाधिपति बिजन कुमार मुखर्जी के अनुसार, विवाद का हल इस बात को स्पष्ट करने पर निर्भर करता है कि धर्म विषयक कार्य क्या हैं ? उन्होंने कहा

> 'सबसे पहले तो किसी धर्म का मार्मिक पक्ष कौन-सी बात प्रस्तुत करता है, इसका पता मुख्य रूप से स्वयं उस धर्म के सिद्धांतों को देखकर ही लगाया जाना चाहिए। यदि हिंदुओं के किसी धार्मिक पंथ के सिद्धांत यह विहित करते हों कि भगवान की मूर्ति को दिन को किन्हीं विशेष घड़ियों पर भोग लगाया जाना चाहिए या वर्ष की किसी नियत अवधि में नियत रीति से नियतकालिक धार्मिक कर्म किये जाने चाहिए या प्रतिदिन पवित्र ग्रंथों का पाठ होना चाहिए या होम किया जाना चाहिए तो ये सब धर्म का ही अंग माने जायेंगे और केवल यह तथ्य कि इनमें धन का व्यय, अथवा पुजारियों और सेवकों का नियोजन अथवा क्रय विक्रय की जाने

> वाली वस्तुओ का उपयोग अतर्वलित होता है इन्हें वाणिज्यिक अथवा वित्तीय प्रकार की लौकिक क्रियाए नही बना सकेगा। ये सब धार्मिक क्रियाए हैं और इन्हे अनुच्छेद 26 (ख) के अर्थ म 'धार्मिक कार्यो सबधी विषय' ही समझा जाना चाहिए।"

इस प्रकार न्यायालय को सर्वप्रथम यह पता करना होगा कि जिस क्रिया या आचरण पर राज्य विनियमन अथवा निर्बंधन लगाता है वह धार्मिक क्रिया है अथवा धार्मिक आचरण मे सबद्ध लौकिक क्रिया। यदि वह पूर्वकथित क्रिया होगी तो वह राज्य के नियत्रण की परिधि से परे है और यदि पश्चात् कथित क्रिया हुई, तो राज्य उसके विनियमन या निर्बंधन के सबध मे विधि बना सकेगा। इस विभेद के आधार पर न्यायालय ने **शिरूर मठ के श्री लक्ष्मीन्द्र तीर्थ स्वामियर के मामले मे मद्रास हिंदू रिलीजस एड चैरिटेबल इडाउमेट्स ऐक्ट** 1951 के उन उपबधो को वैध घोषित किया जो धार्मिक आचरण से सबद्ध लौकिक क्रियाओ का विनियमन करते हैं।

न्यायालय ने निर्णय मे कहा कि मठ, मदिर आदि धार्मिक सस्थानो के प्रबधक सस्थान के आय-व्यय आदि के रजिस्टर रख सकते हैं। आयुक्त उन्हे उन रजिस्टरो म किन्ही प्रविष्टियो को जोडने या परिवर्तित करने के लिए आदेश दे सकता है। आयुक्त को इन रजिस्टरो के परीक्षण और सत्यापन के तथा सस्था की जगम और स्थावर सपत्ति के निरीक्षण के तथा स्थावर सपत्ति के पाच वर्ष के पट्टे से अधिक गभीर अन्य सक्रामण के लिए अपनी मजूरी, जिसके बिना अन्य सक्रामण प्रतिषिद्ध है देने के अधिकार है। यह सब उन आर्थिक या वित्तीय प्रकार की लौकिक क्रियाओ का विनियमन है जो धर्म के साथ सबद्ध है। न्यायालय ने आयुक्त की इन सस्थाओ के व्ययो के मापमानो के नियत करने की अधिकारिता को उचित ठहराया क्योकि ऐसे स्तरो को स्थापित करने का उद्देश्य सस्था को आर्थिक विनाश से बचाना तथा उसकी सपत्ति की रक्षा करना मात्र हो सकता था। प्रबधको को सस्था के लिए वर्ष के प्रारभ मे बजट बनाने तथा बजट के अनुसार ही व्यय करने *तथा आयुक्त को उस बजट मे फेरबदल करने की अधिकारिता को न्यायालय ने वैध* ठहराया। न्यायालय ने यह भी कहा कि यदि आयुक्त सस्था के सुचारु प्रशासन के लिए वेतन प्राप्त प्रशासनिक अधिकारी नियुक्त करता है तो ऐसे अधिकारी का काम केवल वित्तीय मामलो के प्रशासन से रहेगा। वह धर्म के मामलो म किसी प्रकार हस्तक्षेप नही कर सकेगा।

उच्चतम न्यायालय ने मठाधिपति के सपत्ति के अधिकार का अतिलघन करने वाली मद्रास के अधिनियम की धाराओ को भी अवैध घोषित कर दिया। न्यायालय ने कहा

> 'आज की हिंदू विधि के अधीन महत को अधिशय रकम व्यय करने के सबध मे विस्तृत अधिकार प्राप्त है और उस पर केवल एक यही निर्बंधन है कि वह उसम म अपन किसी भी एम व्यक्तिगत कार्य के लिए कुछ भी खर्च नही कर सकता जो उसके पद की गरिमा म असबद्ध हो ऐसा कोई कारण नही कि जिसस इन

उद्देश्यों के लिए आय की अधिशेष रकम को व्यय करने की महंत में निहित अधिकारिता को उससे छीन लिया जाये और उसे इन मामलों में सरकारी अधिकारियों के अनुदेशों के अधीन कार्य करने के लिए बाध्य किया जाये। हमारी समझ में यह महंत के संपत्ति के मूल अधिकार पर जो कि उसके पद के साथ सम्मिलित है एक अयुक्तियुक्त निर्बंधन है।[12]

न्यायालय ने मद्रास के अधिनियम के अंतर्गत आयुक्त तथा उसके अधीनस्थ अधिकारियों को एक बड़ा अनियंत्रित तथा अनिर्देशित अधिकार देने वाली धारा को अवैध घोषित किया। इस अधिकार के अनुसार वे अधिनियम द्वारा स्थापित अपने दायित्वों को निभाने या अधिकारों का प्रयोग करने के लिए मंदिर या मठ के किसी भी भाग में कभी भी पहुंच सकते थे। परिणामतः इसके द्वारा धार्मिक स्थान की मर्यादा और पवित्रता को आघात पहुंच सकता था। यह उपबंध धर्म के आचरण की स्वतंत्रता में अनुचित हस्तक्षेप करता था क्योंकि इसके द्वारा जहां भगवान की मूर्ति स्थित थी वहां भी आयुक्त और उसके अधीनस्थ अधिकारी जा सकते थे तथा भगवान के शयन आदि के समय शांति में विघ्न डाल सकते थे।

एक अन्य धारा के द्वारा आयुक्त को यह अधिकार दिया गया था कि वह महंत या अन्य न्यासी की संस्था के लौकिक क्रियाओं के प्रशासन के लिए कोई प्रबंधक नियुक्त करने का आदेश दे और यदि न्यासी इसके पालन में ढील करे तो वह (आयुक्त) स्वयं ही ऐसे प्रबंधक की नियुक्ति कर दे। इस प्रकार यह उपबंध आयुक्त को एक अनियंत्रित शक्ति प्रदान करता था इसके लिए न तो कोई मार्गदर्शन दिया गया था और न ही कोई शर्त लगायी गयी थी। जबकि जो प्रबंधक नियुक्त होना था उस पर वास्तविक नियंत्रण आयुक्त का ही होता था। न्यायालय ने कहा

> 'महंत के आध्यात्मिक कर्तव्यों और न्यास की संपत्ति में उसके व्यक्तिगत हितों के बीच कोई कठोर सीमा रेखा नहीं खींची जा सकती है। इस धारा का प्रभाव वास्तव में यह है कि आयुक्त जिस किसी भी क्षण उसका जी चाहे महंत को उसकी ओर से किसी प्रकार का कुप्रबंध न होते हुए भी न्यास की संपत्ति का प्रशासन करने के उसके अधिकारों से वंचित कर सकता है। ऐसा निर्बंधन संविधान के अनुच्छेद 26(घ) के उपबंध के विपरीत होगा। वह महंत होने के नाते उत्पन्न होने वाली उसकी अधिकारिता को पूरी तरह कुचल देगा और उसके स्थान को घटाकर एक साधारण पुजारी या वेतन प्राप्त सेवक की बराबरी पर ला छोड़ेगा।

न्यायालय ने महंत की पद कनिका या व्यक्तिगत भेंट की रकम को व्यय करने की शक्ति पर लगाया गया निर्बंधन — वह उसे मठ के ही कार्यों के लिए खर्च करेगा और उसके आय-व्यय का हिसाब रखेगा— को अवैध घोषित कर दिया। उन उपबंधों को भी अवैध घोषित कर दिया जिनके द्वारा आयुक्त को यह शक्ति दी गयी थी कि वह किसी धार्मिक संस्था को ज्ञापित कर सकता था जिसका अर्थ और परिणाम यह होता कि

संस्था का प्रशासन पांच वर्ष की अवधि के लिए आयुक्त द्वारा नियुक्त किए गए अधिकारी के हाथ में आ जाता था। *शिरूर मठ के श्री लक्ष्मीन्द्र तीर्थ स्वामियार के मामले के साथ ही* रतीलाल पनाचन्द गांधी के मामले तथा जगन्नाथ रामानुज दास के मामले में उच्चतम न्यायालय ने मार्च, 1954 में निर्णय दिया था। उच्चतम न्यायालय ने जहां एक ओर तो धार्मिक संस्थाओं के आर्थिक, वित्तीय और लौकिक क्रियाओं के मामलों में राज्य द्वारा पर्यवेक्षण और युक्तियुक्त निर्बंधन को वैध माना, वहां उनकी आराधना या पूजन की विधियों, परंपराओं, उत्सवों आदि को धार्मिक कार्यों संबंधी विषय मानकर उसमें राज्य के हस्तक्षेप को अवैध घोषित किया। अर्थात् धर्म विषयक कार्य में वे आचरण सम्मिलित होते हैं जिन्हें धार्मिक संप्रदाय धर्म का भाग मानता है तथा उन्हें धार्मिक स्वतंत्रता के उपबंधों का संरक्षण प्राप्त होगा। इस सिद्धांत को अनेक निर्णयों में न्यायालयों ने अपनाया।

यद्यपि न्यायाधिपति मुखर्जी ने अपने मत में कहा था कि किसी धर्म के धार्मिक पक्ष को समझने के लिए उस धर्म के सिद्धांतों को देखना पड़ेगा। किंतु उन्होंने यह सुस्पष्ट नहीं किया कि धर्म के सिद्धांत से क्या अभिप्राय है और उस ज्ञान करने के स्रोत क्या हो सकते हैं? इस विषय पर श्री वेंकटरमण देवारू बनाम मैसूर राज्य[11] के मामले में उच्चतम *न्यायालय का निर्णय कुछ प्रकाश डालता है। इस मामले में गौड सारस्वत समाज नाम के* एक धार्मिक संप्रदाय के सदस्यों ने मद्रास टेंपल एंट्री ऑथोराइजेशन ऐक्ट, 1947 के उपबंधों का श्री वेंकटरमण देवारू के मंदिर पर लागू होने का विरोध करते हुए तर्क दिया कि गौड सारस्वत समाज *अनुच्छेद 26 में उल्लिखित एक धार्मिक संप्रदाय है और श्री* वेंकटरमण देवारू के मंदिर में पूजा-प्रार्थना में कौन सम्मिलित हो सकता है और किस प्रकार भाग ले सकता है, यह मामला अनुच्छेद 26(ख) में उल्लिखित धार्मिक कार्यों संबंधी विषय है। अतः इस मामले में अनुच्छेद 26(ख) के अनुसार गौड सारस्वत संप्रदाय को अपने धार्मिक कार्यों संबंधी विषयों का प्रबंध करने का मूल अधिकार प्राप्त है और राज्य विधि बनाकर अपवर्जित लोगों को पूजा-प्रार्थना में सम्मिलित करने के लिए उस संप्रदाय को बाध्य नहीं कर सकता। मद्रास राज्य ने उल्लिखित मंदिर का सार्वजनिक होने का दावा किया था किंतु गौड सारस्वत ब्राह्मणों ने इसका खंडन करते हुए यह सिद्ध *करने का प्रयत्न किया कि वह सार्वजनिक मंदिर नहीं है बल्कि उनके धर्म का यह सिद्धांत* है कि उनकी जाति को छोड़ कोई और कभी मंदिर में प्रवेश नहीं कर सकता है। न्यायालय ने 'हिंदू धार्मिक कर्म विधि' से संबंधित अनेक लेखों की जांच करने पर पाया कि अनेक *उद्धरण यह प्रमाणित करते हैं कि मंदिर में मूर्तियों को एक निर्धारित प्रकार से स्थापित* किया जाता है तथा कुछ प्रकार के भक्तगण मंदिर के कुछ भाग में पर नहीं जा सकते थे इसकी अवहेलना से मंदिर और मूर्ति अपवित्र हो सकते थे। गौड सारस्वत ब्राह्मणों ने अपने दावे को सिद्ध करने के लिए दस्तावेज प्रस्तुत किए तथा अपवर्जित जातियों को मंदिर से बाहर रखने के संबंध में परंपराओं के सबूत दिए। न्यायालय ने अपने निर्णय में *साहित्यिक स्रोतों, परंपराओं और रिवाजों का सहारा लिया और कहा कि गौड सारस्वत* समाज एक संप्रदाय है और मंदिर में प्रवेश करने तथा पूजा प्रार्थना करने की विस वर्ग का

अर्हता है और किसे नही, यह भी निश्चय ही 'धार्मिक कार्यों संबधी विषय' है। किंतु यहा अनुच्छेद 26(ख) और अनुच्छेद 25(2)(ख) के उपबधो मे असगति है, जिसे समन्वय के सिद्धात द्वारा हल किया जाना चाहिए। ऐसा करते समय अनुच्छेद 26(ख) का ऐसा निर्वाचन नही किया जा सकता जिससे कि अनुच्छेद 25(2)(ख) बिलकुल ही निरर्थक हो जाये। जहा तक अपवर्जित लोगो के सार्वजनिक हिंदू मदिरो मे प्रवेशाधिकार का प्रश्न है, अनुच्छेद 25(2)(ख) की भाषा स्पष्ट और अनिर्बधित है। अत अनुच्छेद 26(ख) मे उपबधित 'अपने धार्मिक कार्यों सबधी विषयो का प्रबध करने' के अधिकार को, अनुच्छेद 25(2)(ख) मे उल्लिखित मदिर प्रवेश की विधि के अध्यधीन रहना होगा।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि धर्म के मार्मिक पक्ष का निर्धारण करते समय न्यायालय के लिए रीति-रिवाज उतना ही महत्त्व रखते हैं, जितना साहित्यिक स्रोत। न्यायालय धर्म के मार्मिक पक्ष को किस प्रकार निर्धारित करता है इसका काफी दिलचस्प उदाहरण **मुहम्मद हनीफ कुरैशी बनाम बिहार राज्य**[14] के मामले मे मिलता है। इसमे अपीलार्थी कसाई का काम करता था और उसका दावा था कि वह केवल गाय, भैस का ही वध करता है। उसकी शिकायत थी कि सदर्भित अधिनियम उसे उसकी जीविका के साधन से वचित करता है तथा अनुच्छेद 25 का उल्लघन करता है। उसका दावा था कि अनुच्छेद 25 का उल्लघन हो रहा है, क्योकि उनके धार्मिक सप्रदाय के अनुसार बकरीद के अवसर पर गाय की बलि उनकी परपरा है। इस रिवाज के लिए कुरान की सुरा XXII तथा सुरा CVII से प्रमाण के उद्धरण दिये गये थे। हालाकि इन आयतो मे केवल इतना ही कहा गया है कि लोगो को प्रार्थना करना चाहिए और बलि चढाना चाहिए, किंतु वे सुस्पष्ट नही हैं। इन आयतो के अर्थ की व्याख्या करने वाला किसी मौलाना का कोई हलफनामा न्यायालय के पास नही था, किंतु न्यायाधीशो को एक टीका मिली जिसमे दिया गया था

> "प्रौढता की उम्र प्राप्त कर लेने वाला प्रत्येक स्वतंत्र मुसलमान का यह कर्तव्य है कि वह ईद किरबान पर अथवा बलि के त्यौहार पर बलि चढाये एक व्यक्ति के लिए एक बकरा और सात व्यक्तियो के लिए एक गाय अथवा एक ऊंट की बलि की व्यवस्था है।'

इस टीका के आधार पर न्यायालय ने कहा कि इस समुदाय के लिए स्पष्ट विकल्प दिया गया है कि वे गाय के बदले बकरे अथवा ऊंट की बलि दे सकते हैं। न्यायाधीशो ने गाय के बदले बकरे अथवा ऊंट की बलि से पडने वाले आर्थिक बोझ को अपने निर्णय मे महत्त्व नही दिया जबकि समुचित बलि की कीमत गरीब मुसलमान के वश से बाहर थी। इस प्रकार लबे समय से चली आ रही इस समुदाय की परपरा को बिना कोई महत्त्व दिये न्यायालय ने गो-हत्या निषेध सबधी अधिनियमो को वैध घोषित किया। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रतिबधो की युक्तियुक्तता को उचित ठहराते समय न्यायालय ने अन्य बातो के साथ-साथ हिंदुओ की धार्मिक भावनाओ को ध्यान मे रखा। जिस कारण से यह आलोचना की जाती है कि ये विचार धार्मिक तटस्थता पर खरे नही उतरते। इस निर्णय

मे न्यायालय ने धर्म के मार्मिक पक्ष को निर्धारित करने के लिए साहित्यिक स्रोत की व्याख्या को आधार बनाया जिसके द्वारा इस धार्मिक समुदाय की परपराओ को काफी परिवर्तित कर दिया जो कि मुस्लिम समुदाय को सतोषजनक नहीं लगा।

न्यायालय के पहले के दृष्टिकोण मे आया परिवर्तन हमे, **दरगाह समिति अजमेर बनाम सैयद हुसैन अली** [15] के मामलो मे दरगाह ख्वाजा साहेब अधिनियम 1955 को चुनौती दी गयी थी, स्पष्ट दिखाई पडता है। इस मामले मे उच्चतम न्यायालय ने अजमेर के दरगाह के इतिहास का अध्ययन किया और पाया कि दरगाह के खादिम तथा सज्जादानशीन को अत्यत सीमित अधिकार प्राप्त थे। इतिहास के अनुसार दरगाह की सपत्ति खादिमो और सज्जादानशीन की या वे जिस धार्मिक सप्रदाय का प्रतिनिधित्व करते है, उसकी सपत्ति कभी नहीं मानी गयी थी तथा उसका प्रशासन सदैव ही सरकार के अधिकारी के हाथ मे रहा था। अगर सुदूर अतीत मे कोई अधिकार रहा भी हो तो वे कब के उसे त्याग चुके हैं। उसी सरकार को खादिमो और सज्जादानशीनो को अपने पद से हटाने का भी अधिकार रहा था। 1950 मे सविधान प्रवृत्त हो जाने तथा उसमे धार्मिक स्वतत्रता के उपबधो से खादिमो या सज्जादानशीन के अधिकार बढे नहीं है। सविधान केवल उनके जो कुछ अधिकार पहले थे उन्हीं को सुरक्षित करता है। अत न्यायालय ने कहा कि दरगाह की आमदनी और सपत्ति के प्रशासन के लिए हनफी मुसलमानो की एक समिति बनाकर उसे ही खादिमो और सज्जादानशीनो पर नियत्रण और पर्यवेक्षण करने तथा उनके झगडो को सुलझाने का अधिकार देना किसी प्रकार अवैध नहीं है।

इस मामले मे विशेष बात यह थी कि 'धर्म' अथवा 'धर्म विषयक कार्य' के अर्थ को सकुचित कर दिया गया था। न्यायालय ने मत व्यक्त किया कि कोई आचरण 'धर्म' अथवा 'धर्म विषयक कार्य' तभी माना जायेगा जब सबधित सप्रदाय अथवा उसका विभाग अवश्य उसे धर्म का मार्मिक अथवा एक अभिन्न भाग मानते हो। अन्यथा पूर्णत लौकिक क्रियाए अथवा अधविश्वास पर आधारित क्रियाए— जो बाद मे आकर जुड जाती हैं— अनुचित रूप से धर्म का भाग मान ली जायगी और सवैधानिक सरक्षण का गलत दावा कर सकेगी।

'धर्म विषयक कार्य' की सकुचित व्याख्या पुन **सरदार सैदना ताहेर सैफुद्दीन साहेब बनाम मुबई राज्य** [16] के मामले मे सामने आयी। इस मामले मे विचारणीय विषय था कि क्या किसी सदस्य द्वारा रूढिवादी धार्मिक मत अथवा सिद्धात की भूल करने पर उस सदस्य को समुदाय से बाहर कर देना तथा समुदाय के सदस्य की हैसियत से मिलने वाले उसके अधिकारो और विशेषाधिकारो से वचित करने की दाउदी बोहरा समुदाय के अध्यक्ष की शक्ति 'धर्म विषयक कार्य' था। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि बहिष्कृति को अवैध और शून्य घोषित कर देने से दाउदी बोहरा सम्प्रदाय तथा उसके अध्यक्ष को प्रदत्त अनुच्छेद 26(ख) मे उपबधित अपने धार्मिक कार्यों सबधी विषयो का प्रबध करने के मूल अधिकार का अतिक्रमण होता है, इसलिए **बबई बहिष्कृति निवारण अधिनियम**, 1949 का 42 अवैध है। बहुमत के निर्णय मे इस बात पर बल दिया गया कि कौन-सी बात किसी समुदाय के धर्म के आचरण का मार्मिक अग है। यह तो न्यायालय को

निश्चित करना होता है और इस विनिश्चय का आधार उस धर्म के सिद्धातो पर तथा उस समुदाय की मान्यताओ पर होना है। न्यायालय ने साक्ष्य के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि यह दाउदी बोहरा समुदाय के धर्म का एक मार्मिक अग है कि 'दाई उल मुतलक' उचित मामलो मे व्यक्तियो को बहिष्कृत करे और 'दाई उल मुतलक' की अध्यक्षता मे निर्द्वंद्व श्रद्धा रखना भी उनके धर्म का मार्मिक अग है। धर्म के किसी मार्मिक अग की अवहेलना करने अथवा उसे क्षति पहुचाने के अपराध मे किसी व्यक्ति की बहिष्कृति को धर्म की शक्ति को बनाये रखने के उद्देश्य से किया गया उपाय माना जाना चाहिए।

सरदार सैदना ताहेर सैफुद्दीन साहेब मामले के बाद भी 'धर्म' और 'धर्म विषयक कार्य' के सबध मे परस्पर-विरोधी मत चलते रहे। तिल्कायत श्री गोविन्दलाल जी महाराज बनाम राजस्थान राज्य के मामले मे उच्चतम न्यायालय ने कहा

> "इस प्रश्न को तय करते समय कि कोई धार्मिक आचरण धर्म का अभिन्न अग है या नही, हमेशा यह मापदड अपनाना होगा कि उस धर्म को मानने वाला समुदाय ऐसा मानता है या नहीं। इस फार्मूले को प्रयोग मे लाने पर कुछ मामलो मे कठिनाई उत्पन्न हो सकती है। जैसे— भोजन अथवा पहनावे के सबध मे आचरण को लीजिए। यदि किसी कार्यविधि मे समुदाय का एक भाग दावा करता है कि कुछ धार्मिक कृत्यो या अनुष्ठानो को सपन्न करते समय सफेद पोशाक धर्म का एक अभिन्न अग है, तो दूसरा वर्ग दावा करता है कि सफेद नही बल्कि पीली पोशाक धर्म का मूलभूत अग है, इस स्थिति मे न्यायालय कैसे निर्णय करेगा ? इसी तरह के विवाद भोजन के सबध मे उत्पन्न हो सकते हैं। उन मामलो मे जहा धार्मिक आचरण के सबध मे परस्पर विरोधी दावो के सबध मे परस्पर विरोधी सबूत सामने लाये जाते हैं, वहा न्यायालय इस फार्मूले को कि समुदाय तय करे कि कौन-सा आचरण धर्म का अभिन्न अग है, आख मूदकर लागू करके विवाद को हल करने मे समर्थ नहीं हो सकता है। क्योंकि समुदाय एक से ज्यादा आवाज मे बोल सकता है और फार्मूला भग हो जायेगा। यह प्रश्न हमेशा न्यायालय को तय करना होगा और ऐसा करते समय न्यायालय को जाच करना पड सकता है कि क्या विवादास्पद आचरण धार्मिक प्रकृति का है, अगर वह है तो क्या वह धर्म का अभिन्न या मार्मिक भाग माना जा सकता है और ऐसे मुद्दो पर न्यायालय का निष्कर्ष हमेशा समुदाय के अत करण और उसके धर्म के सिद्धातो से सबधित सबूत प्रस्तुत करने पर निर्भर करेगा।"

तिल्कायत श्री गोविन्दलाल जी महाराज के मामले मे न्यायालय ने कहा कि राज्य का मदिर के प्रबध के लिए धर्म आदि की दृष्टि से उपयुक्त लोगो की समिति स्थापित करने का अधिकार उचित है क्योंकि मदिर के इतिहास मे यह स्पष्ट होता है कि मदिर के महत या तिल्कायत का पद उसकी मृत्यु या पदत्याग के पश्चात् सदैव उसके ज्येष्ठ पुत्र पर न्यागत होता रहा है तथा सरकार को किसी भी तिल्कायत को पदच्युत करने तथा मदिर

की सपत्ति के प्रबंध का पर्यवेक्षण करने का अधिकार रहा है। सविधान लागू होने के पश्चात् भी यह अधिकार राज्य के ही हाथो मे रहेगा। ध्यान देने योग्य बात है कि समिति की अधिकारिता न केवल मंदिर की सपत्ति के प्रबंध तक ही सीमित थी वरन् 'मंदिर मे दैनिक पूजाओ, धार्मिक कार्यों तथा उत्सवो का पुष्टिमार्गीय सप्रदाय की रीतियो और परपराओ के अनुसार सचालन करना' भी उसी की अधिकारिता मे सम्मिलित था। इस प्रकार कुछ ऐसे विषय जिन्हे **शिरूर मठ के श्री लक्ष्मीन्द्र तीर्थ स्वामियर** के मामले मे 'धार्मिक कार्यों सबधी विषय' माना गया था उसमे भी राज्य द्वारा स्थापित की गयी समिति के हस्तक्षेप को वैध मान लिया गया।

राजा बीरकिशोर देव बनाम उड़ीसा राज्य के मामले मे न्यायालय ने इतिहास के अध्ययन से यह पाया कि राजा को सविधान के पूर्व से ही मंदिर की सपत्ति और आय मे कोई व्यक्तिगत हित या अधिकार नहीं रहा है। अत उडीसा के **श्री जगन्नाथ टेम्पल ऐक्ट**, 1954 द्वारा मंदिर की आय और सपत्ति का प्रबंध पुरी के राजा से लेकर एक समिति को सौंप देना अवैध नही है। भगवान की पूजा आदि के प्रबंध का उत्तरदायित्व भी समिति पर ही रखने को भी न्यायालय ने अवैध नही पाया। न्यायालय ने मत व्यक्त किया कि पूजा-अर्चना के दो पक्ष हैं, एक लौकिक जिसका सबध पूजा के लिए आवश्यक सामग्री एकत्रित करने तथा उसका आर्थिक प्रबंध करने से है और दूसरा धार्मिक जिसका सबध स्वय पूजा करने से है। यह दूसरा अग समिति के हाथ मे नही है और पुरी के राजा 'आद्य-सेवक' के रूप मे इस धार्मिक पक्ष को निभाने मे स्वतत्र है। इस प्रकार **दरगाह समिति, तिलकायत श्री गोविंदलाल जी महाराज और राजा बीरकिशोर देव** के मामलो मे न्यायालय ने धार्मिक सस्थानो और उनके महतो को सविधान मे प्रदत्त धार्मिक स्वतत्रताओ का लाभ न देकर उसी स्थिति मे बनाये रखा जिस स्थिति मे वे सविधान से पूर्व थे।

इस प्रकार 'लौकिक कार्य' और 'धार्मिक कार्यों सबधी विषय' के मध्य विवाद को लेकर अनेक मामले आये तथा न्यायालय ने निर्णयाधीन मामलो के तथ्यो के आधार पर यह निश्चय किया कि विचाराधीन कृत्य या आचरण इन दोनो को विभाजित करनेवाली रेखा के किस ओर पड़ता है। सीमा रेखा को खीचने मे न्यायालय ने साहित्यिक स्रोत परपराए, रिवाजो धर्म के सिद्धातो और उस समुदाय की मान्यताओ को आधार माना।

अनुच्छेद 26(ग) द्वारा धार्मिक सप्रदायो या उनके विभागो के जगम और स्थावर सपत्ति के अर्जन और स्वामित्व का अधिकार तथा खड (घ) द्वारा ऐसी सपत्ति का विधि अनुसार प्रशासन करने का अधिकार दिया गया है। यद्यपि 26(घ) के अनुसार सपत्ति का विधि अनुसार प्रशासन करने का अधिकार दिया गया है, किंतु जो विधि प्रशासन का अधिकार धार्मिक सप्रदाय के हाथो से समूचा ही छीनकर उसे दूसरे किसी प्राधिकारी मे निहित कर दे, वह अनुच्छेद 26(घ) मे प्रत्याभूत अधिकार का अतिक्रमण कर देगी।[17]

किंतु अनुच्छेद 26(घ) के अधिकार का दावा करने के लिए यह तथ्य स्थापित करना अनिवार्य है कि मंदिर या देवस्थान से सबधित सपत्ति का दायित्व दावेदार सप्रदाय

या उसके विभाग को प्राप्त है। 'अनुच्छेद 26(ग) का अधिकार आत्यंतिक और अविशेषित न होने से राज्य द्वारा युक्तियुक्त विनियमन के साथ सगत है, बशर्ते कि स्वतंत्रता के सार पर प्रभाव न पड़े। न्यायिक निर्णयो ने यह बात सुनिश्चित कर दी है कि अनुच्छेद 26(ग) या (घ) मे से कोई भी धार्मिक सप्रदायो की सपत्ति को, राज्य की सपत्ति का अर्जन करने की शक्ति से सरक्षण नही देता। किंतु इसका यह अभिप्राय नही है कि राज्य धार्मिक सप्रदायो की सपत्ति इस प्रकार अर्जित करे कि उनकी आर्थिक शक्ति को नष्ट कर दे।

किसी विशिष्ट धर्म की अभिवृद्धि के लिए करो के सदाय के बारे मे स्वतंत्रता

अनुच्छेद 27 के अनुसार, ' किसी भी व्यक्ति को ऐसे करो का सदाय करने के लिए बाध्य नही किया जायेगा, जिनके आगम किसी विशिष्ट धर्म या धार्मिक सप्रदाय की अभिवृद्धि या पोषण मे व्यय करने के लिए विनिर्दिष्ट रूप से विनियोजित किये जाते हैं।" सविधान केवल 'फीस' लगाने की शक्ति देता है, कर' लगाने की नहीं। दोनो मे अतर बताते हुए न्यायालय ने शिरूर मठ के श्री लक्ष्मीन्द्र तीर्थ स्वामियर के मामले मे कहा कि यद्यपि दोनो को ही राज्य लोगो से उनकी इच्छा के विरुद्ध एकत्रित करता है। 'कर' द्वारा इकट्ठी की गयी रक़म राज्य के सार्वजनिक कोष का अग बन जाती है तथा उसका उपयोग किसी एक कार्य या विषय के लिए आरक्षित नहीं होता। इसके विपरीत 'फीस' की रक़म सार्वजनिक कोष मे घुलमिल नही जाती वरन् वह किसी विशिष्ट कार्य या विषय के लिए ही अलग रखी जाती है तथा केवल उस पर ही खर्च की जा सकती है। दोनों मे मुख्य भेद यह है कि 'फीस' की रकम किसी सेवा के लिए प्रतिकर के रूप मे वसूल की जाती है और 'कर' की रक़म का किसी सेवा या प्रतिकर से सबध नही होता वह राज्य की व्यापक आवश्यकताओ के लिए वसूल किया जाता है।

धर्म और शिक्षा सस्थाए

हमारे देश मे अनेक धर्मों, जातियों और सप्रदायो के लोग रहते है। ब्रिटिश शासक यह मानते थे कि अगर यहा के लोग अशिक्षा के अधकार मे डूबे रहगे तो भारत मे उनकी सत्ता सुरक्षित रहेगी, क्योंकि अशिक्षित भारतीय जन-समुदाय आपस मे धर्मों, जातियो और सप्रदायो के नाम पर लड़ता रहेगा और एकजुट होकर विदेशी शासन को चुनौती नही दे सकेगा। आज़ादी के बाद देश मे सामाजिक-आर्थिक क्राति लाने का सकल्प लिया गया। किंतु बिना शिक्षा की ज्योति घर-घर पहुचाये यह क्राति सभव नहीं थी, इसलिए राज्य के शिक्षा के प्रचार-प्रसार पर अत्यधिक बल दिया गया। सविधान निर्माताओं ने शिक्षा का विकास धर्मनिरपेक्ष आदर्शों पर करने का हर सभव प्रयास किया। अनुच्छेद 28 के अनुसार

1 पूर्णत राज्य निधि से पोषित किसी शिक्षा सस्था मे कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी जायेगी।
2 खड (1) की कोई बात ऐसी शिक्षा सस्था को लागू नही होगी जिसका प्रशासन राज्य करता है, किंतु जो किसी ऐसे विन्यास या न्यास के अधीन स्थापित हुई है जिसके अनुसार उस सस्था मे धार्मिक शिक्षा देना आवश्यक है।
3 राज्य से मान्यता प्राप्त या राज्य-निधि से सहायता पाने वाली शिक्षा सस्था मे उपस्थित होने वाले किसी व्यक्ति को ऐसी सस्था मे दी जाने वाली धार्मिक शिक्षा मे भाग लेने के लिए या ऐसी सस्था मे या उससे सलग्न स्थान मे की जाने वाली धार्मिक उपासना मे उपस्थित होने के लिए तब तक बाध्य नही किया जायेगा जब तक कि उस व्यक्ति ने या यदि वह अवयस्क है तो उसके सरक्षक ने इसके लिए अपनी सहमति नहीं दे दी है।

भारत मे धर्म के नाम पर समाज का अत्यधिक शोषण होता रहा है। विभिन्न धर्मों की रूढियो के बीच सघर्ष समाज के लिए हानिकारक रहे हैं, साथ ही अनेक धर्मों के विद्यमान होने के कारण राज्य चाहकर भी धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था नहीं कर सकता था। दूसरी तरफ भारत मे सपूर्ण सदाचार, नैतिकता और सस्कृति का आधार धर्म रहा है, इसलिए किसी-न-किसी रूप मे धार्मिक शिक्षा दिया जाना आवश्यक भी है। यही कारण है कि धर्मनिरपेक्ष चरित्र होने के बावजूद राज्य धार्मिक शिक्षा को पूर्णत वर्जित नहीं कर सकता। अत अनुच्छेद 28 दोनो स्थितियो के बीच समझौते के रूप मे अपनाया गया है।

अल्पसख्यक वर्गों के हितो का सरक्षण

हमारे सविधान की महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि अल्पसख्यक वर्गों के हितो के सरक्षण के लिए इसमे अनेक व्यवस्थाए दी गयी हैं। 1947 मे देश के विभाजन के बाद अनेक अल्पसख्यक (मुसलमान) पाकिस्तान चले गये किंतु काफी तादात मे लोग भारत में बस रहे। स्वाभाविक था देश के विभाजन से पहले का भय कि हिंदू अधिसख्या म होने के कारण मुसलमानो के अधिकारो को हडप कर जायेंगे विभाजन के बाद और बल पकड सकता था, दूसरे विभाजन के लिए जाने-अनजाने मुसलमान अपने को दोषी मानते रहे। यह दोष-भाव बाद की पीढियो मे न आये, इसके अतिरिक्त ईसाई धर्म भी शासको का धर्म रहा, स्वतत्रता के बाद हिंदू अधिसख्यक दमन का चक्र न चलाये इस भाव को लोगो के दिल से निकालकर राष्ट्र की मुख्य धारा मे जोडने के लिए अल्पसख्यक वर्गों के सरक्षण के लिए अनेक कदम उठाये गये जो कि हमारी उदार और अनन्य सास्कृतिक परपरा के प्रतीक हैं। अनुच्छेद 28, 29 म उन्हें मौलिक अधिकार दिए गये हैं तथा सविधान के भाग 16 मे कुछ वर्गों के लिए विशेष उपबध किये गये हैं। अनुच्छेद 29 के अनुसार

1 भारत के राज्य क्षेत्र या उसके किसी भाग के निवासी नागरिको के किसी विभाग को, जिसकी अपनी विशेष भाषा, लिपि या सस्कृति है, उसे बनाय

रक्षन का अधिकार होगा।

2. राज्य द्वारा पोषित या राज्य-निधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा संस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूलवंश, जाति, भाषा या इनमें से किसी के आधार पर वंचित नहीं किया जायेगा।

अनुच्छेद 30 के अनुसार "धर्म या भाषा पर आधारित सभी अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार रहेगा, शिक्षा संस्थाओं को सहायता देने में राज्य किसी शिक्षा संस्था के विरुद्ध इस आधार पर विभेद नहीं करेगा कि वह धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रबंध में है।"

अनुच्छेद 29 (1) का अधिकार केवल अल्पसंख्यकों तक सीमित न होकर किसी भी ऐसे समुदाय या विभाग को प्राप्त है जिनकी अपनी भिन्न भाषा, लिपि या संस्कृति हो, जबकि अनुच्छेद 30 (1) का अधिकार केवल धर्म और भाषा के आधार पर अल्पसंख्यकों को ही प्राप्त है। जहां अनुच्छेद 29 (1) का अधिकार अत्यधिक व्यापक है तथा उक्त भाषा, लिपि और संस्कृति के संरक्षण के लिए की जाने वाली सभी कार्यवाहियों की रक्षा करता है, वहां अनुच्छेद 30 (1) का अधिकार केवल शिक्षा संस्थाओं के लिए है। इस प्रकार इन दोनों मूल अधिकारों का क्षेत्र और परिधि भिन्न भिन्न है।[18]

विशेष निर्देश, 1958 का संख्या 1 —केरल शिक्षा विधेयक, 1957 के मामले[19] में मुख्य न्यायाधिपति सुधिरंजन दास ने कहा

> "यह कहा गया है कि जो अल्पसंख्यक शिक्षा संस्था राज्य के कोष से सहायता नहीं मांगती उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह जिस समुदाय के लाभार्थ स्थापित की गयी है उसके अतिरिक्त अन्य किसी समुदाय के एक भी विद्यार्थी को प्रवेश दे। परन्तु जैसे ही वह राज्य से सहायता मांगती है तथा प्राप्त कर लेती है, वैसे ही अनुच्छेद 29 (2) उसे अन्य समुदायों के सदस्यों को धर्म, जाति, मूलवंश या भाषा के आधार पर प्रवेश वर्जित करने से रोक देता है और इसके परिणामस्वरूप वह उस अल्पसंख्यक जाति की मनचाही संस्था नहीं रह जाती जिसने उसे स्थापित किया था। यह तर्क हम इस अनुच्छेद (अनु० 30(1)) की भाषा से समर्थन प्राप्त करता प्रतीत नहीं होता। यह सच नहीं है कि समुदाय के बाहर के व्यक्ति को प्रवेश देने से अल्पसंख्यक संस्था अपना स्वरूप नष्ट कर लेती है तथा अल्पसंख्यक नहीं रह जाती। सच तो यह है कि अल्पसंख्यक जाति अपनी भाषा, लिपि और संस्कृति के संरक्षण के उद्देश्य को अपने समुदाय के बाहर के लोगों में इनका प्रचार करके ही अधिक अच्छी तरह से पूरा कर सकती है। हमारे मत में संविधान के अनुच्छेद 30 (1) में ऐसी किसी शर्त को देख पाना संभव नहीं है।"

न्यायालय ने मत व्यक्त किया कि अनुच्छेद 30 (1) की कुंजी 'अपनी रुचि की' शब्दों में है। अल्पसंख्यक समुदाय जो भी शिक्षा संस्थाएं स्थापित करना चाहे, चाहे उनका संबंध उस समुदाय की संस्कृति आदि से हो या चाहे वे धर्मनिरपेक्ष शिक्षा अर्थात् कला, औषधि, इंजीनियरिंग आदि से संबंधित हों, उन सभी की स्थापना और प्रशासन के मूल अधिकार

अनुच्छेद 30 (1) द्वारा उन्हे प्रदान किये गये हैं। न्यायालय ने यह भी कहा कि ये दो भिन्न अधिकार हैं, एक स्थापना का और दूसरा प्रशासन का। जो संस्थाए संविधान से पूर्व स्थापित हो चुकी हैं वे भी अनुच्छेद 30 (1) के संरक्षण की अधिकारी हैं तथा उनका दिन-प्रतिदिन का प्रशासन चलाना उन्हें स्थापित करने वाले अल्पसंख्यक समुदाय के मूल अधिकार का विषय है। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि यह दावा तो स्वीकार नही किया जा सकता कि राज्य अल्पसंख्यको की शिक्षा संस्थाओ को वित्तीय सहायता देने के लिए आबद्ध है अथवा वित्तीय सहायता देते समय वह उन संस्थाओ पर किसी भी प्रकार की शर्तें नही लगा सकता। परतु साथ ही न्यायालय यह दावा भी स्वीकार नहीं कर सकता है कि राज्य उन पर वित्तीय सहायता देते समय वे सभी शर्तें लगा सकते हैं जो कि वह अल्पसंख्यको के अतिरिक्त अन्य संस्थाओ पर लगाने मे समर्थ हैं, क्योकि ऐसी दशा मे अल्पसंख्यको को सहायता प्राप्त करने के मूल्य के रूप में अपने मूल अधिकार का परित्याग करना पड जायेगा। न्यायालय के मत मे राज्य अल्पसंख्यको की शिक्षा संस्था को सहायता देते समय केवल 'संस्था की उत्कृष्टता को सुनिश्चित करने के उद्देश्य से बनाये गये युक्तियुक्त विनियमो को शर्तों के रूप मे अधिरोपित कर सकता है। न्यायालय ने कहा

> "प्रशासन के अधिकार मे निश्चय ही कुशासन का अधिकार सम्मिलित नहीं हो सकता। अल्पसंख्यक समुदाय निश्चय ही राज्य मे ऐसी संस्थाओ के लिए मान्यता तथा सहायता की माग नहीं कर सकते जिन्हें वे अस्वस्थ वातावरण मे तथा ऐसे अध्यापको द्वारा चला रहे हो, जो न तो सुयोग्य हो और न ही जिनके पास अर्हता का कोई दिखावा हो या जो (संस्थाए) अध्यापन के साधारण मानको तक भी न पहुचती हो या जहा ऐसे विषय पढाये जाते हो जो विद्यार्थियो के लिए अकल्याणकारी हो। अत यह कहना युक्तिसगत होगा कि अपनी शिक्षा संस्थाओ का प्रशासन आप करने के अल्पसंख्यको के संविधानिक मूल अधिकार का राज्य के इस दावे के साथ संघर्ष होना आवश्यक नहीं है कि किसी भी संस्था को सहायता देते समय वह उस संस्था की उत्कृष्टता को सुनिश्चित करने के लिए युक्तियुक्त विनियम विहित कर सकता है।"[20]

केरल शिक्षा विधेयक, 1957 के मामले के बाद के निर्णयो मे न्यायालय धीरे-धीरे एक अतिमय निर्वचन की स्थिति पर पहुच गया। न्यायालय ने विनिर्धारित किया कि अल्पसंख्यक समुदाय की संस्था की उत्कृष्टता के लिए बनाये गये विनियमो को तो उनकी संस्थाओ पर सहायता या मान्यता की शर्तों के रूप मे अधिरोपित किया जा सकता है, किन्तु जन साधारण के हित मे या राष्ट्रीय हित मे बनाये गये विनियमो को उन पर सहायता या मान्यता की शर्तों के रूप में अधिरोपित नहीं किया जा सकता।[21] अनेक निर्णयो मे न्यायालय ने मत व्यक्त किया कि अल्पसंख्यको का प्रशासन या प्रबंध समितियो के साथ हस्तक्षेप करना या उनकी सरचना निर्धारित करने का प्रयत्न करना अनुच्छेद 30(1) के रहते वैध नहीं हो सकता।[22] न्यायालय ने पजाबी विश्वविद्यालय का यह आदेश अवैध घोषित कर दिया कि

उससे सबद्ध सभी महाविद्यालयो की तरह डी०ए०बी० कॉलिज, भटिंडा मे भी शिक्षा का माध्यम केवल पजाबी ही होगा, हिंदी नहीं।[23] भारत वर्ष के किसी भी महान सत के जीवन और उपदेश अथवा दर्शन और सस्कृति के भारतीय अथवा विश्व की सभ्यता पर प्रभाव के शास्त्रीय अध्ययन के लिए व्यवस्था प्रदान करने को धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था नही कहा जा सकता।[24] इस प्रकार न्यायालय धीरे-धीरे एक अतिमय निर्वचन की स्थिति पर पहुच गया। किन्तु इस स्थिति के प्रति न्यायाधिपति सुरेन्द्रनाथ द्विवेदी ने अहमदाबाद सेंट जेवियर **कॉलिज सोसाइटी बनाम गुजरात राज्य**[25] के मामले मे असतोष व्यक्त किया। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि अल्पसंख्यक समुदाय को अनुच्छेद 30 (1) द्वारा शिक्षा सस्थाओ को मान्यता प्राप्त कराने का कोई मूल अधिकार प्राप्त नही है। केवल अनुच्छेद 15 (1) द्वारा उन्हे यह अधिकार है कि जिन शर्तो पर अन्य समुदायो और सस्थाओ को मान्यता दी जाती है उनसे अधिक कठोर या अहितकर शर्तें अल्पसख्यको पर मान्यता के लिए अधिरोपित नही की जा सकती। उन्होंने यह भी कहा कि यद्यपि अनुच्छेद 30 (1) की भाषा आत्यतिक है, परतु इसका अर्थ यह नहीं कि उसमे उल्लिखित मूल अधिकार पर कोई निर्बधन नही है। स्वय सविधान मे अनुच्छेद 29 (2), 15 (4) तथा 28 (3) द्वारा उस पर अभिव्यक्त निर्बधन लगाये गये हैं। इनके अतिरिक्त उस पर विवक्षित निर्बधन भी हैं। उदाहरणार्थ, अल्पसख्यक समुदाय के प्रबधको का यह मूल अधिकार, सस्था के कर्मचारियो के अनुच्छेद 19 (1) (ज) मे दिये गये सस्था या सघ बनाने के मूल अधिकार के अध्यधीन समझा जाना चाहिए और इन प्रबधको को अपने कर्मचारियो को इस आधार पर दडित करने या पदच्युत करने की शक्ति प्राप्त नही होनी चाहिए कि उन्होंने (कर्मचारियो ने) सघ बनाने के अपने सविधानिक अधिकार का प्रयोग किया है। उन्होंने आगे कहा कि राज्य की विनियमन की शक्ति विभिन्न प्रकार की शिक्षा सस्थाओ के लिए भिन्न होगी यथा, जो सस्थाए केवल मान्यता चाहती हो उनके सबध मे वह शक्ति कम होगी और जो सहायता भी मागती हैं, उनके लिए अधिक होगी। उन्होने यह सिद्धात मानने से इनकार कर दिया कि राज्य केवल इन सस्थाओं की शैक्षणिक उत्कृष्टता को बढाने के हेतु से ही विनियमन कर सकती है।

न्यायाधिपति द्विवेदी के इस विसम्मत निर्णय की दिशा मे न्यायालय ने **गांधी फैजे आम कॉलेज, शाहजहापुर बनाम आगरा विश्वविद्यालय**[26] के मामले में आगे कदम रखा। इस मामले मे न्यायालय ने आगरा विश्वविद्यालय के उस परिनियम को वैध घोषित किया जिसके द्वारा अपीलार्थी कॉलेज को कहा गया था कि यदि वह बी०ए० की परीक्षा के लिए कुछ नये विषयों में विश्वविद्यालय की मान्यता चाहता है तो उसे अपनी प्रबध समिति मे अध्यापको के दो प्रतिनिधियो— एक तो प्रधानाध्यापक और एक ज्येष्ठ अध्यापक— को स्थान देना होगा। न्यायाधिपति कृष्ण अय्यर ने प्रारभ मे ध्यान दिलाया कि अनुच्छेद 30 पर निर्णयज विधि की सारी इमारत **केरल शिक्षा विधेयक, 1957 के मामले** की चट्टान पर आधारित है। उन्होंने आगे कहा कि सविधान के उपबध के सही निर्वचन का परिणाम होना चाहिए, 'कृपालुता से विनियमित स्वतत्रता जो कि स्वायत्त को न तो नष्ट करती हो और न अनुचित बढावा देती हो, परतु जो अधिक अच्छे

परिणामो को सम्प्रदर्शित करती हो।'

नवबर 17, 1986 को उच्चतम न्यायालय ने एक अन्य अत्यत महत्त्वपूर्ण निर्णय दिया। **फ्रैंक एथोनी पब्लिक स्कूल कर्मचारी सघ बनाम भारत सघ के मामले मे** न्यायाधिपतियो ने यह मत व्यक्त किया कि योग्य स्टाफ को आकर्षित करने के लिए विनियम बनाना तथा उन्हे कार्यकाल की न्यूनतम सुरक्षा का आश्वासन देना अल्पसख्यको को अनुच्छेद 30 मे दिये गये अपनी पसद की शिक्षा सस्थाओ को स्थापित करने और प्रशासन करने के मूल अधिकार का उल्लघन नही करता है। अल्पसख्यक शिक्षा सस्था के प्रबध को मौलिक अधिकारो की आड मे कर्मचारियो का दमन करने तथा शोषण करने की अनुमति नहीं दी जा सकती है।

इस प्रकार भारत मे धर्मनिरपेक्षता, धर्म और राज्य—दोनो के उचित दावो मे सुदर सामजस्य स्थापित करती है। राज्य धर्म का विरोधी या शत्रु नही है। सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने 1956 मे कहा, "भारतीय राज्य मे धार्मिक समदर्शिता को धर्मनिरपेक्षता या नास्तिकता से भ्रम नही करना है। धर्मनिरपेक्षता को यहा जिस प्रकार से परिभाषित किया गया है वह भारतीय प्राचीन धार्मिक परपराओ के अनुरूप है। यह व्यक्तिगत विशेषताओ को सामूहिक विचारो के अधीन करके नही बल्कि उनमे आपस मे सामजस्य स्थापित करके धर्मों मे विश्वास रखने वालो मे भाई-चारा स्थापित करने का प्रयास करता है। यह भाई-चारा एकता मे अनेकता के सिद्धात पर आधारित है और उसी मे केवल सृजनशीलता के गुण *विद्यमान हैं।*'[27] *इस प्रकार धर्मनिरपेक्षता का अभिप्राय धर्म विरोध या नास्तिकता अथवा* भौतिक सुविधाओ पर बल देना नहीं है। यह आध्यात्मिक मूल्यो की सार्वभौमिकता पर बल देता है जिन्हे विभिन्न तरीको से प्राप्त किया जा सकता है।

भारत मे धर्मनिरपेक्षता का अभिप्राय सभी धर्मों के प्रति समान सम्मान है। वास्तव मे यह प्रजातात्रिक सिद्धातो को धर्मों के सबध मे भी लागू करना है। हम मानते हैं कि किसी भी धर्म को अधिमान्य सम्मान अथवा विशिष्ट प्रतिष्ठा नही दी जानी चाहिए कि राष्ट्रीय जीवन अथवा अतर्राष्ट्रीय सबधो मे किसी धर्म को विशेषाधिकार नही दिया जाना चाहिए, क्योंकि यह प्रजातत्र के मूलभूत सिद्धातो का उल्लघन होगा तथा धर्म और सरकार दोनो के उत्कृष्ट हितो के विरुद्ध होगा।[28]

वी० पी० लूथरा भारत को धर्मनिरपेक्ष राज्यो की श्रेणी मे नहीं रखते हैं उनका मानना है कि 'वर्तमान परिस्थितियो मे भारत मे धर्मनिरपेक्ष राज्य को अपनाना न तो सभव है और न ही वाछनीय है। वास्तव मे देखा जाये तो भारतीय व्यवस्था की प्रतिबद्धता किसी पश्चिमी सिद्धात के प्रति नहीं है, बल्कि धर्मनिरपेक्ष सिद्धातो का भारतीय विशिष्टताओ के साथ सामजस्य स्थापित किया गया है। धर्मनिरपेक्षता से सबधित सविधानिक उपबधो पर महात्मा गाधी की गहरी छाप स्पष्ट है। हमारा सविधान भी 'सर्वधर्म अभाव' की जगह पर सर्वधर्म समभाव' या दूसरे शब्दो मे 'सर्वधर्म समलगाव' को अपनाता है। धर्मों के मार्मिक पक्ष को अबाधरूप मे मानने और आचरण करने की स्वतत्रता दी गयी है।

भारत के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप के सबध मे विचार व्यक्त करते हुए डी० ई० स्मिथ ने

कहा

> "भारत उसी प्रकार एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है जिस प्रकार उसे एक प्रजातंत्र राज्य कहा जाता है। भारतीय राजनीति एवं शासन में निहित विभिन्न अलोकतांत्रिक लक्षणों के बावजूद देश में संसदीय जनतंत्र अपने सम्यक् प्रभाव सहित कार्यरत है। उसी प्रकार धर्मनिरपेक्ष राज्य का आदर्श संविधान में स्पष्ट वर्णित है और यह सार रूप में क्रियान्वित भी किया जा रहा है। एक गतिशील राज्य जिसे विरासत में जटिल समस्याएं मिली हैं और जो उनके निराकरण के लिए उचित दिशा में दृढ़ता से संघर्षरत है, उसी के उचित परिप्रेक्ष्य में समस्या का समाधान खोजना चाहिए।[29]

संदर्भ

1 धर्म की स्वतंत्रता के अधिकार के संदर्भ में संविधान के अनुच्छेद 25 (2) (क) में धर्मनिरपेक्ष शब्द का प्रयोग किया गया है यद्यपि यह प्रयोग सुस्पष्टता के साथ नहीं किया गया है। उपबंध में दिया गया है

25 (2) इस अनुच्छेद की कोई बात किसी ऐसी विद्यमान विधि के प्रवर्तन पर प्रभाव नहीं डालेगी या राज्य को कोई ऐसी विधि बनाने से निवारित नहीं करेगी जो— (क) धार्मिक आचरण से संबद्ध किसी आर्थिक वित्तीय राजनीतिक या अन्य सेक्युलर क्रियाकलापों का विनियमन या निर्बंधन करती है।

2 अनुच्छेद 5

3 अनुच्छेद 6 व 7 प्रवास द्वारा नागरिकता प्राप्त करने के नियमों का उल्लेख करते हैं।

4 अनुच्छेद 8

5 भारतीय नागरिकता अधिनियम 1955 सह 7 4 5 और 6

6 ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 908 पृ० 911 12

7 ए० आई० आर० 1962, एस० सी० 853 पी० के० त्रिपाठी ने सही कहा है कि इसमें सामाजिक सुधार की बड़ी संकीर्ण कल्पना की गयी है (स्पाट लाइटस आन कान्स्टिट्यूशनल इंटरप्रिटेशन पृ० 114-20

8 ए० आई० आर० 1958. एस० सी० 731

9 ए० आई० आर० 1958 एस० सी० 255

10 ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 1119

11 आयुक्त हिंदू धार्मिक विन्यास मद्रास बनाम शिरूर मठ के श्री लक्ष्मीन्द्र तीर्थ स्वामियर ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 282, 290

12 उसी में पृ० 293

13 ए० आई० आर० 1958 एस० सी० 255

14 ए० आई० आर० 1958. एस० सी० 731

15 ए० आई० आर० 1961 एस० सी० 1402

16 ए० आई० आर० 1962, एम० सी० 853
17 ए० आई० आर० 1954 एम० सी० 282 291
18 अहमदाबाद सेंट जेवियर कॉलेज सोसाइटी बनाम गुजरात राज्य ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 1389
19 ए० आई० आर० 1958 एस० सी० 956 978
20 उसी म पृ० 982 83
21 रेवरेंड सिधराज भाई सब्बाई बनाम गुजरात राज्य ए० आई० आर० 1963, एस० सी० 540
22 रेवरेंड फादर डब्ल्यू० प्रूस्ट बनाम बिहार राज्य ए० आई० आर० 1969 एस० सी० 465
23 डी० ए० वी० कॉलेज भटिंडा बनाम पंजाब राज्य ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 1731
24 डी० ए० वी० कॉलेज जलंधर बनाम पंजाब राज्य ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 1737 1746
25 ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 1389 1461 1463 1464
26 ए० आई० आर० 1975 एस० सी० 1821 1824
27 रिकवरी आफ फेथ एलन एंड अनविन 1956 पृ० 202
28 उसी म
29 स्मिथ डी० ई० इण्डिया एज ए सेक्यूलर स्टेट 1963

4

स्वीय विधि—एक चक्रव्यूह

धर्मनिरपेक्षता के लिए आवश्यक है कि राज्य का विधान धर्म पर आधारित न हो। पश्चिम मे विधि के धर्मनिरपेक्षीकरण के विकास की गति प्राय एक समान नही रही है। धार्मिक और लौकिक नियमो मे समय-समय पर सघर्ष चलते रहे। चर्च ने आरभ से ही अपनी विधिक व्यवस्था का विकास आरभ कर दिया था। बिशप झगडो के निर्णायको का कार्य करता था किंतु उसके पास आध्यात्मिक शक्तियो के अतिरिक्त निर्णयो को लागू करने की कोई शक्ति नहीं थी। जैसा कि हमने पहले अध्याय मे देखा है कि कॉन्स्टेटाइन के समय से ही चर्च की शक्तियो मे वृद्धि होती गयी। धार्मिक विधि मध्यकाल मे विकास की पराकाष्ठा पर पहुच गयी। धार्मिक विधि के स्रोत थे धार्मिक ग्रथ, चर्च के फादरो की परपरा पोप की आज्ञप्तिया चर्च की परिषदो के बनाये नियम, धर्म सघ की परपराए तथा रोमन विधि, जर्मन विधि और सामती परपराओ जैसी धर्मनिरपेक्ष विधि। यद्यपि आरभ मे चर्च का अधिकार क्षेत्र केवल गिरजे सबधी मामलो तक सीमित था, किंतु धीरे-धीरे वह फौजदारी के मामलो मे अराजकीय क्षेत्राधिकार का विस्तार करने लगी जो पहले से राज्य के अधिकार क्षेत्र मे हुआ करता था। बारहवी तथा तेरहवी शताब्दी मे गिरजे-सबधी न्यायालय काफी मात्रा मे दीवानी क्षेत्राधिकार का प्रयोग करने लगे थे। शादी-विवाह तथा तलाक आदि इसके क्षेत्राधिकार म थे। धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष विधिक व्यवस्था के मध्य दीवानी क्षेत्राधिकार के लिए सघर्ष यूरोप के सभी देशो मे चल रहे मध्यकालीन चर्च— राज्य विवाद की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता थी। किंतु पद्रहवीं शताब्दी के बाद ज्यो-ज्यो राज्यो की शक्तियो मे वृद्धि होती गयी त्यो-त्यो राज्य अपनी न्यायालय-व्यवस्था को मजबूत करते गये तथा दीवानी क्षेत्राधिकार को बढाते गये, हालाकि शादी-ब्याह के मामले मे चर्च का वर्चस्व बना रहा। पुनर्जागरण के बाद कैथोलिक और प्रोटेस्टैंट दोनो देशो मे चर्च न्यायालयो के क्षेत्राधिकार को गिरजे सबधी अनुशासन तथा उससे सबधित अन्य मामलो तक ही सीमित रखने की सामान्य प्रवृत्ति रही है। हालाकि यह प्रवृत्ति हर जगह एक जैसी नही रही। इस प्रकार पश्चिम मे धार्मिक और लौकिक क्रियाओ को आरभ से ही अलग करके देखा गया, धार्मिक क्रियाओ से सबध

चर्च का था तथा लौकिक क्रियाओ से सबध राज्य का था । इसी प्रकार विधानो और न्यायालयो की दो व्यवस्थाए थी—लौकिक और धार्मिक इसाई धर्म, हिंदू तथा इस्लाम धर्म की तरह से मानव जीवन की सपूर्ण क्रियाओ को नियत्रित नहीं करता है ।

हिंदू और इस्लाम धर्म सर्वव्यापक रहे है । पारपरिक हिंदू और इस्लाम धर्म को, धर्म के साधारण अर्थ की सीमा मे नही बाधा जा सकता है । वे लगभग सपूर्ण जीवन पद्धति थे, वास्तव मे, मानव जीवन की प्रत्येक गतिविधि के व्यापक नियमो को वे निर्धारित करते हैं । वे केवल सामान्य सामाजिक सबधो को ही नही नियत्रित करते हैं बल्कि दीवानी तथा फौजदारी के सपूर्ण क्षेत्र तक व व्याप्त हैं । हिंदू अथवा मुसलमान राजा का कार्य क्रमश हिंदू विधि अथवा मुस्लिम विधि को लागू करना होता था निर्माण करना नहीं । क्योकि ये विधिया धार्मिक ग्रथो तथा अति प्राचीन परपराओ मे सुरक्षित थी । परिस्थितियो के अनुरूप आये परिवर्तनो को विवेकसम्मत बनाने का कार्य टीकाकारो का होता था इसमे राज्य की प्रत्यक्षत कोई भूमिका नही होती थी ।

पश्चिमी देशो का आधुनिकीकरण भारतीय उपमहाद्वीप मे राष्ट्रवाद के विकास मे काफी सहायक रहा । किंतु इसके साथ-साथ उन्नीसवी शताब्दी मे धार्मिक तथा सास्कृतिक पुनर्जागरण हुआ जो राष्ट्रवाद को सबलता प्रदान कर रहा था । धार्मिक भावना तथा राष्ट्र-राज्य की भावना, दोनो मे विकास साथ-साथ चलता रहा हालाकि दोनो कुछ हद तक परस्पर-विरोधी थे । एक रूढिवादिता अधविश्वास और सकीर्ण निष्ठा पर आधारित थी तो दूसरी धर्मनिरपेक्ष विवेकसम्मत मूल्यो पर आधारित थी । आजादी के बाद भी एक तरफ विवाह, तलाक दत्तक ग्रहण सरक्षकता विरासत और उत्तराधिकार आदि मामलो के राज्य के हस्तक्षेप से घेराबदी की गयी दूसरी तरफ राष्ट्र-राज्य को शक्तिशाली बनाने, अल्पसख्यको की समस्या को हल करने तथा आधुनिकीकरण लाने के लिए उदारवादी प्रजातत्र के माध्यम से धर्मनिरपेक्षीकरण की तरफ कदम बढाया गया । किंतु आज भी एकसमान सिविल सहिता भारत मे विधान के अनुच्छेद 44 को ही सुशोभित कर रही है । इस समस्या को समझने के लिए भारतीय ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को जानना आवश्यक है ।

अग्रेजी शासन से पूर्व की विधिक व्यवस्था

भारत मे प्राचीनकाल मे हिंदू विधि प्रचलित थी । यह विधि धर्म का अभिन्न अग मानी जाती थी । हिंदू विधि के मूल सिद्धात वेदो अथवा ईश्वरदिष्ट ग्रथो मे पाये जाते हैं । इन्हे 'श्रुति' कहा जाता है ऐसा विश्वास किया जाता है कि अति प्राचीनकालीन ऋषियो तथा मुनियो ने (ईश्वरीय) शाश्वत शब्दो को सुना तथा आगे की पीढ़ियो की भलाई के लिए सप्रेषित किया । दूसरे महत्त्वपूर्ण धार्मिक ग्रथो को जो श्रुति से भिन्न हैं स्मृति कहा जाता है । 'स्मृति' सूत्रो तथा शास्त्रो के सामूहिक रूप को कहते हैं जिनके बारे मे यह विश्वास किया जाता था कि इसका रहस्य रचयिताओ को प्रत्यक्ष रूप मे अवगत कराया गया था, इसलिए बाद के ग्रथो मे इनकी पवित्रता अधिक मानी गयी । इसमे अनेक

धर्मशास्त्र अथवा विधि-संहिताएं आती हैं, जिनमें से मनु प्राचीनतम् हैं। जो अपने अंतिम रूप में द्वितीय अथवा तृतीय शताब्दी में लिखा गया था। महाकाव्य तथा पुराण भी स्मृति के रूप में समझे जाते थे तथा उनमें वैधानिक ज्ञान अधिक था। आगे चलकर स्मृति साहित्य पर अनेक टिप्पणियां लिखी गयीं। बारहवीं शताब्दी के आरंभ में विज्ञानेश्वर ने टिप्पणी लिखी। याज्ञवल्क्य के नीति-ग्रंथ पर उनकी मिताक्षरा नामक टीका ने वर्तमान भारत के नागरिक विधान का निर्माण करने में अधिक महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया। दूसरे महत्त्वपूर्ण नीतिज्ञ हेमाद्रि (1300) तथा जीमूतवाहन (12वीं शताब्दी) ने वर्तमान भारत के विधान को अत्यधिक प्रभावित किया। उनके दाय भाग पर लिखे हुए लेख, 'धर्मरत्न' नामक महान संकलन के एक अंश थे। पंद्रहवीं शताब्दी में वाचस्पति मिश्र ने 'विवाद चिंतामणि' तथा 'व्यवहार चिंतामणि' नामक दो पुस्तक लिखी, जिनमें पहली विधि सारसंग्रह है तथा दूसरी प्रक्रिया संहिता है। दोनों मनु, याज्ञवल्क्य, बृहस्पति, नारद, व्यास आदि के ग्रंथों पर आधारित हैं।

विधान का प्रमुख आधार धर्म था। धर्म, जैसाकि हमने द्वितीय अध्याय में देखा है, अत्यधिक व्यापक अर्थों में प्रयुक्त होता था। वैधानिक साहित्य में इसकी सच्चरित्रता के दैविक निर्दिष्ट सिद्धांत के रूप में व्याख्या की गयी है, जो श्रेणी तथा जाति के अनुसार विभिन्नता रखता है। धर्म के साथ-साथ ग्रंथों के अनुसार विधान के अन्य आधार समझौता, प्रथा तथा राज्यादेश हैं। हालांकि आरंभ में वे महत्त्वपूर्ण नहीं समझे जाते थे, किंतु समयानुसार उत्तरोत्तर इनका महत्त्व बढ़ता गया। ए० एल० बाशम का मानना है, 'सामान्य रूप से धर्म विधान के समस्त अन्य आधारों में सर्वोपरि समझा जाता था, परंतु 'अर्थशास्त्र' तथा एक अन्य नीतिशास्त्र का कथन है कि राज्यादेश अन्य आदेशों की अपेक्षा अधिक मानवीय था, यह सिद्धांत मौर्यों के सर्वाधिकारवाद से अवश्य संबंधित है तथा कुछ नीतिज्ञों ने जिसका समर्थन भी किया था।'[1] राजा का सुरक्षा कर्तव्य प्रधानतः धर्म की रक्षा था तथा धर्मरक्षक के रूप में वह धर्मावतार भी कहा जाता था।

जहां तक प्राचीन काल में न्याय व्यवस्था का प्रश्न है, प्राचीन धर्मसूत्रों से यह सिद्ध होता है कि छोटे-छोटे राज्यों में न्याय का मुख्य साधन स्वयं राजा तथा वास्तव में उसका अपना जल्लाद होता था। परंतु सामान्य रूप से न्याय-प्रबंध का अधिकार हस्तांतरित कर दिया जाता था, क्योंकि राजा का दरबार प्रार्थनाओं तथा राज्यों के विरुद्ध घोर अपराधों को सुनने के लिए सुरक्षित था। राजा का मुख्य न्याय परामर्शदाता 'प्राड्विवेक' होता था तथा मध्यकालीन राज्यों के अंतर्गत वही न्याय का उत्तरदायी होता था तथा वह स्वयं ही न्यायाधीश के रूप में कार्य भी करता था। न्यायालयों की रचना में एकरूपता नहीं थी, समय तथा स्थानानुसार विभिन्नता थी। किंतु अनेक प्रमाण यह दर्शाते हैं कि प्राचीन भारत एक न्यायाधीश की अपेक्षा उनकी मंडली को अधिक महत्त्व प्रदान करता था तथा न्यायाधीशों के लिए बहुत ऊंचे स्तर निर्धारित किये गये थे। ध्यान देने योग्य बात है कि राज्य न्यायालयों के साथ-साथ अन्य पंचायतें भी थीं, जो झगड़ों का निर्णय दे सकती थीं तथा छोटे-छोटे अपराधों का निपटारा करती थीं।

सामान्य रूप से झूठे साक्षी को अत्यधिक घृणात्मक दृष्टि से देखा जाता था।

भयकर अपराध सबधी अभियोगो मे सभी स्रोतो से साक्ष्य स्वीकार किया जा सकता था परतु नागरिक विधान के अतर्गत केवल कुछ विशेष प्रकार के साक्षी ही मान्य थे। सामान्यतया स्त्रिया, योग्य ब्राह्मण, राजकीय कर्मचारी अल्पायु के व्यक्ति ऋणी दोषी व्यक्ति तथा अगहीन व्यक्ति साक्ष्य देने के लिए नहीं बुलाये जा सकते थे जबकि उच्च जाति के लोगों के विरुद्ध निम्न जाति के लोगो की साक्ष्य माननीय नही थी। साक्ष्य की सत्यता का मूल्याकन करने के लिए अनेक परीक्षण निर्धारित किये गये थे। हत्या के दड के लिए प्रारभिक सूत्रों मे जुरमाने का विधान है—एक क्षत्रिय की हत्या के लिए एक सहस्र गाये, एक वैश्य के लिए सौ गाये तथा शूद्र अथवा किसी भी श्रेणी की स्त्री की हत्या के लिए दस गायो का जुर्माना निर्धारित किया गया था। ब्राह्मण की हत्या जुर्माने द्वारा क्षम्य नही थी। भारतीय (हिंदू) समाज आदि काल से श्रेणियो तथा जातियो मे विभक्त रहा है। स्मृतियो द्वारा निर्धारित वैधानिक प्रणाली श्रेणी के अनुसार दड देती थी। मनुस्मृति के अनुसार यदि एक ब्राह्मण एक क्षत्रिय का अपयश फैलाये तो उसको 50 पण का दड देना चाहिए, परतु एक वैश्य अथवा शूद्र का अपयश फैलाने पर केवल 25 और 12 पण का क्रमश अर्थदड देने का विधान था। निम्न जाति के लोगो पर अपने से उच्चतर जाति के लोगो का अपयश फैलाने पर कही अधिक कठोर दड की व्यवस्था है। उत्तर वैदिककाल मे ब्राह्मणो ने पूर्णत यह अधिकार प्रकट किया कि वे विधान से सर्वथा परे हैं। अधिकाश रूढिवादी स्रोतो के अनुसार ब्राह्मण को फासी यत्रणा तथा शारीरिक दड से मुक्त कर दिया गया था। जो कठोर से कठोर दड उनको दिया जा सकता था वह उनकी चोटी खोलकर उन्हे अपमानित करने के साथ ही उनकी सपत्ति का अपहरण तथा देश निष्कासन था। किंतु कात्यायन की स्मृति तथा 'अर्थशास्त्र' कुछ परिस्थितियों मे मृत्युदड को स्वीकार करते हैं। किंतु ब्राह्मणो द्वारा चोरी किया जाना क्षम्य नही था क्योकि उच्च श्रेणी के लोगो से निम्न श्रेणी वालो की अपेक्षा चरित्र के उच्चतर स्तरो के अनुसरण की आशा की जाती थी। यही कारण है कि मनु के अनुसार चोरी के दड स्वरूप शूद्र को चोरी की हुई वस्तुओ के आठ गुने मूल्य के बराबर अर्थदड देना पडता था, जबकि वैश्य, क्षत्रिय ब्राह्मण को क्रमश मूल्य का 16, 32 और 64 गुना देना पडता था।

इस प्रकार हिंदू विधि मे दड का वर्गीकरण अपराधो की श्रेणी के अनुसार विभिन्न अपराधो के लिए किया गया है तथा प्राचीन भारतवर्ष म नीति से सबको समान कदापि नही स्वीकार किया गया था जो अधिकाश भारतीय विचारधारा के पूर्णत विपरीत था। बाशम के अनुसार, "यदि 'समता' का अर्थ बराबरी है जिसका अधिकारियो के न्याय सबधी कार्यों मे प्रयोग करने की आज्ञा अशोक ने दी थी तो यह एक वैचित्र्य है। यह सभव है कि इस शब्द का अर्थ एकरूपता अथवा सभवत मृदुता से अधिक न हो। इसकी सभावना नही है कि अशोक ने भी न्याय प्रबध मे ऐसा सबल परिवर्तन करने का साहस किया हो—एक ऐसा परिवर्तन जिससे कोई भी प्राचीन नीतिज्ञ, भारतीय अथवा अन्य सहमत हुआ हो।"[2]

अरबो, तुर्कों तथा अफगानो के आगमन के साथ भारत म एक बिलकुल नया धर्म इस्लाम आया। इस्लाम का पवित्र ग्रथ कुरान है जिसमे साक्षात्कार के क्षणो मे मुहम्मद

साहब को जो दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ, वह सग्रहीत है। कुरान मे अल्लाह की एकता, मनुष्य के कर्तव्य, अतिम निर्णय की अटलता, सगठन, आचार और कानूनो का प्रतिवादन है। कुरान के ही कोटि के सुन्नत अथवा 'सुन्नाह' (अर्थात् जो कुछ पैगबर साहब ने कहा, किया या जिसकी उन्होंने अव्यक्त अनुमति दी थी) और 'हदीश' (अर्थात् पैगबर साहब की उक्तिया, उक्तियो या कार्यों का वर्णन अथवा अव्यक्त अनुमोदन) है। ये मुसलमानो द्वारा कुरान के अनुपूरक समझे जाते हैं। इस्लाम मे धर्म और समाज का पूर्ण समन्वय है, परिवार, समाज राज्य, अर्थव्यवस्था, सस्कृति, शिष्टाचार, धर्म और दर्शन सब एकसूत्र मे बधे हुए, एक-दूसरे के पूरक हैं। जहा तक मुस्लिम विधि का सवाल है, उसका क्षेत्र काफी व्यापक है तथा 'विधि ही धर्म है और धर्म ही विधि है' इसमे उपासना से लेकर सपत्ति के अधिकार तक सभी कुछ सम्मिलित है। मुस्लिम विधि ही मुस्लिम समुदाय को एकीकृत करने का प्रमुख तत्त्व है। प्रो० असफ ए० ए० फैजी ने मुस्लिम विधि के चार प्रमाणित स्रोत माना है—1 कुरान 2 सुन्ना 3 इजमा (विचारो के मतैक्य) और (4) कयास (सादृश्यमूलक निगमन), अर्थात् विवेक और दलील से कुछ निश्चित नियमो की सहायता से काम लेना जबकि कुरान और सुन्ना का सबध अतीत मे है तथा कयास और इजमा भविष्य से सबधित हैं।[3]

मुस्लिम विधि मुख्य रूप से दो शाखाओ मे बटी हुई है—सुन्नी सप्रदाय और शिया सप्रदाय। सुन्नी विचारधारा पुन चार उपशाखाओ मे विभक्त है। ये हैं—1 हनफी, 2 मलिकी, 3 शफेई और 4 हनबली विचारधारा। ये उन प्रसिद्ध विधि ज्ञाताओ के नाम से पुकारी जाती हैं जो इन विचारधाराओ के प्रवर्तक थे। शिया सप्रदाय भी अनेक विचारधाराओ मे विभक्त है। हालाकि अधिकाश सुन्नी मुसलमान हनफी विचारधारा को मानते हैं किंतु एक विचारधारा के माननेवालो द्वारा दूसरी विचारधारा के किन्हीं सिद्धातो को मानने और व्यवहार मे लाने मे कोई रुकावट नही है। इस प्रकार मुस्लिम विधि बिलकुल अनुदार नहीं है। किंतु धार्मिक कट्टरता ने धार्मिक उदारता को धीरे-धीरे दबा दिया तथा पिछले एक हजार वर्षों से मुस्लिम विधि के दो स्रोत, मतैक्य तथा सादृश्यमूलक निगमन (इजमा और कयास) का प्रचलन बिलकुल बद हो गया है। साथ ही साथ कुरान और सुन्ना की भी सकुचित व्याख्या की जाने लगी।

भारत मे सल्तनत काल मे 'उलेमा' एक ऐसी राजनीति की शक्ति बन गये थे जिनकी उपेक्षा नही की जा सकती थी। इस काल मे इस्लाम के मूल कानूनो, 'शरीअत', का 'उलेमा' की व्याख्या के अनुसार पालन होता था। सुलतान, मुख्य क़ाजी जिसका परामर्शदाता होता था, सर्वोच्च न्यायाधीश होता था और मृत्युदड सबधी समस्त मामले सुलतान के समक्ष पेश किये जाते थे। नया कानून प्रारभ मे दरबार मे और ऐसे नगरो मे लागू किया गया जहा पर्याप्त मुस्लिम प्रजा रहती थी। ग्रामो मे पुराना कानून चलता रहा। गैर मुस्लिमो को अपनी निजी कानूनी सस्थाए रखने की स्वतत्रता थी, जिसके फलस्वरूप अनेक जटिलताए उत्पन्न हो जाती थी। अत मे यह निर्णय हुआ कि यदि ऐसा करने से राज्य पर कोई विपत्ति नही आती तो गैर मुस्लिम सहिता का प्रयोग गैर मुस्लिमो के लिए किया जा सकता है। इस सहिता की व्याख्या अस्पष्ट रखी गयी और इसीलिए

निर्णय कानून के बजाय कार्य साधकता के आधार पर लिये जाते थे ।[4]

मुगलो के शासनकाल मे फौजदारी के मामलो मे मुस्लिम विधि को लागू किया गया जिसे निजामत अदालत लागू करती थी । यह विधि मुस्लिमो और काफिरो मे भेदभाव करती थी । जानबूझकर हत्या किये जाने के मामले मे किसास अथवा बदले का सिद्धात लागू होता था तथा हत्या किये गये व्यक्ति के सगे-सबधी के हत्यारे की मृत्यु की माग करने का अधिकार मिला हुआ था । अगर सबधी मृत्यु की माग नहीं करता था तो मृत्युदड के लिए राज्य द्वारा आग्रह नही किया जा सकता था तथा 'दिया' रक्त धन सीधे मृत व्यक्ति के परिवार को दे दिया जाता था । हत्या के आरोप को सिद्ध करने के लिए दो पुरुष साक्षी आवश्यक होते थे जिन्होंने आखो से देखा हो किंतु यदि प्रतिवादी मुसलमान होता था, तो गैर मुस्लिमो का परिसाक्ष्य अवैध होता था, चोरी के लिए दड था— हाथो को काट दिया जाना । दीवानी के मामलो मे मुसलमानो के सबध मे मुस्लिम विधि तथा हिंदुओं के सबध मे हिंदू विधि, न्यायालयो के साथ जुडे हुए मौलवियो और पडितों के विचार के अनुसार लागू किया जाता था ।

इस प्रकार भारत मे कपनी का शासन स्थापित होने से पूर्व तक भारत मे ऐसी परिस्थितिया नही थी जो विधानो के धर्मनिरपेक्षीकरण मे सहायक हो । देश राजनीतिक रूप से एकीकृत नही था । सभी प्रकार के विधान धर्म से जुडे हुए थे, साथ ही दो विभिन्न प्रकार के धार्मिक विधान लागू थे । दोनो जीवन की छोटी से छोटी बातो को पूर्णत नियंत्रित करते थे। यहा तक कि धर्मनिरपेक्ष विधान के एक प्रमुख स्रोत परपराओ को भी धर्म द्वारा आत्मसात् कर लिया जाता था ।[5]

ब्रिटिश काल की आरभिक विधान व्यवस्था

भारत मे औरगजेब के महान मुगल व्यक्तित्व के अवसान के साथ-साथ ईस्ट इडिया कपनी के पैर जमते गये । ईस्ट इडिया कपनी के पहले सौ वर्षों (1661 मे 1765 तक) मे न्यायिक शक्तियो के प्रयोग के तहत न्यायालयो ने इग्लैड के विधान को केवल छोटे-छोटे मद्रास, बाबे और कलकत्ता के उपनिवेशो मे लागू किया, वह भी अधिकाशत केवल यूरोपीय ब्रिटिश प्रजा के सबध मे । सन् 1765 मे दिल्ली के मुग़ल सम्राट् से कपनी को बगाल, बिहार और उडीसा के सबध मे शासन शक्ति के साथ दीवानी के अधिकार प्राप्त हो गये तथा बाद मे निजामत के अधिकार भी कपनी को मिल गये । मुग़ल शासन के दौरान दीवान सिविल विधान को लागू करवाता था तथा लोकव्यवस्था बनाये रखने और फौजदारी के विधानों को लागू करवाने का काम निजाम करता था । आरभ मे कपनी ने दीवानी और निजामत दोनो को पुराने भारतीय ढाचे के ही हाथो मे रहने दिया तथा ऊपर से नियत्रण और निरीक्षण करती रही, किंतु बाद मे यह कार्य कपनी के अधिकारी करने लगे ।

वारेन हेस्टिग्स ने 1772 मे एक न्याय-योजना बनायी, जिसके अनुसार जिले को न्याय और दूसरे कार्यों के लिए शासन की इकाई बनाया । हर जिले मे एक दीवानी और

दंड न्यायालय की व्यवस्था की। दीवानी अदालत की अध्यक्षता जिले का कलेक्टर करता था और उसकी मदद के लिए भारतीय अधिकारी होते थे। फौजदारी अदालतों के अध्यक्ष भारतीय अधिकारी ही होते थे और उसकी मदद के लिए एक मुफ्ती और दो मौलवी हुआ करते थे। अंग्रेज अधिकारियों के पास निरीक्षण का अधिकारी था। जिला दीवानी अदालत में होने वाली अपीलों के लिए कलकत्ता में ही एक सदर दीवानी अदालत तथा जिला फौजदारी अदालतों की अपीलों के लिए भी कलकत्ता में ही एक सदर निजामत अदालत स्थापित की गयी। ये दोनो अदालतें दीवानी और फौजदारी मामलों की उच्च अदालतें थीं। सदर दीवानी अदालत की अध्यक्षता गवर्नर और सदर निजामत अदालत की अध्यक्षता दरोगा-ए-अदालत करता था और उसकी सहायता के लिए एक मुख्य काज़ी, मुख्य मुफ्ती और तीन मौलवी होते थे। गवर्नर और उसकी परिषद् सदर निजामत अदालत के कार्यों की देख-रेख करते थे। हेस्टिंग्स ने देशी न्याय-व्यवस्था और लिखित अथवा अलिखित न्याय-नियमों को जिनके कि सर्वसाधारण अभ्यस्त थे यथोचित परिवर्तनों के साथ ज्यों-का-त्यों बना रहने दिया। भारत के एकीकरण के लिए भी 1773 में एक अधिनियम पारित करके महत्त्वपूर्ण कदम उठाया गया। पहले प्रेसीडेंसियां अलग व स्वतंत्र थी 1773 के अधिनियम द्वारा बंगाल प्रेसीडेंसी को बंबई और मद्रास की प्रेसीडेंसियों का सप्रभु बना दिया गया तथा बंगाल के गवर्नर को तीनों का गवर्नर जनरल बना दिया गया। एक चार्टर द्वारा कलकत्ता में सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की गयी। यहा भारत में कंपनी के अधीन क्षेत्रों का सर्वोच्च न्यायालय था। इसे दीवानी फौजदारी, जल सेना व धार्मिक मामलों में विस्तृत अधिकार थे, यह अभिलेख न्यायालय भी था। किंतु इसमें यह स्पष्ट नहीं किया गया कि सर्वोच्च न्यायालय प्रशासन में किस विधि (ब्रिटिश हिंदू या मुस्लिम विधि) का प्रयोग करेगा। हालांकि इसे 1781 के अधिनियम द्वारा स्पष्ट किया गया। अधिनियम ने स्पष्ट नियम बनाये कि ज़मीन, लगान या संपत्ति के उत्तराधिकारी का अथवा किसी समझौते का निर्णय, यदि दोनों पक्ष मुसलमान हैं तो मुसलमानी विधि और परंपरा से होगा, यदि एक मुसलमान और दूसरा हिंदू है तो प्रतिवादी के धर्मगत कानून से होगा। दूसरे शब्दों में विदेशी कानून के स्थान पर प्रतिवादी के व्यक्तिगत कानून के अनुसार निर्णय करने का नियम बनाया गया। साथ ही यह बात स्पष्ट कर दी गयी कि न्यायालय को भारतीय धर्म, रीति रिवाज, परंपराओं सामाजिक नियमों में जिनमें पिता और गृहपति का अधिकार भी सम्मिलित है साथ ही जाति के नियमों का (चाहे ये सब बातें अंग्रेज़ी न्याय के अनुसार असंगत और अपराधपूर्ण ही क्यों न हों) आदर भी करना चाहिए। साथ ही आज्ञप्ति और विधि को कार्यान्वित करने में देश के निवासियों को धार्मिक और सामाजिक परंपराओं का आदर करने का आदेश दिया गया। वैसे तो मामलों का निपटारा हिंदुओं और मुसलमानों को स्वीय विधि के अनुसार होना था, किंतु कोई मामला ऐसा हो जो इन विधानों से बाहर हो तो ऐसे मामलों में न्यायाधीश 'न्याय साम्या और भले अंत करण' के सिद्धांत का प्रयोग कर सकता था।

फौजदारी अदालतों में काज़ी व्यवस्था तब तक चलती रही, जब सन् 1790 में

कपनी ने फौजदारी क्षेत्राधिकार सीधे अपने पास ले लिया। मुस्लिम विधि इस सबध मे हिंदुओ और मुसलमानो पर बगाल और मद्रास मे लागू होती रही। बबई का मामला भिन्न था। क्योकि पश्चिमी भारत का अधिकाश भाग मुगलो के अधीन न होने के कारण दीवानी और फौजदारी विधि सबधित व्यक्ति, हिंदू या मुसलमान के धर्म पर निर्भर करता था। इस प्रकार बबई मे 1827 मे समान फौजदारी सहिता पारित किये जाने तक फौजदारी विधि स्वीय विधि थी। हालाकि ब्रिटिश अधिकारी न्यायाधीश हो गये किंतु अधिकृत भाष्यकार के रूप मे काजी लोग न्यायालय की सेवा करते रहे। अत मे 1832 के विनियम 6 के द्वारा सभी लोगो पर लागू होनेवाले एक सामान्य विधि व्यवस्था के रूप मे मुस्लिम फौजदारी विधि का अत कर दिया गया।

हेस्टिंग्स ने यह देखा कि न्यायाधीशो के पास संस्कृत फारसी और अरबी ग्रथो का पर्याप्त ज्ञान न होने के कारण वे भारतीय अधिकारियो पर अत्यधिक निर्भर रहते थे। साथ ही भारतीय विधि अधिकारियो के भ्रष्ट होने अथवा घूसखोर होने की सभावना बनी रहती थी। उसने इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए तथा सदियों से चले आ रहे हिंदू और मुस्लिम कानूनो को आदर देने के लिए इन कानूनो को एक सहिता के रूप मे तैयार करने की आवश्यकता महसूस की। हेस्टिंग्स ने संस्कृत के पडितो की सहायता ली। 1775 मे प्रामाणिक ग्रथो के आधार पर दस विद्वानो ने संस्कृत मे हिंदू विधि की एक सहिता तैयार की जिसका फारसी तथा अग्रेजी मे अनुवाद किया गया। अरबी के हिदाया का अग्रेजी मे अनुवाद किया गया तथा बाद मे भी यह सिलसिला चलता रहा। इस दिशा मे सर विलियम जोन्स ने उल्लेखनीय कार्य किया।

हेस्टिंग्स न्याय-योजना निश्चय ही भारत के सवैधानिक विकास मे एक महत्त्वपूर्ण कदम था। बाद मे उसमे थोडा-बहुत परिवर्तन होता रहा किंतु उसका मूल स्वरूप वही बना रहा। यहा तक कि यह योजना आज भी अपना प्रभाव बनाये हुए है। इस प्रकार भारतीय प्रजा धार्मिक मामलो को लेकर विमुख न हो जाये इस डर से ब्रिटिश अधिकारी हिंदू और मुस्लिम विधि को कानून बनाकर सशोधित करने के अनिच्छुक रहे। किंतु उन्होने एक सबसे बड़ा क्रातिकारी कदम यह उठाया कि कानून के समक्ष सब बराबर है के सिद्धात को अपनाया जिसने एक धर्मनिरपेक्ष राज्य मे समान नागरिकता की स्थापना के लिए मजबूत आधार तैयार किया। दूसरा महत्त्वपूर्ण कदम निर्णीतानुसरण के सिद्धात को लागू करना था, जिसके कारण जो विधान पहले धार्मिक ग्रथो मे निहित था वह अब इन अदालतो के निर्णयज विधि मे नियत हो गया। इससे धीरे धीरे पडितो और मौलवियो की महत्ता इस सदर्भ मे कम होने लगी तथा न्यायालय मामलो की सुनवाई मे, यहा तक कि धर्मशास्त्रो का उद्धरण दिये जाने पर भी निर्णयज विधि से हटने के अनिच्छुक रहे। इस प्रकार न्यायालयो ने धार्मिक ग्रथो का स्थान निर्णयज विधि को देकर धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया को बल प्रदान किया।

ब्रिटिश शासनकाल में संहिताकरण और विधायन

उन्नीसवी शताब्दी में इग्लैंड तथा उसके उपनिवेशों पर सबसे अधिक प्रभाव प्रसिद्ध विधि विचारक बेन्थम के विचारो का पड़ा। उसके विचारो ने भारत की विधान व्यवस्था मे क्राति ला दी। उसके अनुसार नैतिकता और कानून का मूलभूत उद्देश्य अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख होना चाहिए। उसने विधिक प्रत्यक्षवाद के सिद्धात का समर्थन किया तथा प्राकृतिक अधिकारों और सामाजिक समझौते के सभी तरह के विचारो का विरोध किया। उसका कहना था कि कानून निश्चित और इसलिए लिखित होने चाहिए तथा वे लागू किये जाने के योग्य होने चाहिए। इस आधार पर उसने विधि और न्यायिक प्रक्रिया के सबध मे एक उदार सुधारवादी सिद्धात तैयार किया तथा भारत बेन्थम के संहिताकरण के सिद्धातो का परीक्षण स्थल बना। भारत में जो विधान व्यवस्था इस समय तक लागू थी वह काफी भ्रमपूर्ण थी। गाव जिला और प्रदेश स्तर पर न्यायालयो मे भिन्न-भिन्न विधानो को प्रयोग मे लाया जा रहा था। सिविल विधि के अनेक मामलो मे हिंदू और मुसलमान अपनी-अपनी विधियो के अनुसार शामिल थे। किंतु अन्य लोगों के शासन के लिए दूसरी तरह की विधि प्रयोग मे लायी जा रही थी। फौजदारी विधि हिंदुओ और मुसलमानो के सबध मे प्रयोग मे लायी जा रही थी, जो समय के हिसाब से पुरानी पड गयी थी। इसलिए भारत के लिए विधि संहिता की आवश्यकता महसूस की गयी।

1833 का अधिनियम भारत के सवैधानिक विकास मे एक महत्त्वपूर्ण कदम था। इसके द्वारा प्रशासन विशेषतया विधायन का केंद्रीकरण किया गया। अन्य प्रेसीडेंसियों पर सत्ता होने के बावजूद 1833 के अधिनियम तथा गवर्नर जनरल को गवर्नर जनरल ऑफ बंगाल कहा जाता था। अब उसका पदनाम गवर्नर जनरल ऑफ इंडिया कर दिया गया तथा उसे ज्यादा अधिकार दिये गये। 1833 के अधिनियम द्वारा विभिन्न प्रकार के कानूनों—ब्रिटिश ससद के कानून, विभिन्न चार्टर-एक्ट गवर्नर जनरल और उसकी परिषद् द्वारा पास किये गये नियम सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गये आदेश और प्रेसीडेंसी सरकारो के आदेश—को खत्म कर दिया गया तथा गवर्नर जनरल और उसकी परिषद् को सारे देश के सभी स्थानो और सभी उद्देश्यो तथा व्यक्तियों के लिए हर विषय पर कानून बनाने का अधिकार दे दिया गया। हालाकि ब्रिटिश शासन को अधिकारो मे हस्तक्षेप करने की अनुमति नही थी और न ही ससद के अधिकारो के अतिक्रमण का अधिकार था। इस प्रकार भारतीय प्रशासन को एक दृढ केंद्रीय प्रणाली का रूप दे दिया गया। गवर्नर जनरल को कार्यकारी परिषद् मे एक कानून सदस्य को शामिल करने की व्यवस्था की गयी।

उस समय के उदार मानवीय भावनाओ के अनुकूल इस अधिनियम को स्पष्ट और निश्चित भाषा मे व्यक्त किया गया कि भविष्य मे किसी पद के लिए योग्यता की ही कसौटी होगी। यह नियम बनाया जाता है कि उपरोक्त क्षेत्रो का कोई भी निवासी केवल अपने धर्म, जन्म स्थान वश रग या इनमे से किसी एक के आधार पर किसी पद पर नियुक्ति होने या कपनी मे नौकरी पाने से वंचित नही किया जायगा। अनिश्चितता

समाप्त करने के लिए सपरिषद् गवर्नर जनरल को इंडियन लॉ कमीशन बनाने का निर्देश दिया गया। इस आयोग को स्थानीय परिस्थितियों को ध्यान मे रखते हुए शासन के लिए सामान्य विधान बनाना था। इसे उक्त प्रदेश की वर्तमान न्याय और पुलिस व्यवस्था *उसके क्षेत्राधिकार, नियम और उनकी कार्य पद्धति, लिखित अथवा प्रचलित दीवानी* और फौजदारी विधान की जाच करके सपरिषद् गवर्नर-जनरल को रिपोर्ट करना था। पहले विधि आयोग का अध्यक्ष लार्ड मैकाले को बनाया गया। अधिनियम के सपरिषद् गवर्नर-जनरल को भारत मे गुलामो की दशा सुधारने और सारे भारत मे गुलामी प्रथा समाप्त करने के लिए उपयुक्त कार्रवाई करने का निर्देश किया।

मैकाले के नेतृत्व मे विधि आयोग ने इंगलिश दड विधि के आधार पर दड सहिता तैयार की तथा 1837 मे सरकार को पेश की। किंतु काफी समय तक अधर मे लटकी रही। सन् 1860 में स्वीकृत होने पर लागू की गयी। इस आयोग ने दीवानी और फौजदारी पद्धति की सहिताओ के लिए भी आधार तैयार किया। मैकाले ने कहा कि उनका अभिप्राय यह नही है कि भारत के सभी लोगो को एक कानून के अधीन रहना चाहिए। इसके विपरीत यह उद्देश्य कितना वाछनीय है कि हम जानते हैं कि यह प्राप्त किया नही जा सकता हमारा सिद्धात साधारणत यह होना चाहिए कि जहा सभव हो एक समानता लायी जाये किंतु हर दशा मे निश्चितता परम आवश्यक है। इस प्रकार विधियो की अनिश्चितता को समाप्त करने तथा एक समानता लाने के लिए हर सभव कदम उठाये गये।

सन् 1850 मे जाति निर्योग्यता निवारण अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम के पारित होने से पहले हिंदू और मुस्लिम, दोनो विधियो के अनुसार यदि कोई हिंदू अथवा मुसलमान अपना धर्म छोड़ देता था अथवा जाति मे अपदस्थ कर दिया जाता था तो परिणामत वह अपने अधिकार और सपत्ति से वचित हो जाता था। हिंदू विधि के अनुसार अनेक मामलो मे सपत्ति का उत्तराधिकारी वही पुत्र अथवा निकट सबधी हो सकता था जो मृत्यु के उपरात दाह-सस्कार करता था जबकि यह कार्य एक हिंदू ही कर सकता था। किंतु धर्म-परिवर्तन के बाद वह उत्तराधिकार के अयोग्य हो जाता था। इस अधिनियम के बाद यह निर्योग्यता दूर कर दी गयी। भारतीय दड *प्रक्रिया सहिता 1861, 1882 और 1888 ने अपराधो के सबध मे लागू होने वाली हिंदू और* मुस्लिम विधियो को निरस्त कर दिया। भारतीय दड सहिता 1860 ने धर्म के नाम पर किये जाने वाले अमानवीय व्यवहारो को दडनीय बना दिया। इनमे से सती प्रथा एक थी। सहिता ने सती प्रथा को एक प्रकार की आत्महत्या घोषित किया तथा इसके लिए *एक वर्ष का कारावास तथा जुर्माने के दड की व्यवस्था की। सती होने मे सहायता करने* वाले अथवा उकसाने वालो को आत्महत्या के अपराध-सहकारी के रूप मे दड की व्यवस्था की। चोरी के लिए हाथ काटने, नैतिक अपराधो के लिए पत्थर से मारने और दासता सबधी मुस्लिम विधि को अवैधानिक घोषित कर दिया गया। ठगी को आजीवन *कारावास और जुर्माने के द्वारा दडनीय बना दिया गया। भारतीय सविदा अधिनियम मे* आने वाले मामलो मे हिंदू और मुस्लिम विधि के अधिकार को वचित कर दिया। सन्

1882 में संपत्ति अंतरण अधिनियम ने संपत्ति के अंतरण के मामले में केवल कुछ मामलों को छोड़कर हिंदू विधि का स्थान ले लिया।

स्त्रीय विधि के विषय में विधि-निर्माण

स्त्रीय विधि में भी संबंधित अनेक अधिनियम बनाये गये। स्त्रियों के प्रति प्राचीन भारतीय ग्रंथकारों का दृष्टिकोण अजीब रहा है। वह एक तरफ देवी, सेविका तथा पवित्र आत्मा मानी गयी तो दूसरी तरफ दुराचारिणी समझी जाती थी। उसे समाज में सम्मान दिया जाता था।[6] किंतु मनु के अनुसार स्त्रियों को आजीवन पराधीन रहना था—बचपन में पिता, विवाह के बाद पति और वैधव्य प्राप्त हो जाने पर पुत्रों के—हर स्थिति में स्त्री के लिए पति पूज्य था, वह चाहे जैसा भी हो, यहां तक विधवा हो जाने पर भी अपने स्वर्गीय पति के प्रति निष्ठावान बने रहना था। पति का अपनी पत्नी की गतिविधि पर लगभग असीमित अधिकार थे।[7] जबकि पुरुष पत्नी के मृत हो जाने पर अपना दूसरा विवाह रचा सकता था। विधवाओं के पुनर्विवाह की अनुमति नहीं थी। उत्तराधिकार पुत्र को मिलता था, पुत्र न होने की स्थिति में भानजे का अधिकार दाह संस्कार तथा उत्तराधिकार का होता था। स्त्री उत्तराधिकारिणी नहीं हो सकती थी। केवल कुछ विचारधाराओं ने पुत्रों की अनुपस्थिति में विधवा को उत्तराधिकार प्राप्त करने की अनुमति दी है।

उच्च जाति की स्त्रियों की अपेक्षा निम्न जाति की स्त्रियों को ज्यादा स्वतंत्रता प्राप्त थी। इसका कारण था कि उच्च जाति की स्त्रियों को हालांकि विवाह के समय ससुराल वालों की तरफ से शुल्क मिलता था, लेकिन आर्थिक मामलों में उन्हें पुरुष के ऊपर निर्भर रहना पड़ता था जबकि निचली जाति की स्त्रियां जीविकोपार्जन में पुरुषों के साथ बराबर हिस्सेदारी निभाती थीं।[8] इसलिए जहां उच्च जाति की स्त्री विवाह-विच्छेद नहीं कर सकती थीं, वहीं अनेक निम्न जातियों में परंपरानुसार विवाह-विच्छेद प्रचलित था। आगे चलकर उच्च जाति की औरतों में पर्दा प्रथा बल पकड़ती गयी, परिणामतः अनपढ़, गंवार और अंधविश्वासी होना उनके लिए स्वाभाविक हो गया।

हिंदू समाज में व्याप्त कुप्रथाओं और कुरीतियों से न केवल अधिकांश प्रबुद्ध भारतीय मानस उद्वेलित था बल्कि अनेक अंग्रेज अधिकारियों की आत्मा झकझोर उठी थी। 19वीं शताब्दी के आरंभ में भारतीय समाज सुधारकों ने इसके लिए जनमत तैयार किया तथा सरकार ने सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध अनेक कानूनी उपाय किये। हालांकि कट्टरपंथी हिंदुओं ने खूब विरोध किया। अगस्त, 1802 में सरकार ने कानून बनाकर गंगा और समुद्र के संगम पर बच्चों को पानी में फेंके जाने की प्रथा को समाप्त किया। भारतीय समाज सुधारकों तथा दयालु मानवतावादी तथा दृढ़ साहसी प्रशासकों के प्रयासों से 1829 में सती प्रथा को 'गैर कानूनी और अपराध अदालतों द्वारा सजा योग्य' घोषित किया गया। विधवा औरतों को मौत के मुंह से तो बचा लिया गया था। किंतु

उनका भाग्य और भविष्य तब तक अधकारमय था जब तक कानून इन विधवाओ के विवाह और बाद मे उनके कानूनी दर्जे के लिए उनकी सहायता करने नहीं आता। इसलिए 1856 मे एक अधिनियम पारित करके विधवा विवाह को कानून सभव बना दिया गया और विवाहित विधवाओ के बच्चो को वैध बच्चों का दर्जा दे दिया गया। 1856 तक मरिया बलि प्रथा तथा कुछ प्रातो मे शिशु बच्चियो को मार डालने की प्रथा के विरुद्ध उपाय किये जा चुके थे। बहु-विवाह तथा बाल-विवाह को भी समाप्त करने के प्रयास चलते रहे किंतु ईस्ट इंडिया कपनी का शासन समाप्त होने के साथ ही भारतीय *जनता के सामाजिक मामलो मे दखल देने की सरकार की नीति मे भी परिवर्तन* आया।

विशेष विवाह, अधिनियम 1872 के द्वारा प्रत्येक भारतीय के लिए चाहे वह किसी *भी जाति या धर्म का हो, यह सभव बना दिया गया कि किसी भी जाति या धर्म के व्यक्ति* के साथ वैध विवाह कर ले, यदि विवाह के दोनो पक्षो ने अपने विवाह के कारनामो की इस घोषणा के साथ लेखबद्ध यानी रजिस्ट्री करवा ली हो कि वे किसी धर्म को नहीं मानते थे। इसमे धर्म त्यागने के सबध मे कई कठिनाइया उत्पन्न हो रही थी जिस कारण से समाज सुधारको ने विवाह-कानून को उदार बनाने के लिए प्रयास जारी रखा किंतु कट्टरपथी हिंदुओ का विरोध चलता रहा। 1923 मे जाकर विशेष विवाह सशोधन अधिनियम' पारित किया गया किंतु वह आरभिक समाज सुधारको की इच्छा के अनुरूप *नही था। यह केवल हिंदुओ पर ही लागू हुआ जिनमे जैन, सिख तथा ब्राह्मण सम्मिलित* थे। अनेक अन्य अधिनियम भी हिंदू विधि की अनिश्चितता को दूर करने के लिए पारित किये गये। जैसे हिंदू विल्स ऐक्ट, 1870, भारतीय वयस्कता अधिनियम 1875 (जिसके *द्वारा वयस्कता के लिए 18 वर्ष की उम्र निर्धारित कर दी गयी।)* हिंदू विरासत (निर्योग्यता निराकरण) अधिनियम 1928, हिंदू विद्याधन अधिनियम 1930 आदि।

बच्चो की शादियो पर अकुश लगाने के उद्देश्य से बाल-विवाह अवरोध अधिनियम 1929 पारित किया गया, जिसके लिए काफी समय से जनमत बन रहा था। इसमे व्यवस्था की गयी कि 'कोई भी विवाह जिसमे कोई बच्चा हो यानी 18 साल से कम उम्र का लडका या 15 साल से कम आयु की लडकी हो, नही हो सकता'। बाल-विवाह करवाने पर 3 *मास कारावास और जुर्माने के सज़ा की व्यवस्था की गयी।* इस कानून ने बाल विवाह प्रथा पर कुछ अकुश अवश्य लगाया किंतु समाप्त नही कर सका। स्त्रियो को कुछ निश्चित परिस्थितियों मे आर्थिक दर्जा प्रदान कराने के उद्देश्य से 1937 मे हिंदू *महिला सपत्ति अधिकार कानून 18 पारित किया गया। इस प्रकार अनेक* वैधानिक सुधारो से समाज की तमाम कुरीतियो को काफी हद तक कम किया जा सका—जैसे अभिमान या गरीबी, अधविश्वास या अज्ञानता से उपजी प्रथा बाल-वध पर रोक लगायी *गयी, नरबलि, आत्मदाह, बच्चो की बलि, शारीरिक यातनाए, शरीर के रक्तकण* भेट करने जैसी आदि कुरीतियो को समाप्त किया गया, बहु विवाह प्रथा पर रोक लगी, बाल-विवाह प्रथा कमजोर हुई।

इस्लाम में भी स्त्री से आज्ञाकारी होने की अपेक्षा की जाती है। पुरुष स्त्री की देख-रेख करने वाला माना जाता रहा है। यह बहु-विवाह को स्वीकार करता है। एक मुसलमान को चार पत्नियां रखने का विधान है बशर्ते कि वह उनके साथ न्याय कर सके। अगर पत्नियों के साथ न्याय करने में असमर्थ है अर्थात् सभी के साथ समान बर्ताव करने में (जो असंभव है) समर्थ नहीं है तो उसे एक ही पत्नी रखनी चाहिए। इस प्रकार कुरान एक से ज्यादा पत्नियां रखना असंभव बना देता है। इसके बावजूद कुछ लोग एक से ज्यादा पत्नियां रखते रहे हैं। मध्यकाल में उलेमाओं ने यह फैसला दिया था कि एक आदमी निकाह के द्वारा चार तथा 'मुताह' के द्वारा किसी भी संख्या में विवाह कर सकता है। किंतु दूसरी तरफ स्त्रियों को इसी प्रकार की स्वतंत्रता नहीं दी गयी है।

तलाक की भी शर्तें पुरुष और स्त्री के लिए एक समान नहीं हैं। पुरुष किन आधारों पर तलाक दे सकता है इसका कुरान में वर्णन नहीं किया गया है परिणामतः यह पूर्णतः पुरुष की स्वेच्छाचारिता और झक पर निर्भर करता है। हालांकि कुरान में पुरुष के पत्नी और बच्चों के प्रति आर्थिक उत्तरदायित्व की विस्तार से चर्चा की गयी है। पुरुष को सलाह दी गयी है कि पत्नी को जो देय है उसे अवश्य दें, जैसे— मेहर का पूरा भाग दिया जाना आवश्यक है चाहे जितनी भी अधिक क्यों न हो। लेकिन स्त्री द्वारा तलाक का वर्णन कुरान में नहीं किया गया है।

पुरुष तलाक से पहले और तलाक के तुरंत बाद पुनः विवाह कर सकता है (चार पत्नियों की सीमा निर्धारित है) किंतु स्त्री को कुछ प्रक्रियाओं का पालन करना पड़ता है। कुरान के अनुसार स्त्री तलाक के बाद इद्दत तक अर्थात् तीन महीने (तीन मासिक धर्म) तक स्वयं को अलग रखकर इंतजार करेगी तथा उसमें अपने गर्भ को, यदि है तो छिपाने की अपेक्षा नहीं की जाती। अर्थात् कानूनन यह निर्धारित करना आवश्यक है कि कहीं पहले से वह गर्भवती तो नहीं है। अगर तलाकशुदा पति-पत्नी पुनः विवाह करना चाहते हैं तो स्त्री को पहले किसी और पुरुष के साथ विवाह करके उससे तलाक लेना पड़ेगा। तत्पश्चात् ही वह पहले पुरुष से विवाह कर सकती है।

कुरान स्त्रियों को उत्तराधिकार में वैधानिक हिस्सा प्रदान करता है। किंतु लड़की को मिलने वाला हिस्सा लड़के से कम होता है। सामान्यतः सद्गुणों पर आधारित जीवन बिताने में कुरान पुरुष और स्त्री में कोई विभेद नहीं करता है किंतु धीरे-धीरे अनेक देशों में यह प्रथा विकसित हो गयी है कि स्त्रियां मस्जिद में नमाज पढ़ने नहीं जाती हैं तथा स्वतंत्रता केवल पुरुषों तक ही सीमित हो गयी है। हालांकि सूफियों के संबंध में यह बात लागू नहीं होती है।[9] मुस्लिम देशों में महिलाओं को घूंघट में रहना अनिवार्य समझा जाता था। भारत में तो मध्यकाल में इस बात पर अत्यधिक जोर डाला गया। पर्दा त्याग देने पर मुसलमान महिलाओं को भयंकर परिणाम भुगतने पड़ जाते थे। काबुल के गवर्नर अमीर खां ने अपनी बीवी को केवल इसलिए छोड़ दिया था कि हाथी के पागल हो जाने पर जान बचाने के लिए नीचे कूदते समय वह बेपर्दा हो गयी थी। मुसलमानों में भी बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित हो गयी थी। राट कबीले के कुछ मुसलमानों में भी बाल-वध की प्रथा प्रचलित थी। मुस्लिम विधि के संबंध में विधि-निर्माण की क्रिया

बिलकुल सीमित रही। ज्यादातर विधान कट्टरवादी सिद्धांतों को सुधारने के बजाय *पुराने नियमों को पुनर्स्थापित करने के लिए बनाये गये। मुसलमान वक्फ* विधिमान्यीकरण अधिनियम 1913 प्रीवी कौंसिल के एक निर्णय के प्रभावों को समाप्त करने के लिए पारित किया गया था, जिसे मुसलमानों ने अपनी धार्मिक विधि का अतिक्रमण माना था। मुस्लिम स्वीय विधि (शरीअत) अधिनियम, 1937 मुसलमानों की इस माग को पूरा करने के लिए पारित किया गया था कि किसी भी दशा मे परपरागत विधि, मुस्लिम स्वीय विधि का स्थान न ले। जबकि इस अधिनियम म पूर्व कुछ धर्म परिवर्तित मुसलमानो के सबध मे ब्रिटिश न्यायालयो द्वारा हिंदू उत्तराधिकार विधि लागू की जा रही थी। जिस धर्म को वे छोडकर इस्लाम स्वीकार किये थे। कट्टरपथी मुसलमान इन समुदायो के सबध मे मुस्लिम विधि के कडाई से पालन किये जाने के लिए जोर डाल रहे थे। मुसलमानो के सबध मे बीमा पालिसियो के निर्धारण से सबधित कठिनाइयो को दूर करने के लिए 1938 म बीमा अधिनियम पारित किया गया था। मुस्लिम विवाह विघटन अधिनियम 1939 मुस्लिम औरतो को विवाह विघटन के लिए न्यायालय मे जाने का अधिकार देता है। हालाकि हनाफ विचारधाराओं के मुसलमानो ने इसका काफी विरोध किया था किंतु अनेक मुसलमानो ने इसके पक्ष मे माग की थी। इस अधिनियम को पारित करने की प्रक्रिया बडी रोचक रही। हनाफी विचारधारा के *अनुसार तलाक का अधिकार केवल पुरुषों को है। दूसरी तरफ मालिकी विचारधारा काजी द्वारा विभिन्न* आधारो पर पत्नी को तलाक दिलाने की अनुमति देता है।

भारत मे हनाफी विधि का बडी कठोरता के साथ पालन किया जाता था। मुस्लिम विधि मे अगर कोई स्त्री विवाह के पश्चात् अपना धर्म परिवर्तन कर लेती है तो जब तक *वह इस्लाम मे नही लौट आती तब तक उसे कैद किये जाने की व्यवस्था है तथा यदि* औरत इस्लाम धर्म म वापस नहीं आती थी तो इसकी परिणति उसके मुस्लिम पति से *विवाह विच्छेद होती थी। चूकि ब्रिटिश शासन मे कैद रखना सभव नही था इसलिए* विवाह विच्छेद ही चारा बचता था। बीसवी सदी म कई मामले ऐसे हुए जिनमे औरतो ने *तलाक के लिए स्वधर्म त्यागने का तरीका अपनाया। अनेक भारतीय विद्वानो का ध्यान* इस धर्म-परिवर्तन द्वारा तलाक की समस्या पर गया। जमात-अल उलेमा ने इस समस्या को हल करने के लिए कदम उठाया। उसने देखा कि और कोई चारा नहीं है, इसके लिए मुस्लिम न्यायाधीशों द्वारा तलाक दिलाने के लिए कानून बनाया जाय। अत इस प्रकार के कानून के लिए सिफारिश करने का निर्णय *लिया। जमियत के नताओ ने* केंद्रीय विधायिका मे एक विधेयक पेश किया, किंतु सरकार इसके कुछ उपबधो म सहमत नहीं थी, जैसे केवल मुसलमान न्यायाधीश ही विवाह विच्छेद करा सकता था। सरकार ने यह धमकी दी कि अगर इन उपबधो को रखने के लिए जोर डाला गया तो वह विधेयक को पारित कराने की तरफ कदम नहीं बढायगी। इस प्रकार प्रवर समिति की सिफारिश पर कुछ परिवर्तनो के साथ मार्च, 1939 म मुस्लिम विवाह विघटन अधिनियम पारित किया गया।[17]

इस प्रकार जहा अभिव्यक्ति की स्वतत्रता पर रोक, आयकर न्यायपालिका और

पुलिस प्रशासन मे व्याप्त 'कुख्यात तथा निर्लज्ज भ्रष्टाचार' और ब्रिटिश हितो के लिए भारतीय ससाधनो का दोहन आलोचना का लक्ष्य रहा वही पर ब्रिटिश शासन द्वारा किये गये सामाजिक और विधिक सुधार अत्यधिक प्रशसनीय रहे। हिंदू और मुस्लिम विधि के सबध मे ब्रिटिश सरकार तटस्थता के प्रति अपनी वफादारी नही निभा सकी। इसकी तटस्थता को नीति मे परिवर्तन के लिए धार्मिक कुरीतियो को दूर करने की इच्छा, नारियो की स्थिति को सुधारने का सकल्प विधि के सबध मे समानता तथा निश्चितता प्राप्त करने की आवश्यकता और सबसे बढकर समाज सुधारक जो इन सुधारो के प्रति अत्यधिक उत्तरदायी थे। किंतु इसके बावजूद स्वीय विधि को धर्म के चगुल से नही छुडाया जा सका। उत्तराधिकार विवाह, विवाह-विच्छेद, दत्तक-ग्रहण आदि मामलो मे धर्मनिरपेक्ष आधारो पर विधि का निर्माण नही किया जा सका तथा भारतीयों के लिए एक समान सिविल सहिता का निर्माण एक स्वप्न बना रहा। फिर भी इतना तो निश्चित है कि भारतीय समाज पर प्रतिबध अधविश्वास, सामाजिक ओहदा (स्टेट्स) प्राधिकार धर्मांधता और अध-नियतिवाद का शिकजा अनेक धार्मिक, राजनीतिक विधिक तथा सामाजिक सुधारो से काफी कुछ ढीला हुआ तथा इनके स्थान पर स्वाधीनता विश्वास अनुबध तर्क सहनशीलता और मानवीय गौरव की स्थापना की कोशिशे मील का पत्थर साबित हुई। दूसरे विदेशी शासको— पुर्तगाली, फ्रासीसी और डच ने भी हिंदू और मुस्लिम स्वीय विधियो मे ज्यादा हस्तक्षेप नही किया, किंतु 1880 मे पुर्तगालियो ने हिंदू विधि को समाप्त कर अपनी विधि लागू कर दी।

एक समान सिविल सहिता और सविधान सभा

सर बी० एन० राव ने व्यक्ति के अधिकारो को दो प्रवर्गों मे विभाजित करने की सलाह दी थी—वे जो न्यायालय द्वारा प्रवर्तित किये जा सकते है और वे जो नही किये जा सकते है। दूसरे प्रकार के अधिकार राज्य के प्राधिकारियो के लिए नैतिक सूक्तियो के रूप मे होगे। मौलिक अधिकार उपसमिति ने जो अपनी रिपोर्ट सलाहकार समिति को दी, उसमे एक समान सिविल सहिता को राज्य के नीति निर्देशक तत्त्वो की श्रेणी मे रखने के लिए सिफारिश की। किंतु श्री एम० आर० मैसानी श्रीमती हसा मेहता और राजकुमारी अमृत कौर आदि सदस्यों ने अपनी असतुष्टि व्यक्त की। उनका तर्क था कि भारत के एक राष्ट्र के रूप मे, विकास मे सबसे अत्यधिक बाधक तत्त्व धर्म पर आधारित स्वीय विधि रहा है। अल्पसख्यक उपसमिति का विचार था कि सहिता को पूर्णत स्वैच्छिक आधार पर लागू किया जाना चाहिए।

सिविल कोड का कई मुसलमान सदस्यो ने इस आधार पर विरोध किया कि यह उनकी स्वीय विधि के मामले मे हस्तक्षेप करता है। उनका कहना था कि स्वीय विधि एक जीने का तरीका है, धर्म और उनकी सस्कृति का एक अभिन्न अग है। जिसमे दखल नही दिया जाना चाहिए। सहिताकरण रेजीमटेशन है जिससे असतोष उत्पन्न होगा तथा सुव्यवस्था प्रभावित होगी। कुछ सदस्यो का यह भी मानना था कि इससे अनुच्छेद 25 मे

दिये गये अधिकारों का हनन होगा। उनके अनुसार एक समान सिविल संहिता का अपनाया जाना अल्पसंख्यकों के प्रति अत्याचार होगा। इस तरह की आपत्तियां उठानेवाले प्रमुख सदस्य थे—श्री मुहम्मद इस्माइल साहब श्री हिजाबुद्दीन अहमद श्री महबूबअली बेग और श्री पोकर साहिब। श्री के० एम० मुशी ने सिविल संहिता के पक्ष मे बोलते हुए *कहा कि जो धार्मिक स्वतंत्रता के अनुच्छेद को लेकर भ्रम है वह निराधार है क्योंकि इस अनुच्छेद में संसद को कुछ मामलों में विधि बनाने का अधिकार पहले से ही दिया गया है।* वास्तव में उनका कहना था इस उपबंध का उद्देश्य है कि जब कभी संसद उचित समझे तो देश की स्वीय विधियों को एकीकृत करने का प्रयास कर सकती है। स्वीय विधि को संघटित करने में निश्चय ही देश का हित है। सिविल कोड न बनाने से नुकसान यह है कि कई अलग अलग हिंदू विधि होगी जैसे— मयूख मिताक्षरा दायभाग जो संघटित न होने पर देश की एकता के लिए खतरा हो सकते हैं। उत्तराधिकार विरासत आदि की स्वीय विधि धर्म के भाग नहीं हैं अगर होते तो स्त्रियों को समानता कभी नहीं दी जा सकती थी, जबकि हमने दी है। हमारी पहली समस्या देश की एकता है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि क्या हम अपनी स्वीय विधि को इस प्रकार संघटित और एक समान बनाते जा रहे हैं कि एक अवधि में पूरे देश के जीवन का ढंग एक समान और धर्मनिरपेक्ष हो जायेगा। हम स्वीय विधि से धर्म का संबंध विच्छेद चाहते हैं।

श्री ए० कृष्णास्वामी अय्यर का कहना था कि इसमें धर्म का खतरा उत्पन्न हो जायेगा, ऐसा नहीं है। सच तो यह है कि अनुच्छेद का उद्देश्य ही आपसी सौहार्द पैदा करना है। *उनका कहना था कि दंड विधि संविदा तथा हस्तांतरण के संबंध में जब ब्रिटिश शासन ने कानून बनाया तो ऐसी आपत्ति नहीं उठायी गयी। डॉ० अंबेडकर का कहना था* कि विधियों की एक समान संहिता तो पहले से ही विद्यमान है जो लगभग मानव संबंधों के प्रत्येक पहलू को शामिल किये हुए है। सिविल विधि जिस क्षेत्र तक नहीं पहुंच पायी है वह केवल विवाह और उत्तराधिकार है। उन्होंने कहा कि यह कहना गलत है कि संपूर्ण भारत में मुस्लिम विधि एक समान और अपरिवर्तनीय रही है। उन्होंने उदाहरण देते हुए कहा कि कई स्थानों पर मुसलमान हिंदू विधि का पालन कर रहे थे जिसे बाद में विधान बनाकर 'शरीअत' के अधीन किया गया और फिर यह उपबंध तो यह व्यवस्था नहीं करता है कि 'लागू किया जायेगा बल्कि यह दिया गया है कि प्रयास करेगा अंतत सिविल संहिता को पारित कर दिया गया। इस प्रकार अनुच्छेद 44 में यह व्यवस्था की गयी है कि 'राज्य भारत के समस्त राज्य क्षेत्र में नागरिकों के लिए एक समान सिविल संहिता प्राप्त कराने का प्रयास करेगा।

वास्तव में देखा जाये तो सिविल संहिता को संविधान के चतुर्थ भाग में रखने से इसका महत्त्व कम नहीं हो गया। ग्रेनविल आस्टिन के विचार में निर्देशों का लक्ष्य "सामाजिक क्रांति के उद्देश्यों की प्राप्ति है। इस क्रांति के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यक परिस्थितियां उत्पन्न करके क्रांति को आगे बढ़ाना है।" वे स्पष्ट करते हुए यह समेक्षण करते हैं, "राज्य को इन सकारात्मक बाध्यताओं की सर्जना करके, संविधान सभा ने भारत की भावी सरकारों को यह उत्तरदायित्व सौंपा है कि वे व्यक्ति स्वातन्त्र्य और

लोकहित के बीच अथवा कुछ थोड़े से लोगों की संपत्ति और उनके विशेषाधिकार बनाये रखने के और सामान्य हित के लिए सभी मनुष्यों को समान रूप से शक्ति देकर उन्हें स्वतंत्र करने के उद्देश्य से उन्हें कुछ फायदे देने के बीच मध्यम मार्ग खोजें ।"[11]

स्वतंत्रता के बाद भारत सरकार ने स्वीय विधियों में एक समानता लाने का प्रयास किया किंतु नेहरू की प्रतिबद्धता प्रजातांत्रिक प्रक्रिया से सामाजिक परिवर्तन लाने की थी । वे चाहते थे कि ज़ोर-ज़बरदस्ती करने के बजाय विभिन्न धर्मों के पालन करने वाले समुदायों के मध्य एक सर्वसम्मति बने तत्पश्चात् ही एक समान सिविल संहिता की दिशा में कदम बढ़ाया जाये । साथ ही देश के विभाजन के समय जो हिंदुओं और मुसलमानों ने खून की होली खेली थी उसके दाग़ स्पष्ट दिखाई पड़ रहे थे, साप्रदायिकता का जो जहर बीसवीं शताब्दी के अर्ध भाग में लोगों के दिलो-दिमाग़ में घोला गया था, उसके अवशेष मिटे नहीं थे । देश के टुकड़े होने के लिए हिंदू जन-समुदाय मुसलमानों को ज़िम्मेदार मान रहे थे । दूसरी तरफ भारतीय मुसलमान अभिजन का एक वर्ग, हालांकि पाकिस्तान के निर्माण में उनका कोई योगदान नहीं भी था, फिर भी चूंकि इस्लाम (उनके धर्म) के नाम पर पाकिस्तान बना था, इसलिए कहीं न कहीं, जाने-अनजाने उनके मन में यह भाव था कि पाकिस्तान बनने के लिए वे भी दोषी हैं । नेहरू और उनकी सरकार का लक्ष्य उन्हें देश की मुख्य धारा से जोड़ना था । उनके अंदर देश के प्रति अपनेपन का भाव पैदा करना था देश के प्रति लगाव को मजबूत करना था तथा विभाजन के समय के दंगों के कारण खोया हुआ आत्मविश्वास पुन वापस लाना था इसलिए एक समान सिविल संहिता के लिए ज़ोर नहीं डाला गया । दूसरी तरफ जैसी कि प्रजातंत्र की कमज़ोरी है कि विवेक पर आधारित धर्मनिरपेक्ष आवाज़ धर्मांध कट्टरवादियों, अंधविश्वासियों और रूढ़िवादियों के शोर-शराबे के बीच गुम हो जाती है, भारत में भी वही हुआ । हर प्रगतिवादी कदम का रूढ़िवादियों ने डटकर विरोध किया और हिंदू मुसलमान और ईसाई अपनी स्वीय विधि से चिपके रहे ।

स्वीय विधि के संबंध में वैसे देखा जाये तो नेहरू की नीति ब्रिटिश शासन जैसी नहीं तो उससे ज़्यादा अलग भी नहीं थी । अंग्रेज़ों की नीति अहस्तक्षेप की रही थी, वे धर्म के मामले में तभी दखल देते थे जब कोई आर्थिक नुकसान न हो या उनकी सत्ता को कोई खतरा न हो या मजबूरी न आ जाये । ब्रिटिश शासन के दौरान स्वीय विधियों की सांप्रदायिक प्रकृति को बनाये रखा गया था । कानून के समक्ष समानता से लोग वंचित रहे । भारत में ब्रिटिश शासन समाप्त हुआ । देश आज़ाद हुआ । सबसे बड़ी कुर्सी राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री ने हथिया ली बाकी पर शेष आसीन हो गये । सुख-सुविधाएं वही थीं सरकारी ढांचा वही था और नीतियां भी लगभग वही थीं । बस बदले थे तो केवल कुर्सियों पर बैठने वाले लोग । अब अंग्रेज़ नहीं थे, अंग्रेज़ों की नीति का अनुसरण करने वाले लोग थे—भारतीय और अल्पसंख्यकों की स्वीय विधियों के साथ अहस्तक्षेप की नीति का अंग्रेज़ों जैसा नहीं तो उसमें ज़्यादा कड़ाई के साथ पालन अवश्य किया गया । स्वीय विधियों को सांप्रदायिक प्रकृति बनाये रखा गया ।

एक समान सिविल संहिता की दिशा में और स्वीय विधि के धर्मनिरपेक्षीकरण की

दिशा में वैसे एक प्रत्यक्ष कदम अवश्य उठाया गया। 1872 का विशेष विवाह अधिनियम यह व्यवस्था करता था कि ऐसे स्त्री-पुरुष जिनमें से कोई भी हिंदू, बौद्ध, सिख, जैन, मुस्लिम, यहूदी, पारसी अथवा ईसाई धर्म को नहीं मानते हो, रजिस्ट्रार के यहां सिविल विवाह कर सकते थे। विवाह किसी भी तरीके से मनाया जा सकता था, किंतु विवाह से पूर्व दोनों पक्षकारों को इस बात का प्रख्यापन करना पड़ता था कि वे किसी भी धर्म के अनुयायी नहीं है। चूंकि स्वीय विधि के अनुसार अंतर्जातीय विवाह एक धर्म से दूसरे धर्म को माननेवाले के साथ विवाह (उदाहरणार्थ हिंदू का मुसलमान के साथ) नहीं किया जा सकता था, इस अधिनियम का उद्देश्य था स्वीय विधि की अवहेलना करके विवाह करना। किंतु इसका सबसे बड़ा दोष था कि धर्म को त्यागना पड़ता था। विशेष विवाह अधिनियम, 1923 के द्वारा दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया गया। इसके अनुसार यद्यपि विवाह के पूर्व इस बात का प्रख्यापन नहीं करना पड़ता था कि वे किसी धर्म को नहीं मानते, किंतु इसमें की अन्य बातें बहुत उत्साहजनक नहीं थी। उदाहरणस्वरूप इस अधिनियम के अधीन विवाह किया हुआ व्यक्ति पुत्र गोद नहीं ले सकता था। वह अपने कुटुंब से अलग हुआ माना जाता था, उसकी संपत्ति का उत्तराधिकार भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम से शासित होता था। यदि वह अपने पिता का एकमात्र पुत्र होता था तो पिता को पुत्रहीन माना जाता था और वह हिंदू स्वीय विधि के अनुसार पुत्र गोद ले सकता था। विशेष विवाह अधिनियम, 1954 का उद्देश्य भी वही है जो उक्त दो *अधिनियमों का था। इसके अधीन आने के लिए किसी धर्म को न मानने का प्रख्यापन* करने की आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त स्वीय विधि के अनुसार पहले से संपन्न *वैध विवाह के पक्षों के लिए संभव बना दिया गया है कि इस अधिनियम के अधीन वे अपने* विवाह के रजिस्ट्रेशन के लिए आवेदित कर सकते हैं जिससे कि इसकी धाराएं उन पर *लागू हो सकें। इस प्रकार के विवाह विच्छेद के उदार आधारों, हिंदू संयुक्त परिवार से* स्वतः संबंध विच्छेद तथा भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम का लाभ उठा सकेंगे। इस *प्रकार वे विवाह और उत्तराधिकार जैसे महत्त्वपूर्ण मामलों में धर्म का बिना त्याग किये* स्वीय विधियों का त्याग कर सकते हैं।

डॉ० ई० स्मिथ का कहना है कि विशेष विवाह अधिनियम, 1954 एक प्रकार से भ्रूण के रूप में एक समान सिविल संहिता है। नेहरू का मानना था कि सामाजिक अनुपालनों में एक समानता लाने की दिशा में यह पहला कदम था। यद्यपि 1954 का अधिनियम एक समान सिविल संहिता की दिशा में प्रत्यक्ष कदम था, किंतु यह वास्तव में स्वैच्छिक और अनुज्ञात्मक विधान था जो लोगों की इच्छा पर था कि स्वीकार करें या न करें और सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि इन उपबंधों के अधीन भारत जैसे विशाल देश में कितने लोग आते हैं? निश्चय ही यह प्रतिशत बहुत कम है।[12]

इस अधिनियम की कट्टरपंथी हिंदुओं और मुसलमानों ने कटु आलोचना की तथा इसे दोनों ने अपनी स्वीय विधि पर आक्रमण माना। मुस्लिम लीग के अध्यक्ष मुहम्मद इस्माइल ने अप्रैल 29, 1955 को 'शरीअत विधि परिरक्षण दिवस' के रूप में मनाने के लिए अपील की थी तथा लोगों से इस अनुरोध के साथ राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री को तार

भेजने के लिए कहा कि विशेष विवाह अधिनियम के लागू होने से मुसलमानों को छूट देने के लिए कदम उठाये जाये। उन्होंने कहा कि 'नेहरू का कहना है कि यह अधिनियम, मुस्लिम शरीअत और अन्य स्वीय विधियों को एक समान सिविल संहिता द्वारा प्रतिस्थापित करने की प्रक्रिया का श्री गणेश है। निश्चय ही यह गंभीर बात है। मुसलमान धर्म को जीवन में सबसे मूल्यवान वस्तु मानते हैं और उनका संपूर्ण जीवन धर्म से अनुशासित होता है। शरीअत अथवा स्वीय विधि उनके धर्म का अनिवार्य भाग है तथा किसी भी दशा में शरीअत के निरसन की संभावना को वे सोच ही नहीं सकते।[13] इस प्रकार कट्टरपंथियों ने विधियों के धर्मनिरपेक्षीकरण की आलोचना और विरोध करने का कोई मौका हाथ से नहीं जाने दिया।

हिंदू विधि का संहिताकरण

हिंदू और मुसलमान प्रतिक्रियावादियों द्वारा प्रत्यक्ष संहिताकरण के विरोध को देखते हुए भारत सरकार द्वारा एक समान संहिताकरण के लिए अप्रत्यक्ष उपगमन (एप्रोच) पर बल दिया गया। अलग-अलग स्वीय विधियों की विसंगतियों को दूर कर उन पर धर्म के प्रभाव को कम करने का प्रयास किया। यह समझा गया कि सभी स्वीय विधियों में धीरे-धीरे सुधार करके उन्हें धर्मनिरपेक्ष बनाया जा सकता है तथा हिंदू मुस्लिम, ईसाई आदि विधियों को एक-दूसरे के समीप लाया जा सकता है। इस प्रकार भारत के सभी धर्मों जातियों और संप्रदायों के लिए एक-सी विधियों का निर्माण किया जा सकता है तथा देश को एकता के सूत्रों में भली प्रकार बांधा जा सकता है। दूसरे सरकार का यह मानना था कि अगर पहल अल्पसंख्यकों की विधियों से किया जाता है तो वे सोच सकते हैं कि बहुसंख्यक उन पर ज्यादतियां कर रहे हैं। इस संबंध में सबसे ज्यादा उत्तरदायित्व बहुसंख्यकों पर है। उन्हें अपनी विधि को सिविल संहिता का रूप देकर एक आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए जिसके लाभों को देखकर तथा उनमें शिक्षा के प्रसार को परिणामस्वरूप अल्पसंख्यकों में आत्मविश्वास जोर पकड़ेगा और वे एक समान सिविल संहिता के लिए मतैक्य तैयार कर सकेंगे। तीसरे, प्राचीन शास्त्र-पाठों को भिन्न भिन्न अर्थ देने के कारण हिंदू विधि की कई शाखाएं अस्तित्व में आयी हैं। भाष्यकारों ने प्राचीन शास्त्र-पाठों को अपने ढंग से अर्थ दिया और उनकी प्रामाणिकता भारत के एक भाग में स्वीकार किये जाने और दूसरे भाग में अस्वीकार किये जाने के कारण परस्पर विरोधी सिद्धांतों वाली शाखाएं उत्पन्न हो गयी—हिंदू विधि की मिताक्षरा और दायभाग— दो मुख्य शाखाएं हैं। मिताक्षरा की उपशाखाएं, मिथिला, पंजाब, महाराष्ट्र तथा मद्रास हैं। दायभाग का प्रचलन मुख्यतः बंगाल और असम हैं। मिताक्षरा शाखा में पुत्र का पिता की पैतृक संपत्ति में जन्मना अधिकार होता है। पुत्र पिता के साथ संपत्ति का सहस्वामी होता है। जबकि दायभाग शाखा में पुत्र का पिता की संपत्ति में अधिकार पिता की मृत्यु के बाद उत्पन्न होता है। पिता का अपने जीवनकाल में संपत्ति पर परम अधिकार होता है। मिताक्षरा में अविभक्त कुटुंब के सदस्य, जब तक वे अविभक्त रहते हैं, अपने हित का अन्य संक्रामण

नही कर सकते है तथा दाय रक्त सबध पर आधारित होता है। किंतु दायभाग में कुटुब का कोई भी सदस्य आपस मे बटवारा हुए बिना भी अपने भाग का अन्य सक्रामण कर सकता है तथा दाय पर पारलौकिक भाग लाभ के सिद्धात पर आधारित है। केरल और मैसूर तथा बडौदा मे भी हिंदू विधि मे देश के अन्य भागो से कुछ मामलो मे भिन्नता थी। इस प्रकार हिंदू विधि मे विभिन्नताओ को समाप्त कर एकरूपता लाया जाना अति आवश्यक था। ब्रिटिश शासन के दौरान हिंदू विधि के सहिताकरण का प्रयास सफल नही हो सका। हालाकि समय पर कई अधिनियम पारित किये गये किंतु इनके अलग-अलग पारित होने के कारण अनेक कठिनाइया और समस्याए उत्पन्न हो रही थी।

सन् 1941 मे भारत सरकार द्वारा सर बी० एन० राव की अध्यक्षता मे एक हिंदू *विधि समिति नियुक्त की गयी। राव समिति ने हिंदू विधि के सहिताकरण को क्रमिक* चरणो मे करने की सिफारिश की तथा इसकी शुरुआत निर्वसीयती उत्तराधिकार और विवाह की विधि से किया जाये। समिति द्वारा तैयार किया गया प्रारूप 1943 मे केंद्रीय विधायिका मे पेश किया गया था किंतु कट्टरपथी हिंदुओं के विरोध के कारण रद्द हो जाने दिया गया। हिंदू कोड बिल का प्रारूप तैयार करने के लिए समिति को पुन नियुक्त किया गया। समिति ने पूरे देश का भ्रमण करके अनेक विशिष्ट व्यक्तियो सगठनो हिंदू विधि के विशेषज्ञो से मिलकर उनके विचारो का मनन करके तीन वर्ष के कठिन परिश्रम के बाद हिंदू कोड बिल के साथ अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। किंतु देश मे व्याप्त साप्रदायिक तनाव राजनीतिक सरगर्मी तथा अन्य समस्याओं के दबाव के कारण कुछ समय के लिए विधेयक *पर कुछ नही किया जा सका। 1948 मे पुन विधेयक पर विस्तार से चर्चा आरभ हुई किंतु* रूढिवादी हिंदू सदस्यो की अडगेबाजी और विलबकारी चाल के कारण विधेयक अंतिम *चरण तक नही पहुच पाया। हालाकि विधेयक के पक्ष मे डॉ० अबेडकर ने अच्छा नेतृत्व* प्रदान किया, फिर भी सितबर 1951 मे जनमत के दबाव को देखते हुए विधेयक को छोड देना पडा। स्वामी सत्यानद सरस्वती ससद के सदन के बाहर अनशन पर बैठे थे दस दिनो से चला आ रहा अनशन समाप्त हुआ। सबसे दुर्भाग्यपूर्ण यह रहा कि कोड बिल के पारित होने मे बिलब के विरोध मे डॉ० अबेडकर ने कैबिनेट से त्यागपत्र दे दिया। विधेयक को छोड देने का एक कारण सन् 1951-52 मे होने वाला आमचुनाव भी था।

1951 52 के आम चुनाव के अभियान के दौरान नेहरू ने हिंदू कोड बिल को एक मुद्दा बनाया। जगह जगह पर अपने भाषणो एव वक्तव्यो म नेहरू ने विधेयक क उपबधो की प्रगतिशील सामाजिक धारणा पर बल दिया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण मे उन्होने कहा इस प्रकार हिंदू कोड बिल जिसने काफी विवाद को पैदा किया सामाजिक क्षेत्र म प्रगति और प्रतिक्रिया के बीच सघर्ष का प्रतीक बन चुका है। मैं (नेहरू) विधेयक के किसी विशेष धारा का नही बल्कि विधेयक म निहित भावना का उल्लेख कर रहा हू। यह मुक्ति की भावना है जनता को विशेषकर हमारी नारी जाति की *जीर्णप्रथाओ और बेडियो मे जिन्होने उन्हे जकड रखा है स्वतत्र कराना है।* चुनावो म कांग्रेस दल भारी बहुमत से विजयी हुआ तथा उसक कुछ समय बाद नेहरू न कोड को *अलग-अलग विधेयको के रूप म पारित करवाया। हिंदू विवाह विधेयक न कट्टर हो*

महत्त्वपूर्ण और क्रांतिकारी परिवर्तनों के लिए प्रस्ताव किया। इसके द्वारा बहुविवाह को दडनीय बनाया गया था, विवाह विच्छेद का उपबध किया गया था, अतर्जातीय विवाह को मान्यता दी गयी थी। विवाहों के रजिस्ट्रीकरण की व्यवस्था की गयी थी। हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण विधेयक (1956) मे यह व्यवस्था थी कि दत्तक लेने और देने मे पिता का एकमात्र और अनिर्बंधित अधिकार समाप्त हो जायगा। अब उसे पत्नी की सहमति लेना आवश्यक होगा। नारी अपने स्वय के अधिकार मे दत्तक ले सकेगी। अनाथ बालको को भी दत्तक के योग्य कर दिया गया था। कन्या का भी दत्तक हो सकेगा। दत्तक के लिए बालक का समान वर्ण का होना आवश्यक नही था। दत्तक ग्रहण के सबध म अन्य उपबधो के अलावा इसमे भरण-पोषण से सबधित अनेक नियमो की व्यवस्था की गयी थी। हिंदू उत्तराधिकार विधेयक (1956) म समस्त देश के हिंदुओ के लिए दाय को एकरूप विधि की व्यवस्था की गयी। वर्ण के आधार पर विधि के उपबधो की विविधता को समाप्त किया गया था। हिंदू नारी दाय या अन्य रूप म प्राप्त सपत्ति की पूर्ण स्वामिनी बना दी गयी। पुरुष और नारी-दायो के बीच भेद को समाप्त कर दिया गया तथा इसी प्रकार के अनेक सुधारो की व्यवस्था की गयी।

विधेयको पर ससद के अदर और बाहर काफी बहसे हुईं। विधेयक धर्मनिरपेक्ष है या नहीं यह बहस का मुख्य मुद्दा नही था। बल्कि बहस इस बात को लेकर चली थी कि इनका हिंदू धर्म पर प्रभाव क्या पडेगा। बहस का केंद्रबिंदु सामाजिक ढाचे पर इन विधेयको का प्रभाव हो गया। सरकार का यह तर्क था कि भारतीय समाज पिछडेपन का शिकार है। अनेक धार्मिक कुरीतिया रूढिया और अधविश्वास समाज के ढाचे को कमजोर करते चले जा रहे हैं इन विधेयको के द्वारा समाज को आधुनिकीकरण के मार्ग पर अग्रसर किया जा सकेगा। दूसरी तरफ प्रतिक्रियावादियो का मानना था कि भारतीय समाज सुरक्षा पर आधारित है तथा इसके आधार—हिंदू विवाह पद्धति विवाह विच्छेद उत्तराधिकार आदि के सबध मे हिंदू विधि हैं। विधेयक द्वारा विवाह पद्धति, विवाह विच्छेद, विरासत वसीयत उत्तराधिकार आदि मे परिवर्तनो से पारपरिक हिंदू सामाजिक ढाचा तहस-नहस हो जायेगा। हिंदू ने सपादकीय म विचार व्यक्त किया था कि हिंदू कोड समिति को जो कार्य सौपा गया था, वह था हिंदू स्वीय विधि को सहिताबद्ध करना और आसान बनाना न कि सामाजिक सुधार म प्रोत्साहित होकर तदनुरूप सशोधित करना।[14]

हिंदू विवाह विधेयक पर चर्चा करते हुए ससद मे विधिमत्री ने प्राचीन सस्कृत ग्रथो में उद्धरण देते हुए विधेयक मे विवाह-विच्छेद के उपबधो का समर्थन किया। तत्पश्चात् प्रतिपक्ष के कई सदस्यो ने वेदो तथा अन्य ग्रथो का सहारा लेकर खडन किया। आचार्य कृपलानी ने कहा कि विधायन की वैधता को धार्मिक ग्रथो म खोजना धर्मनिरपेक्ष राज्य के सिद्धातो के अनुरूप नही है। हम अपने राज्य को धर्मनिरपेक्ष कहते हैं। एक धर्मनिरपेक्ष राज्य न तो धार्मिक ग्रथो के अनुरूप चलता है और न ही परपराओ के। इसे अवश्य ही सामाजिक और राजनीतिक आधारो पर कार्य सपादन करना चाहिए।' हिंदू महासभा के सदस्यो ने तर्क दिया कि विवाह एक सस्कार है इसलिए पवित्र है और हिंदू

धर्म का अभिन्न भाग है अत इसमे किसी तरह का रद्दोबदल नही किया जाना चाहिए। नेहरू ने विवाह को संस्कार के रूप में स्वीकार करते हुए कहा कि एक-दूसरे को मारने-पीटने और घृणा करने के लिए लोगो को एक साथ बाधना संस्कार कभी नही हो सकता। अत मे विधेयक पारित हो गया।

हिंदू दत्तक और भरण-पोषण विधेयक के संबध मे पुन दोनो पक्षों द्वारा धार्मिक ग्रथो का सहारा लिया गया। इसके विरोध मे यह कहा गया कि दत्तक ग्रहण धार्मिक धारणा पर आधारित है। पुत्र को अतिम संस्कार का हक होता है वही पिंडदान आदि करता है। पुत्र के लिए हिंदू धर्मानुसार दूसरा विवाह कर सकता है। इसके विकल्प के रूप मे दत्तक ग्रहण की व्यवस्था की गयी कि शास्त्रो मे लडकियो को भी दत्तक के रूप में ग्रहण करने का विधान है। हिंदू उत्तराधिकार विधेयक के सबध म तर्क दिया गया कि पिता की सपत्ति म पुत्री को अधिकार केवल मुस्लिम विधि देती है। हिंदू-विधि मे पिता की सपत्ति मे पुत्री का उत्तराधिकार नहीं माना जाता है। यह धारणा है कि वह पहले से ही (विवाहित होने पर) दूसरे परिवार की सदस्य होती है या होने वाली होती है। इस प्रकार कुछ सदस्यो का कहना था कि इस विधेयक मे 'मुस्लिम विधि' से भी ज्यादा 'मुस्लिम सिद्धात' को पूर्णरूपेण अपनाया गया है। हिदुओ पर 'शरीअत' के कुछ नियमो को लादने का प्रयास किया जा रहा है। *इन विरोधो के बावजूद विधेयक पारित हो गये।*

इन अधिनियमो मे व्यवस्थित कतिपय नियमो को न्यायोचित ठहराने के लिए जान-बूझकर धर्मग्रथो और धार्मिक सिद्धातो का सहारा लिया गया। जबकि उन्हे धर्मनिरपेक्ष आधारो पर विधिवत् समर्थित किया जा सकता था। सविधान की उद्देशिका मे व्यवस्थित उद्देश्यों— जिनको मौलिक अधिकारो और राज्य के नीति निर्देशक तत्त्वो म मूर्त रूप प्रदान किया गया है— का ही तर्क स्वीकार किया जाना चाहिए था। निश्चय ही इनसे सामाजिक आर्थिक क्राति की अभिव्यक्ति मिलती है। सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार अभिव्यक्ति और विश्वास की स्वतत्रता प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त करना तथा व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखडता सुनिश्चित करने वाली बधुता बढाना ही हमारा उद्देश्य है ये सविधान म निहित हैं और सविधान ही मौलिक विधि है, शेष विधिया इसके अधीन हैं। हा यह तर्क दिया जा सकता था कि समानता का सिद्धात केवल हिंदू विधि के संहिताकरण की अपेक्षा नही करता। अल्पसख्यको की विधिया को अछूत समझने क बजाय उन्हे भी संहिताबद्ध करके सभी को एक समान बनाया जाना चाहिए था क्योकि राज्य की विधियो का धर्म पर आधारित होना धर्मनिरपेक्ष सिद्धातो के अनुरूप नही कहा जा सकता। अनेक सदस्यो और आलोचको द्वारा इस तरह के तर्क प्रस्तुत किये भी गय। यहा तक कि हिंदू महासभा, जनसघ, रामराज्य परिषद तथा कई एक साप्रदायिक हिंदू दल जो धर्मनिरपेक्षता को भारत के लिए अभिशाप मानते थे, व भी तर्क प्रस्तुत कर रह थ कि हिंदू कोड बिल धर्मनिरपेक्ष राज्य के सिद्धात के विरुद्ध है। उनकी माग थी कि एक समान सिविल सहिता अपनायी जानी चाहिए।

हिंदू कोड बिल के घोर आलोचक श्री एन० सी० चटर्जी का कहना था कि कांग्रेस

सरकार कहती है कि सम्प्रदायवाद से वह घृणा करती है तथा अपने धर्मनिरपेक्षवाद पर गर्व करती है किंतु हिंदू विधि में संशोधन जो यह कर रही है वह पूर्णत साम्प्रदायिक है। दूसरे केवल हिंदू विधि में ही परिवर्तन मौलिक अधिकारों और राज्य के नीति निर्देशक तत्त्वों के विरुद्ध हैं। कई अन्य सदस्यों ने इसे हिंदुत्व पर सीधा प्रहार माना। ऐसा हमला जिसकी हिम्मत यहा तक कि औरंगजेब और ब्रिटिश शासक नहीं कर सके। उनका मानना था कि पश्चिम के प्रभाव में आकर सरकार के लोग हिंदू धर्म पर अत्याचार कर रहे हैं। एक से अधिक विवाह पर प्रतिबंध लगाने से धर्म परिवर्तन को बढावा मिलेगा क्योंकि दूसरा विवाह करने के लिए लोग हिंदू धर्म को छोडकर इस्लाम स्वीकार कर सकते हैं। इस प्रकार धर्म परिवर्तन की बुराई को बढावा मिलने से हिंदू समाज विघटित होगा।

आचार्य कृपलानी, जिन्हें किसी भी दशा में सम्प्रदायवादी नहीं कहा जा सकता था उन्होंने भी इसी तरह का तर्क दिया। बहस के दौरान उन्होंने कहा

> "अगर हम प्रजातांत्रिक राज्य हैं मेरा मानना है कि हमें एक समुदाय के लिए ही कानून नहीं बनाने चाहिए। आज हिंदू समुदाय विवाह विच्छेद के लिए उतना ही तैयार नहीं है, जितना कि मुसलमान समुदाय एक विवाह के लिए। क्या हमारी सरकार मुस्लिम समुदाय के लिए एक विवाह के संबंध में विधेयक पेश करेगी? क्या मेरे प्रिय विधिमंत्री एक विवाह से संबंधित विधि भारत के सभी समुदायों के लिए लागू करेंगे? मैं कहता हू यही तो प्रजातांत्रिक तरीका है तथा दूसरा साम्प्रदायिक तरीका है। केवल महासभा वाले ही साम्प्रदायिक नहीं हैं सरकार चाहे जो भी कहे, वह भी साम्प्रदायिक है।"[15]

जहां पर अन्य आलोचकों ने विधेयकों को हिंदू धर्म के लिए हानिकारक तथा धार्मिक स्वतंत्रता के हनन के रूप में देखा वहीं पर आचार्य कृपलानी ने इसे अन्य धर्मों के साथ विभेद बताया क्योंकि धर्मनिरपेक्ष राज्य इस विधेयक के द्वारा केवल बहुसंख्यक समुदाय और उसके धर्म को विशेष लाभ पहुचा रहा है। उनका कहना था कि अगर सांसद अपने सुधार के जोश के लिए केवल हिंदू समुदाय को चुनते हैं तो वे इस अर्थ में सम्प्रदायवादी होने के आरोप से नहीं बच सकते हैं कि वे हिंदू समुदाय का हित चाहते हैं तथा विवाह विच्छेद के मामले में मुस्लिम समुदाय अथवा कैथोलिक समुदाय की भलाई के प्रति उदासीन हैं। क्या हम किसी एक समुदाय की प्रगति महज इसलिए चाहते हैं कि वह समुदाय बहुसंख्यक है? हिंदू सम्प्रदायवादी और समुदायों की अपेक्षा अपने समुदाय को ज्यादा लाभदायक स्थिति में देखना चाहते हैं। विवाह विच्छेद चाहे हिंदू समुदाय को लाभ पहुचाये या हानि पहुचाये, दोनों ही प्रकार से यह साम्प्रदायिक है। अगर एक विवाह और विवाह विच्छेद, विवाह विधेयक की अच्छी और आवश्यक बातें हैं तो हिंदुओं का ही भला क्यों किया जाये? तथा मुसलमानों से एक विवाह और कैथोलिकों से विवाह विच्छेद को दूर रखा जाये? दूसरी तरफ अगर ये सुधार भले और अभीष्ट नहीं है तो इनका दंड हिंदुओं को ही क्यों सहना पड़े?[16] वास्तव में अगर देखा जाये तो इस प्रकार

अलग-अलग अस्तित्व बनाये रखना एक राष्ट्र-राज्य के सिद्धान्तों— जिसकी भावना धर्मनिरपेक्ष मूल्यों का विकास हो— का घोर उल्लंघन है।

हिंदू विधि में लाये जा रहे परिवर्तनों को न्यायालयों में चुनौती देते हुए काफी कुछ इसी तरह के तर्क प्रस्तुत किये गये थे। किंतु न्यायिक निर्णयों में विधायिकाओं के कदमों को वैध ठहराया गया। **बाबे राज्य बनाम नरासु अप्पा (1952)** के मामले[17] में बाम्बे हिंदू द्विविवाह निवारक अधिनियम 1946 को इस आधार पर चुनौती दी गयी थी कि यह अनुच्छेद 25 में दी गयी धार्मिक स्वतंत्रता का अतिक्रमण करता है तथा केवल धार्मिक आधार पर वर्गीकरण करता है जो कि अनुच्छेद 14 और 15 द्वारा वर्जित है। यह तर्क दिया गया कि हिंदू द्वारा धार्मिक क्षमता के लिए पुत्र प्राप्त करने की आवश्यकता पर ही बहुविवाह प्रथा आधारित थी क्योंकि कुछ विशेष धार्मिक संस्कार पुत्र के बिना संभव नहीं हैं — 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गो नैव नैव च। न्यायाधिपति एम० सी० छागला और गजेन्द्रगडकर ने उक्त तर्कों को अस्वीकार कर दिया। न्यायाधिपति गजेन्द्रगडकर ने कहा कि हिंदू विवाह के संबंध में विधायिका द्वारा बनाये विधान में हिंदू धर्म अथवा धार्मिक आचरण का हनन नहीं हुआ है क्योंकि पुत्रहीन व्यक्ति केवल विवाह द्वारा ही नहीं बल्कि दत्तक ग्रहण द्वारा भी प्राप्त कर सकता है। न्यायाधिपति छागला ने तर्क दिया कि राज्य धार्मिक विश्वास को संरक्षण प्रदान करता है न कि हर तरह के धार्मिक आचरण को। द्वितीयतः बहुविवाह हिंदू धर्म का अभिन्न अंग नहीं था और अंततः अगर बाम्बे राज्य हिंदुओं को एक विवाह के लिए मजबूर करता है अगर इस क्रम सामाजिक सुधार की कार्यवाही माने तो भी अनुच्छेद 25 (2) (बी) राज्य को समाज सुधार करने के लिए विधान बनाने के लिए अधिकृत करता है। न्यायालय ने विभेद के आरोपों को भी अस्वीकार कर दिया। न्यायाधिपतियों ने मत व्यक्त किया कि वर्गीकरण युक्तियुक्त है यह समानता के उपबंधों का उल्लंघन नहीं है। न्यायाधिपति छागला ने कहा कि अनुच्छेद 14 यह नहीं निर्धारित करता कि राज्य जो भी विधान बनाये वह सभी लोगों पर लागू हो। राज्य सामाजिक सुधार विभिन्न चरणों में लाने के लिए कानून बना सकता है यह चरण प्रादेशिक हो सकता है अथवा समुदाय के अनुसार हो सकता है। इस प्रकार हिंदू और मुसलमान में विभेद अवैध नहीं है।

इसी तरह के आरोप मद्रास हिंदू (द्विविवाह और विवाह विच्छेद) अधिनियम 1949 के विरुद्ध लगाये गये थे किंतु मद्रास उच्च न्यायालय ने उक्त मामले में दिये गये तर्कों के समान ही तर्क देकर आरोपों को अस्वीकार कर दिया तथा अधिनियम को वैध घोषित किया।[18]

इन निर्णयों ने हिंदू विवाह अधिनियम 1955 हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम 1956 हिंदू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम 1956 तथा हिंदू दत्तक तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 द्वारा हिंदू विधि के विभिन्न प्रकरणों को संहिताबद्ध करके उनमें किये गये क्रांतिकारी परिवर्तनों को संवैधानिक आधार प्रदान किया था। इस प्रकार हिंदू विधि का आधार धर्म न होकर सामाजिक सप्रयोजनता हो गयी है। धार्मिक नियमों एवं रूढ़ियों को उपयोगितावादी कसौटी पर परखने के बाद ही उन्हें स्थान दिया गया है। यदि कोई उपबंध

इन अधिनियमों में दिया गया है तो इसलिए नहीं कि धार्मिक ग्रंथ ऐसा करने को कहते हैं, बल्कि इसलिए कि समता पर आधारित एकीकृत हिंदू समाज के विकास में वह सहायक होगा। अगर किसी अधिनियम के किसी उपबंध के कारण कठिनाई उत्पन्न हुई तो उसमें आवश्यकतानुसार संशोधन समय-समय पर किया गया।[19]

अल्पसंख्यक समुदाय और संहिताकरण

अनुदारवादी हिंदुओं के विरोध के बावजूद हिंदू विधि को संहिताबद्ध करके नारियों और बच्चों के कल्याण के लिए अनेक कदम उठाये गये। विरासत, उत्तराधिकार और संपत्ति पर अधिकार रखने के संबंध में स्त्रियों और पुरुषों को समान अधिकार दिए गए, एक विवाह और विवाह विच्छेद को निर्धारित किया गया तथा बच्चों के समान बच्चियों को भी दत्तक ग्रहण करके अपनी सूनी गोद को भग्न तथा बच्चे को बेहतर जिंदगी देने का विधान किया गया। किंतु यह व्यवस्था केवल बहुसंख्यक हिंदू समुदाय तक ही सीमित रही। अल्पसंख्यक समुदाय के संबंध में 1955 के विशेष विवाह अधिनियम के अप्रत्यक्ष कदम को छोड़कर कोई प्रत्यक्ष कदम नहीं उठाये गये। ऐसा नहीं था कि और विधियां अपने आपमें पूर्ण थीं, उनमें किसी परिवर्तन की आवश्यकता ही नहीं थी। ईसाई स्वीय विधि काफी पुरानी हो गयी है। विवाह नियम, जो उन पर लागू होते हैं, वे 1872 तथा विवाह विच्छेद उससे भी पहले 1869 के बने हुए हैं। जबकि तब से आज तक ईसाई देशों में इनमें अनेक परिवर्तन किये जा चुके हैं। विधि आयोग ने भी अपनी सिफारिश में परिवर्तन के लिए सुझाव दिया था। एक विधेयक भी संसद में पेश किया गया था किंतु स्थिति आज भी ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। भारत का सबसे बड़ा अल्पसंख्यक समुदाय मुसलमान है। इस समुदाय की स्वीय विधियां अत्यधिक पुरानी हैं। इसके प्रधान स्रोत कुरान, सुन्नत और अहादिस परंपराएं इजमा और कयास हैं। आज केवल कुरान और सुन्ना पर ही निर्भर किया जाता है। किंतु जिस समय ये विधियां निर्मित हुईं उस समय परिस्थितियां कुछ और थीं, आज कुछ और हैं। उन परिस्थितियों में स्त्रियां पुरुष की संपत्ति के रूप में थीं, पुरुष के संरक्षण में जीवन बिताती थीं, आज जैसी स्वतंत्रता तथा प्रजातांत्रिक व्यवस्था नहीं थी और न ही वे इस प्रकार राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेती थीं। विभिन्न जातियों में युद्ध चलते रहते थे, अनेक पुरुष मारे जाते थे, विधवाओं का जीवन दुरूह न हो जाये इसलिए एक से अधिक शादियों का विधान रहा होगा। आज की तरह से तलाक सामाजिक कलंक नहीं रहा होगा, तलाक के बाद पुनः विवाह में परेशानी नहीं थी। पारिवारिक विघटन आज जैसा नहीं था, तलाकशुदा लड़की की देखभाल और उसका पुनर्विवाह संरक्षकों के लिए ज्यादा कठिनाई उत्पन्न नहीं करता रहा होगा। आज जैसी जनसंख्या की समस्या नहीं थी कि दत्तक ग्रहण के लिए बच्चों को दिया जाता और आज जैसा विघटित परिवार नहीं था कि जीवन के सूनेपन को दूर करने के लिए किसी को गोद लिया जा सकता। आज परिस्थितियां बदल गयी हैं, हमारी समझ व्यापक हुई है, नये सामाजिक मूल्य विकसित हुए हैं। राजनीतिक व्यवस्था और उनकी मान्यताएं बदली हैं।

इनके अनुरूप स्वीय विधियों में बदलाव लाया जाना चाहिए था किन्तु दुर्भाग्यवश न तो कोई विशेष कदम सरकार के स्तर पर उठाया गया और न ही कोई पहल समुदाय की तरफ से की गयी। प० नेहरू का मानना था कि सामाजिक आर्थिक सुधार के वैधानिक उपाय इस संबंध में जनमत से बहुत आगे नहीं होने चाहिए। सुधारों के अनुरूप जनमत का होना बहुत आवश्यक है। प्रश्न यह उठता है कि क्या हिंदू जनमत इन सुधारों के लिए तैयार था? निश्चय ही हिंदू जनमत इन सुधारों के लिए तैयार था। जैसाकि हम दूसरे अध्याय में चर्चा कर चुके हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी में हिंदू समाज में पुनर्जागरण लाने के लिए अनेक समाज-सुधारकों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

बीसवीं सदी में आरंभ से ही सामाजिक ढांचे में परिवर्तन करने के लिए प्रयास किये जा रहे थे। 1905 में श्री गोपालकृष्ण गोखले ने 'सर्वेंट्स आफ इंडिया सोसायटी' के द्वारा स्त्रियों और पुरुषों के सांस्कृतिक दृष्टिकोण को बदलने का कार्य आरंभ कर दिया था। स्त्री शिक्षा के कार्य को आगे बढ़ाने के लिए 1910 में सरला देवी चौधुरानी ने 'भारत स्त्री समाज' का संगठन किया। महिलाओं की शिक्षा की दिशा में धोन्डो केशव कर्वे ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। उन्होंने 1916 में प्रथम महिला विश्वविद्यालय की स्थापना की। 1917 में मद्रास में विमेंस इंडियन एसोसिएशन की स्थापना की गयी। 1931 में गुजरात और महाराष्ट्र में स्त्री संस्थान खोले गये। स्त्रियों में नयी जागृति आयी। शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ जाति के ढांचे में भी परिवर्तन आया। लाला बैजनाथ तथा हरविलास शारदा आदि समाज सुधारकों ने अंतर्जातीय विवाह का समर्थन करके जाति के ढांचे पर सीधा प्रहार करना आरंभ किया। गांधी जी के ऐतिहासिक उपवास के बाद अक्टूबर, 1932 में 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना की गयी। इसकी अनेक शाखाएं खोली गयीं। जिनके द्वारा अछूतोद्धार तथा जन जागरण की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किये गये। यातायात की सुविधाएं देश का औद्योगीकरण भूमि के वैयक्तिक स्वामित्व के विकास नागरिक जीवन के विकास और नये व्यवसायों के अभ्युदय तथा ग्रामीण स्वायत्तता की समाप्ति आदि ने समाज में व्याप्त अनेक धार्मिक रूढ़ियों को निर्बल बना दिया या समाप्त कर दिया तथा हिंदू स्वीय विधि में अनेक परिवर्तनों के लिए आधार तैयार किया। इस प्रकार हिंदू समुदाय स्वीय विधियों के धर्मनिरपेक्ष चरित्र को स्वीकार करने के लिए बौद्धिक रूप से तैयार था किन्तु मुस्लिम समुदाय इसके लिए तैयार न था। बल्कि इसके विपरीत स्वीय विधि की धार्मिक किलेबंदी करने पर आमादा था। जबकि अन्य कई मुस्लिम देशों में स्वीय विधियों में आवश्यक परिवर्तन किये गये हैं किन्तु भारत में किसी भी सुधार के प्रस्ताव पर ही कुहराम मच जाता है। किसी भी तरह के परिवर्तन का वह चाहे दासता उन्मूलन, 1843 हो या विवाह योग्य उम्र बढ़ाने का शारदा विधेयक हो विरोध ब्रिटिश शासनकाल में किया गया किन्तु यह विरोध प्रजातांत्रिक भारत में कुछ ज्यादा ही हो गया है।

प० नेहरू एक समान सिविल संहिता के संदर्भ में कोई भी ऐसा कदम नहीं उठाना चाहते थे जो अल्पसंख्यकों विशेषकर मुस्लिम समुदाय में घबराहट उत्पन्न करे। वे उनमें आत्मविश्वास उत्पन्न करने के लिए धर्मनिरपेक्षता के कुछ मूल्यों की बलि देने के लिए

तैयार थे। ईसाइयों को सुसमाचार प्रचार करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता दी हुई थी। बशर्ते कि इससे देश की एकता और अखंडता को कोई खतरा न हो। मुसलमानों की स्थिति सुधारने के लिए उन्होंने विशेष ध्यान दिया। उन्होंने उनके विलगबंधन को समाप्त कर राष्ट्र की मुख्य धारा से जोड़ने का हर संभव प्रयास किया। नेहरू का मानना था कि एस सामाजिक आधार और वातावरण तैयार करने की आवश्यकता है जो मुस्लिम समुदाय को एक समान सिविल संहिता स्वीकार करने के लिए प्रेरित कर सके। किंतु इस प्रकार की सिविल संहिता की दिशा में कोई प्रगति नहीं हो सकी है। हालांकि एक समान सिविल संहिता अयथार्थ नाम है क्योंकि अनेक सिविल कानून पहले से ही सभी भारतीयों पर समान रूप से लागू होते हैं। इनमें सिविल प्रक्रिया संहिता भारतीय साक्ष्य अधिनियम रजिस्ट्रीकरण अधिनियम संपत्ति अंतरण अधिनियम वैकवारी नियम कर कानून भूराजस्व कानून अभिधृति अधिनियम दहेज प्रतिषेध अधिनियम और बंधित श्रम पद्धति (उत्सादन) अधिनियम 1955 भारतीय वयस्कता अधिनियम 1875, संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम 1890 भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925, बालक विवाह अवरोध अधिनियम, 1929 और गर्भ का चिकित्सीय समापन अधिनियम 1971 में सभी के लिए समानता है। इसके अतिरिक्त सरकारी कर्मचारियों और पब्लिक सेक्टर कंपनियों के कर्मचारियों की सेवा शर्तों के अधीन बहुविवाह वर्जित है तथा भविष्य निधि नियमों के अधीन पत्नी को ही एकमात्र उत्तराधिकारी माना गया है। इस प्रकार एक समान सिविल संहिता का अभिप्राय स्वीय विधियों में है अर्थात् जिन क्षेत्रों में समानता लायी जानी है वे हैं—विवाह विवाह विच्छेद उत्तराधिकार अप्राप्तवयता और संरक्षकता दत्तक तथा भरण-पोषण यही व क्षेत्र है जिनमें किसी तरह के परिवर्तन को अल्पसंख्यक अपने धर्म में हस्तक्षेप समझते हैं और उसका विरोध करते हैं।

नेहरू का मानना था कि समय के साथ शिक्षा और प्रचार के परिणामस्वरूप अल्पसंख्यक बिना किसी विरोध के एक समान सिविल संहिता स्वीकार कर लेंगे। उनका मानना था कि एक बार मुसलमान लोग अपना आत्मविश्वास प्राप्त कर लेंगे व अपनी अतीत की राजनीतिक आशंकाओं का नवीन मुअवसरों के संदर्भ में पुनरीक्षण करेंगे और भारत के धर्मनिरपेक्ष नागरिक के रूप में भारतीय राजनीतिक प्रक्रियाओं में हिस्सा लेने लगेंगे। किंतु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया रूढ़िवादियों तथा परंपरावादियों एवं विवेकवादियों परिवर्तन और प्रगतिवादियों के बीच रस्साकसी में रूढ़िवादियों और परंपरावादियों का पलड़ा भारी होता गया। अन्य इस्लामी देशों में भी रूढ़िवादिता जोर पकड़ती गयी। इसके लिए कई कारण उत्तरदायी बताये जाते हैं। पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव की प्रतिक्रिया अमीर और गरीब के बीच बढ़ता आर्थिक अंतर, जीवन स्तर में गिरावट, बढ़ती गरीबी, अशिक्षा और राजनीतिक पहचान खोने का भय आदि इन देशों में धार्मिक पुनर्जागरण के लिए उत्तरदायी हैं। आज मुस्लिम जगत में पश्चिम में मौरितानिया से लेकर पूर्व में इंडोनेशिया तक इस्लामी रूढ़िवाद' की लहर दिखाई दे रही है। इसका प्रभाव पूर्वी यूरोप, सोवियत यूनियन भारत, चीन, थाइलैंड, कम्पूचिया और फिलीपीन्स के कुछ भागों में भी दिखाई पड़ रहा है। आजादी के बाद भारत ने एक

प्रजातांत्रिक संविधान के अंतर्गत सामाजिक-आर्थिक क्रांति लाने के लिए कदम बढ़ाया। भारत के लोगो ने प्रजातंत्र का सफल प्रयोग किया। आम चुनावो में सभी लोगों ने हिस्सा लिया। अनेक आशाएं बंधी। (प्रजातांत्रिक प्रक्रिया में अनेक प्रकार के वादों से आशाएं बंधना स्वाभाविक ही है) किंतु वादों के अनुरूप समाधान न होने के कारण सरकार के वादों और कार्यों में अंतर बढ़ता गया। दूसरी तरफ जनता की अपेक्षाओं में ज्वार आता गया किंतु वास्तविकता के धरातल पर गरीबी भुखमरी बीमारी अशिक्षा असुरक्षा और आर्थिक असमानता बढ़ती गयी तथा मैकियावेली की राजनीति से अपनी राजनीतिक पहचान खोने का खतरा उत्पन्न हो गया। परिणामतः अपनी पहचान बनाये रखने के लिए तथा केक में हिस्सा पाने के लिए लोगों में धर्म जाति वर्ग क्षेत्र भाषा आदि के आधार पर संगठित होने की भावना विकसित होने लगी। अल्पसंख्यक भी अपनी राजनीतिक पहचान बनाने के लिए धर्म के नाम पर संगठित हुए। असुरक्षा के कारण आम जनमानस में धार्मिक भावनाओं की ग्रहणशीलता बढ़ी। धर्म में किसी भी तरह के हस्तक्षेप का हर कीमत पर विरोध करने लगे। धार्मिक रूढ़िवाद का नग्न प्रदर्शन हम दत्तक ग्रहण विधेयक और शाह बानो मामले के संबंध में देखने को मिला।

श्रीमती इंदिरा गांधी की सरकार ने 1970 के दशक में दत्तक ग्रहण के संबंध में कानून बनाने का प्रयास किया। 1972 से 1980 तक इस संबंध में चर्चा चलती रही। इस संबंध में जोरदार बहसें चलीं। संयुक्त प्रवर समिति में विचार विमर्श किया गया। जनता की सुनवाई की गयी। दो बार विधेयक को संशोधित किया गया और अंततः विधेयक असफल हो गया। 1972 में विधेयक सर्वप्रथम राज्यसभा में पेश किया गया था। यह सभी भारतीयों पर समान रूप से लागू होना था। इसमें अंतर धार्मिक दत्तक ग्रहण की व्यवस्था थी। दत्तक ग्रहण करनेवाले माता पिता का धर्म ही बच्चे का धर्म होता। किंतु मुसलमानों और अनुसूचित जनजातियों के विरोध के कारण विधेयक पारित नहीं हो सका। जनजातियों की तरफ से कहा गया कि वे अपने किल्ली (कुल) से बाहर दत्तक ग्रहण को नहीं स्वीकार करेंगे तथा न ही वे दत्तक ग्रहण को न्यायालय में पंजीकृत कराना चाहते हैं। मुसलमानों का तर्क था कि मुस्लिम स्वीय विधि दत्तक ग्रहण की अनुमति नहीं देता। उनका मानना था कि वे किसी भी ऐसे सिविल कानून को नहीं स्वीकार करेंगे जो शरीअत की अवहेलना करता है। प्रवर समिति ने जब बयान देने वाले मुस्लिम सदस्यों से पूछा कि उन्होंने विशेष विवाह अधिनियम 1955 को कैसे स्वीकार कर लिये तथा मुस्लिम स्वीय विधि में पाकिस्तान, ईरान और तुर्की में किये जा रहे परिवर्तनों पर उनकी प्रतिक्रिया पूछी गयी तो उन्होंने बिलकुल अजीबो-गरीब तर्क दिया। उनका कहना था कि 1955 में उनसे किसी ने पूछा नहीं वरना वे अवश्य विरोध करते तथा पाकिस्तान तुर्की और ईरान आदि तानाशाही व्यवस्थाएं हैं जबकि भारत धर्मनिरपेक्ष प्रजातंत्र है इसलिए इसे अल्पसंख्यकों की स्वीय विधियों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। 1976 में प्रवर समिति ने अपनी सिफारिश में विधेयक से जनजातियों को छूट देने के लिए अनुरोध किया। तत्पश्चात् मुसलमान बुद्धिजीवियों द्वारा स्वीय विधि में हस्तक्षेप को लेकर भयानक हंगामा किया गया। दिसंबर, 1980 में एक नया विधेयक जिसमें मुसलमानों को

छूट दी गयी थी (किंतु जनजातियों को नही) पेश किया गया। फिर भी कोई सफलता नही मिली।[20] आज स्थिति यह है कि गैर हिंदू अनाथ बच्चे को गोद मुनासिब नही है क्योंकि केवल हिंदू बच्चे ही गोद लिये जा सकते हैं।

जहा सरकार ने चुनावी जोड़-घटाव के कारण अल्पसंख्यकों की स्वीय विधियों में सुधार के द्वारा रूढ़िवादियों को नाराज करने से अपने को दूर रखा अपने चुनावी फायदे को ध्यान में रखकर सरकारें तुष्टिकरण की नीति अपनाती रही। वही पर न्यायालयों ने सामाजिक अन्याय और शोषण को दूर करने के हर सभव प्रयास किये। **इत्तवारी बनाम मुसम्मात असगरी** के मामले मे पति ने अपनी पहली पत्नी के विरूद्ध दाम्पत्य अधिकारों के पुनर्स्थापन का वाद दायर किया था। पत्नी के पति द्वारा दूसरी पत्नी लाने और निर्दयता के आधार पर अपने माता-पिता के साथ रहने का औचित्य दिखलाया। मुंसिफ ने इस पत्नी द्वारा निर्दयता के सबूत न दे सकने के कारण पति का वाद डिक्री कर दिया। पत्नी द्वारा जिला न्यायाधीश के समक्ष अपील करने पर मुंसिफ का निर्णय उलट दिया गया। इलाहाबाद उच्च न्यायालय मे अपील किये जाने पर न्यायाधिपति एस० एस० धवन ने कहा कि दाम्पत्य अधिकारों के पुनर्स्थापन के मुकदमे में यदि न्यायालय को यह प्रतीत होता है कि परिस्थितियां ऐसी हैं कि दूसरी पत्नी लाने पर पहली पत्नी को उसके साथ रहने के लिए विवश करना अन्याय होगा तो वह अनुतोष प्रदान करने से इनकार कर देगा। न्यायमूर्ति ने अपील खारिज करते हुए कहा कि यह दूसरी पत्नी लाने वाले पति को साबित करना चाहिए कि उसके द्वारा दूसरी पत्नी लाना पहली पत्नी का अपमान या निर्दयता नही है। उनका कहना था कि हिंदू निर्दयता ईसाई निर्दयता और मुस्लिम निर्दयता जैसी कोई अलग-अलग चीजे नही है निर्दयता का मापदंड सार्वभौमिक और मानववादी मानकों पर आधारित है।

मुस्लिम विधि के अंतर्गत, ऐसी स्त्री जिसका विवाह विच्छेद हो गया है अपने पूर्व पति से **इद्दत-काल** तक भरण-पोषण पाने की हकदार है किंतु इद्दत काल के पश्चात् नही। किंतु दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 125 के अंतर्गत तलाकशुदा पत्नी अपने दूसरे विवाह के समय तक भरण-पोषण की हकदार है। **बदरुद्दीन बनाम आइशा बेगम के मामले**[21] मे न्यायालय ने कहा कि पति के द्वारा दूसरी पत्नी लाने पर प्रथम पत्नी पति के साथ रहने से इनकार करने के बावजूद भरण-पोषण का दावा कर सकती है। **बाई ताहिरा बनाम अली हुसैन के मामले**[22] मे उच्चतम न्यायालय ने अवलोकन किया कि तलाकशुदा पत्नी द्वारा भरण-पोषण प्राप्त करने का अधिकार अधिनियमित अधिकार है तथा इसे मुस्लिम विधि के नियमों से पराजित नही किया जा सकता है। **जोहरा खातून बनाम मोहम्मद इब्राहिम के मामले**[23] मे उच्चतम न्यायालय ने मत व्यक्त किया कि मुस्लिम विवाह-विच्छेद अधिनियम 1939 के अंतर्गत विवाह विच्छेद की डिक्री प्राप्त कर लेने के बाद भी पत्नी अपने पूर्व पति से भरण-पोषण प्राप्त कर सकती है बशर्ते उसने दूसरा विवाह न कर लिया हो।

शाहबानो मामले[24] मे एक तलाकशुदा महिला द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 125 के अंतर्गत भरण-पोषण हेतु आवेदन प्रस्तुत किया गया था। अपीलार्थी जो कि

व्यवसाय से अभिभाषक था का विवाह 1932 में प्रत्यर्थी के साथ हुआ था। उसके तीन पुत्र और दो पुत्रियां थी। 1975 मे अपीलार्थी ने प्रत्यर्थी को उसके मटरीमोनिअल घर से निकाल दिया था। 1978 मे प्रत्यर्थी ने अपीलार्थी के विरुद्ध धारा 125 दंड प्रक्रिया संहिता *के अधीन भरण-पोषण हेतु आवेदन न्यायिक अरडलीय तलाक के द्वारा प्रस्तुत किया।* इसके कुछ समय बाद अपीलार्थी ने प्रत्यर्थी को मजिस्ट्रेट प्रथम श्रेणी के समक्ष तलाक दे दिया। अपीलार्थी का कहना था कि तलाक के बाद प्रत्यर्थी उसकी पत्नी नहीं रही। अतः उसको *भरण-पोषण का कोई अधिकार नहीं है। वह प्रत्यर्थी को लगभग दो वर्षों तक* 200 रु० माहवार भरण-पोषण के लिए देता रहा तथा इद्दत की अवधि में मेहर के रूप में 3000 रु० न्यायालय मे जमा कर दिया था। मजिस्ट्रेट ने अपीलार्थी को 25 रु० माहवार *भरण-पोषण हेतु देने का निर्णय दिया था। प्रत्यर्थी का कहना था कि अपीलार्थी का* व्यवसाय में करीब 60 000 रु० वार्षिक की आमदनी होती है इसलिए उसने म० प्र० उच्च न्यायालय मे पुनरीक्षण याचिका प्रस्तुत कर दी। जिस पर उच्च न्यायालय ने *भरण-पोषण की राशि बढ़ाकर रु० 179 20 प्रतिमाह कर दिया। इसके विरुद्ध पति ने* विशेष अनुमति लेकर उच्चतम न्यायालय मे अपील प्रस्तुत की। जिस पर मुख्य न्यायाधिपति चंद्रचूण की अध्यक्षता में पांच न्यायाधीशों ने मामले की सुनवाई की। *उच्चतम न्यायालय ने कहा*

> 'मुस्लिम पति को यह विशेष अधिकार है कि वह अपनी पत्नी को उचित अनुचित या बिना कारण के जब भी वह चाहे डिस्कार्ड कर दे। न्यायालय ने स्पष्ट किया कि *धारा 125 (1) के स्पष्टीकरण का खंड (ब) के द्वारा पत्नी के अंतर्गत तलाकशुदा* स्त्री जिसने कि पुनर्विवाह नहीं किया है शामिल है। वह उपबंध बिलकुल स्पष्ट है और उसमें कोई संदेह नहीं है। इन उपबंधों में इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि *पति-पत्नी का धर्म कौन-सा है। धारा 125 उन लोगों के लिए अपना भरण पोषण* करने के लिए असमर्थ है जिनके लिए शीघ्र उपचार करने हेतु बनाया गया है। एम उपबंध जो कि निराधात्मक स्वरूप के है धर्म के बंधनों का कारण है। उच्चतम *न्यायालय ने मत व्यक्त किया कि धारा 125 के अधीन डाला गया उत्तरदायित्व* विधि और नैतिकता का एडिक्ट है और इस धर्म के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। धारा 125 (1) के स्पष्टीकरण के खंड (ब) में ऐसा कोई शब्द नहीं है जिसके *कारण मुस्लिम महिला को उसके अधिकार से बाहर किया जाय। धारा 125* वास्तव में धर्मनिरपेक्ष है।

अपीलार्थी का तर्क था कि मुस्लिम स्वीय विधि के अधीन पति का तलाकशुदा पत्नी का भरण-पोषण करने का उत्तरदायित्व इद्दत की अवधि तक ही सीमित है। उच्चतम न्यायालय ने कहा कि मुस्लिम विधि के अधिकृत ग्रंथों के आधार पर यह नहीं माना जा सकता है कि मुस्लिम पति अपनी तलाकशुदा पत्नी का भरण पोषण के लिए जो कि अपना भरण-पोषण करने में असमर्थ है उत्तरदायी नहीं है जिसे कि उसने तलाक दिया है। न्यायालय ने कहा कि सही स्थिति यह है कि यदि तलाकशुदा पत्नी अपना भरण-पोषण करने में सक्षम है तो उसका भरण पोषण करने का पति का उत्तरदायित्व

इद्दत की अवधि के बाद समाप्त हो जाता है। यदि वह अपना भरण-पोषण करने के लिए असमर्थ है तो वह धारा 125 दंड प्रक्रिया संहिता की सहायता लेने की पात्र है। यह भी स्पष्ट किया गया कि धारा 125 और मुस्लिम विधि में तलाकशुदा पत्नी— जो कि अपना भरण-पोषण करने में असमर्थ है— की भरण-पोषण के किसी मुस्लिम पति के उत्तरदायित्व के संबंध में विरोधाभास नहीं है। कुरान तलाकशुदा पत्नी का भरण-पोषण का उत्तरदायित्व मुस्लिम पति पर डालती है।

यह एक ऐतिहासिक निर्णय था। इसने भारत में बौद्धिक तथा राजनीतिक धरातल पर तूफान मचा दिया। जगह-जगह जुलूस निकाले गये, रैलियां हुईं, गोष्ठियां हुईं, बयान जारी किये गये, धरने दिये गये, यहां तक कि गणतन्त्र दिवस के बहिष्कार का आवाहन किया गया। यदि बुद्धिजीवियों, विधि विशेषज्ञों, समाज सुधारकों तथा अनेक नारी संगठनों ने निर्णय का स्वागत किया, तो वहीं पर अनेक रूढ़िवादियों, धर्म विज्ञानियों और अवसरवादी राजनीतिज्ञों तथा अनेक मुस्लिम संगठनों ने निर्णय का डटकर विरोध किया। धार्मिक कट्टरवादियों ने यह कहकर विरोध किया कि मुस्लिम स्वीय विधि कुरान तथा सुन्ना पर आधारित है, पवित्र है तथा अपरिवर्तनीय है। यह निर्णय धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप करता है। अवसरवादी राजनीतिक नेताओं ने धार्मिक भावनाओं से अनुचित लाभ उठाने के लिए निर्णय की अत्यधिक आलोचना की। यहां तक कि शासक दल के जिम्मेदार सांसदों तक ने न्यायालय की आलोचना करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। इस्लाम पर तुच्छ हमला, मुख्य न्यायाधिपति इतना छोटा व्यक्ति है कि वह कुरान पर निर्णय नहीं दे सकता, जैसे शब्द संसद में कहे गये। कांग्रेस (आई) के एक सदस्य ने तो यहां तक कहा कि शाहबानो के मामले में दिये गये निर्णय के कारण न्यायाधिपति न तो भारतीय और न ही न्यायाधिपति कहलाने का अधिकार रखते हैं।

निर्णय को उचित बताते हुए यह तर्क दिया गया कि जो मुस्लिम विधि में दर्जनों विचारधाराएं हैं तथा अनेक मामलों में सैद्धांतिक और व्यावहारिक भिन्नता है, वे सिद्ध करते हैं कि मुस्लिम विधि पूर्णतः दैवीय नहीं है। शरीअत में दैवीय और मानवीय दोनों तत्त्व हैं तथा मानवीय तत्त्व परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ संशोधन मांगता है। परिस्थितियों के अनुसार समय-समय पर परिवर्तन आये हैं। उदाहरणार्थ एक ही बार में अनिवर्तनीय (रद्द न हो सकने वाला) विवाह विच्छेद का मामला है। इसमें पति एक ही तुह्र के दौरान तीन बार 'तलाक' का उच्चारण करके विवाह विच्छेद कर सकता है। इसे तलाक-उल बिद्दत कहते हैं। जबकि कुरान और सुन्ना में इस तरह के विवाह विच्छेद की व्यवस्था नहीं है। पैगंबर साहब की परंपरा के अनुसार तलाक तलाक-उल-सुन्नत है जिसके अहसान और हसन दो उपभाग हैं। यह तलाक तीन अंतरालों में कहा जाता है। यह इद्दत की अवधि तक निवर्तनीय होता है तथा तीसरे उच्चारण के तुरंत बाद अनिवर्तनीय हो जाता है। इस प्रकार हनफी सुन्नियों में सबसे ज्यादा प्रचलित तलाक की पद्धति न तो कुरान पर आधारित है और न ही सुन्ना पर। इस प्रकार यह सिद्ध करता है कि मुस्लिम स्वीय विधि अपरिवर्तनीय नहीं है।

कुरान में तलाकशुदा स्त्री के लिए बड़े ही दयालु शब्दों का प्रयोग किया गया है

तथा पुरुष से कहा गया है कि जितनी अच्छी तरह से सभव हो उसकी देखभाल करे। इस्लामी विचारधाराओं के अनुसार तलाक के समय इद्दत की अवधि तक पति द्वारा तलाकशुदा पत्नी का भरण-पोषण किया जाना आवश्यक है किंतु कुरान में कुछ उचित मामलो में इद्दत के बाद भी भरण-पोषण के लिए कहा गया है।[1] आज की परिस्थितियो मे तलाक एक कलक समझा जाने लगा है पुन विवाह करना पुराने अरब के समाज जैसा आसान नही है तथा बहुत कम माता पिता या उसके भाई आदि है जो स्त्री की तलाक के बाद विधिवत् देखभाल करते हैं। सभव है कि कुछ का कोई देखभाल करने वाला हो ही न। अनेक तलाकशुदा स्त्रिया अन्याय अवमानना शोषण और अत्याचार की जिंदगी व्यतीत करने के लिए बाध्य हो सकती है जिसकी कि कुरान अनुमति कभी नही देता। इस तरह के सामाजिक अन्याय से सुरक्षा के लिए कुछ मुस्लिम देशो ने पति द्वारा इद्दत की अवधि के बाद भी भरण पोषण की व्यवस्था की है। तुर्की और साइप्रस दोनो देशो में न्यायालय तलाक के यथोचित मामलो मे व्यथित पक्ष के धन सबधी अधिकारो और शरीर अथवा मान मर्यादा की क्षति को ध्यान मे रखते हुए व्यथित पक्ष को तुरत क्षतिपूर्ति के लिए जो पक्ष गलती मे है उसे निर्देश दे सकता है। सीरिया का वैयक्तिक प्रास्थिति विधि 1953 इस्लाम जगत मे निर्मित पहली व्यापक सहिता है। सीरिया की विधि न्यायालय को अधिकृत करता है कि वह किसी विवाहित (पहले से ही) पुरुष को किसी दूसरी स्त्री के साथ विवाह करने की अनुमति देने से मना कर सकता है अगर यह प्रमाणित होता है कि वह दो पत्नियो का भरण पोषण नही कर सकता। दोनो पक्षो को कानून विवाह सविदा मे शर्ते अनुबधित करने की स्वतत्रता देता है तथा यदि पति उस अनुबध को भग करता है तो पत्नी विवाह विच्छेद की न्यायालय से माग कर सकती है। अगर न्यायालय इस बात से सतुष्ट है कि पति ने बिना किसी वैध कारण के तलाक दिया है तथा जिस कारण से पत्नी निराश्रित हो गयी है तो वह पत्नी को प्रतिकर देने के लिए पति को निर्देश दे सकता है। प्रतिकर की मात्रा पति की आर्थिक स्थिति तथा पत्नी की क्षति को ध्यान मे रखकर निर्धारित किया जायगा तथा एक मुश्त राशि अथवा किस्तो मे अदा करने के लिए निर्देशित किया जा सकता है। ट्यूनिसिया मे बहु विवाह को बिलकुल निषेध कर दिया गया है। तलाक न्यायालय द्वारा ही प्रभावी होता है वहा एकतरफा तलाक की घोषणा अब सभव नही है। एक पक्ष द्वारा तलाक के लिए जोर देने पर न्यायालय तलाक के बाद दूसरे पक्ष के लिए क्षतिपूर्ति के साथ तलाक स्वीकृत कर सकता है। अल्जीरिया मे भी पत्नी को क्षति व नुकसानी भुगतान की व्यवस्था है। इसी प्रकार विवाह उत्तराधिकार आदि के सबध मे जिस प्रकार इन देशो तथा अन्य कई मुस्लिम देशो मे मुस्लिम विधि मे परिवर्तन हो रहा वह मुस्लिम स्वीय विधि के बिलकुल दैवीय और अपरिवर्तनीय चरित्र का खडन करता है।

निर्णय की धार्मिक तथा सास्कृतिक आधारो पर आलोचना की गयी। यह कहा गया कि यह निर्णय अनुच्छेद 25 मे दिये गये धार्मिक अधिकारो का अतिक्रमण करता है क्योकि शरीअत और सुन्ना इस्लाम धर्म के अभिन्न अग है। किंतु यह तर्क देते समय इस तथ्य को भुला दिया जाता है कि अनुच्छेद 25 (2) (क) धार्मिक आचरण से सबद्ध किसी

आर्थिक, वित्तीय, राजनीतिक या अन्य लौकिक क्रिया-कलापों का विनियमन या निर्बंधन के संबंध में राज्य को विधि बनाने के लिए अधिकृत करता है। साथ ही अनुच्छेद 25 (2) (ख) सामाजिक कल्याण और सुधार का उपबंध करने के लिए विधि बनाने का अधिकार देता है। निश्चय ही, हमारे यहां स्त्रियों की स्थिति पुरुषों की अपेक्षा दयनीय रही है। कमज़ोर वर्गों, स्त्रियों और बच्चों के हित के लिए स्वीय विधियों में कोई परिवर्तन सामाजिक कल्याण और सुधार कहा जायगा। इसलिए यह अनुच्छेद 25 (2) का संरक्षण प्राप्त करता है अतः धार्मिक स्वतंत्रता के अतिलंघन का तर्क निराधार है।

यह आपत्ति उठायी गयी कि अनुच्छेद 29 अपनी विशेष भाषा लिपि या संस्कृति को बनाये रखने का अधिकार देता है तथा मुस्लिम स्वीय विधि मुसलमानों की संस्कृति का मूलभूत अंग है। यह दावा किया गया कि यह भारतीय मुस्लिमों की सांस्कृतिक पहचान का मूल्यवान प्रतीक है तथा संस्कृति के संरक्षण के लिए स्वीय विधि का परिरक्षण आवश्यक है। विधियों में परिवर्तन सांस्कृतिक पहचान को प्रभावित करेगा। किंतु प्रश्न यह उठता है कि क्या किसी समुदाय की संस्कृति स्थायी होती है ? क्या उसमें विकास नहीं होता ? अगर विकास होता है तो परिवर्तन अवश्य होता है। सामाजिक परिस्थितियों और मान्यताओं में बदलाव के अनुरूप इनमें भी प्रतिक्रिया होती है तथा संस्कृति तदनुरूप अपने को ढालने का प्रयास करती है। साथ ही संस्कृति के संरक्षण का यह तो अभिप्राय नहीं है कि उसके प्रत्येक तत्त्व को ज्यों का त्यों बनाये रखा जाय, चाहे जितना भी वह अविकसित असामाजिक तथा अनुचित ही क्यों न हो।[26]

इस प्रकार बुद्धिजीवियों विधि विशेषज्ञों समाज सुधारकों अनेक नारी-संगठनों तथा अन्य प्रगतिवादियों के ज़ोरदार समर्थन के बावजूद श्री राजीव गांधी की सरकार ने चुनावी सोच-विचार के कारण धार्मिक कट्टरवादियों राजनीतिक अवसरवादियों तथा प्रतिक्रियावादी ताकतों के सामने घुटने टेक दिये। हालांकि 1989 के आम चुनावों में इनके सिद्धांतरहित नीति को मतदाताओं ने कड़ा दंड दिया। निर्णय के प्रभावों को समाप्त करने के लिए कांग्रेस (आई) सरकार ने भ्रांतिजनक मुस्लिम स्त्री संरक्षण विधेयक संसद में पेश किया। विपक्ष समाचार माध्यमों तथा मुस्लिम समुदाय के प्रगतिशील तत्वों आदि के द्वारा इस विधेयक के विरोध में बनाये गये हर तरह के दबाव की अवहेलना करके तथा अपने दल के सदस्यों को व्हिप जारी करके राजीव गांधी सरकार ने मुस्लिम स्त्री (विवाह-विच्छेद अधिकार संरक्षण) अधिनियम 1986 पारित किया। शाहबानो मामले के आलोचकों का कहना था शरीअत के नियम ईश्वरीय हैं इसलिए कोई मानवीय संस्था न तो उन पर निर्णय दे सकती है और न ही कोई मानवीय संस्था उनमें संशोधन कर सकती है। इन नियमों में परिवर्तन करने की सत्ता संसद के पास नहीं है हालांकि भारत में अतीत में विधायिकाओं द्वारा अनेक परिवर्तन मुस्लिम विधि में किये जा चुके हैं। इस अधिनियम को पारित करके संसद ने अपनी मुस्लिम विधि में परिवर्तन करने की सत्ता को पुनः सिद्ध किया किंतु इस प्रक्रिया में परिवर्तन करने की शक्ति में आत्मविश्वास पैदा किया।

किंतु उच्चतम न्यायालय ने रूढ़िवादिता के खिलाफ संघर्ष में अपने हथियार नहीं

डाले। इसने स्त्रियों के समानता तथा सामाजिक न्याय के मत्तप के पक्ष में एक और प्रहार किया, जब शाहबानो मामले के दो वर्ष बाद सुबानो के मामले में उच्चतम न्यायालय ने केरल उच्च न्यायालय के निर्णय को उलट दिया तथा दंड प्रक्रिया संहिता की उसी धारा 125 के आधार पर बेगम सुबानो के स्वयं तथा अपनी पुत्री के भरण-पोषण के दावे को स्वीकार कर लिया। न्यायालय ने निर्णय दिया कि मुस्लिम स्त्री अलग रहकर स्वयं व तथा अपने बच्चों के भरण-पोषण का पति से दावा कर सकती है अगर वह रखैल रख लेता है अथवा दुबारा विवाह कर लेता है। न्यायालय का मत था कि चाहे दूसरी स्त्री पत्नी की *तरह हो या रखैल की तरह* पहली पत्नी के भरण-पोषण के अधिकार प्रभावित नहीं होते हैं, भले ही वह एक मकान में रहने से मना कर दे और न ही पति उसे अपने साथ रहने के लिए आमंत्रित करके अथवा 'शरीअत' में चार पत्नियों के विधान का सहारा लेकर अपने उत्तरदायित्व से बच सकता है। न्यायालय ने भरण पोषण की राशि का परिकलन करने का मानक ही नहीं तय किया बल्कि यह भी तय किया कि किस तिथि से यह भुगतान आरंभ होगा। इस प्रकार यह निर्णय पति द्वारा एक से ज्यादा पत्नियां रखने की इच्छा पर अंकुश लगाता है। फलत मुस्लिम औरतों को एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

24 फरवरी 1986 को उच्च न्यायालय ने एक अन्य महत्त्वपूर्ण निर्णय ईसाई अल्पसंख्यकों के संबंध में दिया। केरल ईसाई स्वीय विधि (त्रवणकोर ईसाई उत्तराधिकार अधिनियम 1902)[27] के अनुसार निर्वसीयतता की स्थिति में एक पुत्री पुत्र के भाग का एक-चौथाई अथवा रु० 5000 जो भी कम हो उत्तराधिकार में प्राप्त कर सकती थी तथा मां अथवा निर्वसीयती की विधवा उसकी संपत्ति में केवल आजीवन हित का दावा कर सकती थी जो कि मृत्यु के बाद अथवा पुनर्विवाह पर रद्द समझी जाती थी। *मिसेज़ मेरी राय के मामले में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि 1902 का* उक्त अधिनियम 1 अप्रैल 1951 को निरसित हो गया क्योंकि 1951 के अधिनियम के अधीन एकीकरण पर भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम 1925 के सुसंगत उपबंध (खंड पांच का अध्याय द्वितीय) को त्रवणकोर और कोचीन राज्यों (ख श्रेणी के राज्यों) में रहने वाले भारतीय ईसाइयों तक विस्तारित कर दिया गया था तथा उन पर लागू कर दिया गया था जिसके अंतर्गत इन महिला उत्तराधिकारियों के अधिकारों में वृद्धि हो गयी है। इस प्रकार त्रवणकोर और कोचीन के भारतीय ईसाइयों पर उनकी स्वीय विधि को न लागू करके उन्हें भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम 1925 की सीमा में लाया गया जो कि एक धर्मनिरपेक्ष विधि है। इस निर्णय से ईसाई समुदाय में काफी सनसनी मची तथा निर्णय के विरोध में उस क्षेत्र के पुरुष ईसाइयों, चर्च संस्थानों ने सम्मिलित मुहिम छेड़ी। यहां तक कि कई चर्चों ने पूर्व की स्थिति लाने के लिए नयी स्वीय विधि बनाने के लिए ज़ोर देने लगे किंतु नारी संगठनों, समाज सुधारकों एवं विवेकवादियों तथा अनेक बुद्धि-जीवियों द्वारा उच्चतम न्यायालय के निर्णय का अत्यधिक स्वागत किया गया।

इस प्रकार प्रत्येक सरकार स्वीय विधियों में कोई सुधार तथा परिवर्तन करने से कतराती रही। स्वतंत्रता के पहले तथा स्वतंत्रता के बाद के सरकारों की नीतियों में स्वीय

विधियो के संबंध में कोई परिवर्तन नजर नही आता है यह बात जरूर है कि अब सरकारे राजनीतिक लाभो को देखते हुए अल्पसंख्यको की विधियो तथा भावनाओ के प्रति संवेदनशील कुछ ज्यादा ही हो गयी है। जैसाकि 1986 के मुस्लिम स्त्री विधेयक के संबंध में बोलते हुए तत्कालीन विधिमंत्री ने कहा था कि किसी भी अल्पसंख्यक पर लागू होने वाले स्वीय विधि मे सुधार लाने तक के संबंध में सरकार तब तक प्रतीक्षा करना चाहेगी जब तक कि इस संबंध में उस समुदाय की तरफ से सुधार के लिए माग नही की जाती तथा उस माग का उस समुदाय के अधिसंख्यक सदस्यो द्वारा समर्थन नही किया जाता। इस तरह का दृष्टिकोण तो आजादी से पहले समझ में आता है किंतु आजादी के बाद जब सामाजिक न्याय की आवाज सार्वभौमिक रूप धारण कर चुकी है सरकार का इस तरह का दृष्टिकोण निश्चय ही निराशाजनक है। हालांकि जहा सरकार उदासीन रही है वही पर न्यायालय चुप नही बैठे हैं। उच्चतम न्यायालय ने इस दिशा में नेतृत्व प्रदान किया है निश्चय ही यह प्रशंसनीय है। सरकार को चाहिए कि न्यायालय के साथ मिलकर रूढ़िवादिता मध्ययुगीनता तथा अंधविश्वास के खिलाफ जेहाद छेड़े तथा धर्मनिरपेक्षता और सामाजिक न्याय पर आधारित समाज की स्थापना करे।

संदर्भ

1 ए० एल० बाशम अद्भुत भारत 1984 पृ० 92

2 वही पृ० 98

3 आउट लाइंस ऑफ मुहम्डन लॉ चतुर्थ संस्करण पृ० 18

4 रोमिला थापर भारत का इतिहास 1990 पृ० 264

5 डो० ई० स्मिथ इंडिया एज ए सेक्यूलर स्टेट 1963 पृ० 273

6 *अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतम सखा।*
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यत ॥

(भार्या पुरुष का आधा अंग है। भार्या उसका सबसे उत्तम मित्र है। भार्या धर्म अर्थ और काम का मूल है और संसार सागर से तरने की इच्छा वाले पुरुष के लिए भार्या ही प्रमुख साधन है।)

भार्यावंत क्रियावन्त सभार्या गृहमेधिन।
भार्यावन्त प्रमोदन्ते भार्यावन्त श्रियान्विता ॥

(जिनके पत्नी है वे ही यज्ञ आदि कर्म कर सकते है। सपत्नीक पुरुष ही सच्चे गृहस्थ है। पत्नी वाले पुरुष सुखी और प्रसन्न रहते है तथा जो पत्नी से युक्त है वे साक्षात लक्ष्मी से संपन्न है।)

दह्यमाना मनोदु खैर्व्याधिभिश्चातुरा नरा।
ह्लादन्ते स्वेषु दारेषु घर्मार्ता सलिलेष्विव ॥

(जैसे धूप से तपे हुए जीव जल में स्नान कर लेने पर शांति का अनुभव करते है उसी प्रकार जो

मानसिक दुःख और चिंताओं की आग में जल रहे हैं तथा जो नाना प्रकार के रोगों से पीड़ित हैं वे मानव अपनी पत्नी के समीप होने पर आनंद का अनुभव करते हैं।)

सुसंरब्धोऽपि रामाणां न कुर्याद् प्रियं नरः ।

रतिं प्रीतिं च धर्मं च तास्वायत्तमवेक्ष्य हि ।

(रति प्रीति तथा धर्म पत्नी के ही अधीन हैं ऐसा सोचकर पुरुष को चाहिए कि वह कुपित होने पर भी पत्नी के साथ कोई अप्रिय बरताव न करे।)

आत्मनो जन्मनः क्षेत्रं पुण्यं रामाः सनातनम् ।

(स्त्रियां पति के आत्मा के जन्म लेने का सनातन पुण्य क्षेत्र हैं।) — *मनुस्मृति*

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वाऽपि योषिता ।

न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किंचित्कार्यं गृहेष्वपि ॥

(बचपन में जवानी में और बुढ़ापे में स्त्री को घर में भी अपनी इच्छा से कोई काम नहीं करना चाहिए।)

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने ।

पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वातन्त्र्यम् ॥

(स्त्री बचपन में पिता के जवानी में पति के और पति के मर जाने पर बुढ़ापे में पुत्र के वश में रहे। स्वतंत्र कभी न रहे।)

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।

सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥

(स्त्री को सर्वदा प्रसन्न गृह कार्यों में चतुर घर के बरतन आदि को शुद्ध एवं स्वच्छ रखने वाली और अधिक व्यय करने वाली नहीं होना चाहिए।)

अनृतावृतुकाले च मन्त्रसंस्कारकृत्पतिः ।

सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः ॥

(विवाहकर्ता — पति स्त्री को ऋतुकाल में तथा ऋतु भिन्न काल में भी नित्य ही इस लोक में तथा परलोक में सुख देने वाला है।)

विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः ।

उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः ॥

(सदाचार से हीन पर-स्त्री में अनुरक्त और विद्या आदि गुणों से हीन भी पति पतिव्रता स्त्रियों का देवता के समान पूज्य होता है।) — *मनुस्मृति*

8 अर्थशास्त्र III

9 पी० सी० चटर्जी सेक्युलर वैल्यूज फार सेक्युलर इंडिया 1985 पृ० 217

10 ताहिर महमूद मुस्लिम परसनल लॉ रोल ऑफ द स्टेट इन द सब कांटिनेंट पृ० 54-56

11 ग्रेनविल ऑस्टिन दि इंडियन कान्स्टिट्यूशन पृ० 50-52

12. डी० ई० स्मिथ इंडिया एज ए सेक्युलर स्टेट 1963 पृ० 279

13 द हिंदू अप्रैल 27, 1955 स्मिथ वही

14 वही पृ० 281

15 लोकसभा डिबेट्स 1955 भाग 2, अंक 4 कालम 73-76
16 डी० ई० स्मिथ उपरोद्धृत पृ० 288
17 ए० आई० आर० 1952 (बाबे) 84
18 श्री निवास अय्यर बनाम सरस्वती अम्माल ए० आई० आर० 1952 (मद्रास) 193
19 1964 तथा 1976 में हिंदू विवाह अधिनियम 1955 संशोधित किया गया। बाल-विवाह अवरो
(संशोधन) अधिनियम 1978 द्वारा भी हिंदू विवाह अधिनियम में कुछ संशोधन किये गये।
20 मेनस्ट्रीम जुलाई 6 1985 पृ० 16
21 ए० आई० आर० 1960 इलाहाबाद 684
22 ए० एल० जे० (1957) 300
23 ए० आई० आर० 1979 एस० सी० 362
24 ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 1243
25 मोहम्मद अहमद खान बनाम शाहबानो बेगम (1985) 2 एस० सी० सी० 556
26 असगर अली इंजीनियर मेनस्ट्रीम 25 मई 1985 पृ० 19
27 टाइम्स आफ इंडिया अक्टूबर 26 1986

5

जाति और धर्मनिरपेक्षवाद

कोई भी समाज जो जाति पर आधारित हो, जिसमें व्यक्ति का स्थान उसके जन्म, लिंग, धर्म, प्रजाति आदि पर निर्धारित होता हो, जिसमें अवसर की समानता न हो, सही मान में धर्मनिरपेक्ष नहीं हो सकता। धर्मनिरपेक्षता के लिए मानवीय समानता तथा मानवीय सम्मान आवश्यक है। धर्मनिरपेक्ष समाज कुलीनतंत्रीय ढांचे के ऊर्ध्वाधर श्रेणीबद्धता के विपरीत मूल्यों पर आधारित होता है, इसमें सब समान समझे जाते हैं। धर्मनिरपेक्ष समाज में रंग, धर्ममत, जाति, लिंग आदि पर आधारित किसी भी तरह के विभेद की अनुमति नहीं होती है। यह सामाजिक न्याय पर आधारित होता है।

समानता की अवधारणा

'समानता' तथा 'सामाजिक न्याय' आज शासन प्रक्रिया में बहुचर्चित विषय हैं किंतु इसकी अवधारणात्मक स्पष्टता के संबंध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। राजनीतिक चिंतन में समानता की अवधारणा दो तरह से प्रयोग में लायी जाती है। प्रथमतः मूलभूत समानता जो लोगों को समान प्राणी के रूप में देखती है, द्वितीयतः वितरणात्मक समानता जो लोगों में आर्थिक चीजों, सामाजिक सुअवसरों, राजनीतिक शक्ति के समान वितरण को न्यायसंगत ठहराती है। प्रथम अवधारणा इस बात पर बल देती है कि सभी व्यक्ति समान पैदा हुए हैं, किंतु समानता का यह दावा किसी ऐसे तथ्य की तरफ संकेत नहीं है जिसे मापा जा सकता है जैसे—समान वजन तथा ऊंचाई। नहीं इसका सामाजिक रूप से महत्त्वपूर्ण और कम मापनीय अर्थ में समानता से अभिप्राय है जैसे—समान शारीरिक, मानसिक अथवा नैतिक क्षमता। निश्चय ही मनुष्य इन मामलों में समान नहीं हैं। एक कुछ अधिक युक्तियुक्त दावा यह है कि मनुष्य पेड़-पौधे अथवा जानवरों की तुलना में मानव प्राणी होने के नाते समान हैं। किंतु कुछ विद्वानों का मानना है कि यह तर्क अर्थशून्य है। लेकिन यह कहना निरर्थक नहीं लगता अगर इसका यह अभिप्राय होता है कि मनुष्यों में एक-दूसरे से मन मान वाली विभिन्नताएं राजनीति में महत्त्वपूर्ण हैं। प्राकृतिक

अधिकारो के विचारक इस बात पर बल देते हैं कि लोग अपने अधिकारो तथा कर्तव्यो को समझने की क्षमता से सपन्न होते हैं । निश्चय ही यह धारणा पितृ-सत्तात्मक सरकार के विरोध मे है । उपयोगितावादी दावा करते है कि सभी मानव प्राणी सुखो और दुखो को अनुभव करने की एक समान क्षमता रखते हैं इससे इस सिद्धात को समर्थन मिलता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अकेले व्यक्ति के रूप मे महत्त्व दिया जाना चाहिए किसी भी व्यक्ति की गणना एक से ज्यादा के रूप मे नही की जानी चाहिए। काण्ट का मानना है कि नैतिक कर्ता होने के कारण नैतिक विधियो के निर्माण करने तथा अनुपालन करने म अपने विवेक के प्रयोग करने की क्षमता रखने के कारण लोग गरिमा के भागी होते है । इसमे यह सिद्धात निहित है कि व्यक्ति को साधन के रूप म न मानकर साध्य मानना चाहिए । काण्ट इस सिद्धात मे विश्वास रखता है कि हमे सभी मानव प्राणी को समान अथवा समान आदर के योग्य समझना चाहिए । किंतु समानता के आलोचको का कहना है कि इस तथ्य मे कि सभी व्यक्ति समान हैं इस मूल्य का परिणाम निकालना कि सभी व्यक्तियो के साथ समान बर्ताव किया जाना चाहिए सभव नही है ।[1]

समानता के बारे म कई एक सैद्धातिक अवधारणाए दी गयी हैं । अरस्तू का मानना था कि न्याय एक प्रकार की समानता है । जो लोग समान है उन्हे समान वस्तुए दी जानी चाहिए किंतु समान तथा असमान किसे माने मे ? अरस्तू न मानवीय सदगुणो— जो विशेष भलाई के योग्य हैं— के आधार पर वितरण क लिए सगत और असगत तर्को म अतर किया है । उसके अनुसार कुशल बासुरीवादक भले ही सपन्न परिवार म पैदा न हुआ हो रूपवान न हो बासुरी के योग्य है । आज क समतावादी सगत कारणो क तर्क को योग्यता के क्षेत्र से परे आवश्यकता के क्षेत्र तक विस्तार करते हैं । बर्नार्ड विलियम्स का कहना है कि चिकित्सा सुविधा के वितरण का उचित आधार खराब स्वास्थ्य है क्योंकि समान रूप मे बीमार लोगो का असमान इलाज अविवेकपूर्ण है ।[2] किंतु योग्यता के अनुसार न कि आवश्यकता के अनुसार स्वास्थ्य की देखभाल प्लेटो की रिपब्लिक के अनुसार न तो अविवेकपूर्ण होगी और न ही अन्याय पर आधारित होगी । प्लेटो के अनुसार अगर किसी बढई का इलाज उसके सामाजिक कार्यो को करने लायक नही बनाता है तो उस चिकित्सा की देखभाल मना की जा सकती है ।

प्लेटो ने रिपब्लिक' मे समान सुअवसर का सैद्धातिक समर्थन प्रस्तुत किया है । उसने एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था की कल्पना की है जिसम समान रूप म बुद्धिमान तथा गुणी बच्चो को असमान सामाजिक पदो को प्राप्त करने क लिए समान सुअवसर दिया जायेगा । समान सुअवसर का प्राय असमानतावादी आदर्श के साथ तादात्म्य स्थापित किया जाता है किंतु अनेक असमानताए प्रकृति के बजाय परिपोषण का परिणाम होती है इसलिए इनके सबध म समान सुअवसर का प्रभाव समानतावादी परिणाम उत्पन्न कर सकता है । तार्किक तौर पर अवसर की समानता मानवीय स्वतत्रता को क्षति पहुचाती है क्योंकि यह असमान परिणामो को प्राप्त करने के लिए लोगो द्वारा पर्यावरण व अनुकूल समाधनो प्रतिभाओ तथा सद्गुणो क स्वतत्र प्रयोग म बाधा पहुचाती है ।

अनेक विद्वानो ने उदार समानता की अवधारणा दी है जिसम व्यक्ति अपने जीवन

के उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिए समान रूप से स्वतन्त्र होना है। हालांकि समान स्वतन्त्रता की अवधारणा के सबंध में उदारवादी दार्शनिक एक-दूसरे से सहमत नहीं है। इच्छास्वातन्त्र्यवादी विचारक समान स्वतन्त्रता का अर्थ संपत्ति के स्वामित्व रखने तथा संविदा करने के पूर्ण अधिकार से लगाते है। अमरीकी दार्शनिक रॉबर्ट नॉजिक ने व्यक्तिगत संपत्ति संचय तथा सामाजिक और राजनीतिक असमानता का जोरदार समर्थन करते हुए कहा कि ये अपने आपमें अच्छी नहीं हैं किन्तु इन्हें व्यक्तियों के अधिकारों का हनन करके ही दूर किया जा सकता है। उनके अनुसार संपत्ति के न्यायसंगत ढंग से प्राप्त करने तथा न्यायसंगत ढंग से हस्तान्तरण के निर्धारण के लिए शर्तें लगायी जा सकती हैं। यह शर्त लगायी जा सकती है कि प्रथमतः जिस समय संपत्ति प्राप्त की जाती है उस समय किसी को उसके अधिकार से वंचित तो नहीं किया जा रहा है, कोई अन्याय तो नहीं हो रहा है, द्वितीयतः संपत्ति का हस्तान्तरण भली प्रकार से जानते हुए उत्तरदायी लोगों से स्वेच्छा से तथा खुले रूप से संपादित होता है। उनका मानना है कि यदि संपत्ति न्यायतः अ से ब को मिलती है तथा न्यायतः ब से स को मिलती है तो स संपत्ति का न्यायतः अधिकारी होता है बशर्ते अ के पास वह संपत्ति न्यायतः थी। इस प्रकार संपत्ति का अत्यधिक संचय न्यायसंगत हो सकता है, न्यायसंगत वितरण भी हो सकता है, भले ही वह अत्यधिक असमान क्यों न हो। इस प्रकार वह पुनर्वितरण के विचारों (समाजवादी) का विरोध करता है। नॉजिक के विचार मूलतः उदारवादी है। उनके विचार में व्यक्ति के जो अधिकार हैं उनके उपभोग के लिए वह स्वतन्त्र होना चाहिए। बशर्ते कि दूसरों के अधिकारों में हस्तक्षेप नहीं होता है। उनका मानना है कि समान स्वतन्त्रता की स्थिति आवश्यकता, योग्यता, प्रयास अथवा कोई अन्य रचित सिद्धान्त के अनुसार चिकित्सा, देखभाल अथवा आय के वितरण को आवश्यक नहीं बनाता है। अमरीकी दार्शनिक जॉन रॉल्स ने सिद्धान्त दिया है

(अ) प्रत्येक व्यक्ति के पास अत्यधिक व्यापक स्वतन्त्रता का समान अधिकार होना चाहिए जो दूसरों की उसी तरह की स्वतन्त्रता के विरुद्ध न हो।

(ब) सामाजिक और आर्थिक असमानताओं को व्यवस्थित किया जाना चाहिए ताकि वे

(क) सबसे कम अनुकूल परिस्थिति वालों के सबसे ज्यादा लाभ में हो और (ख) उचित समानता के सुअवसर की स्थिति के अधीन सार्वजनिक पदों व ओहदों के साथ जोड़ी जाये। इस प्रकार रॉल्स के अनुसार सामाजिक न्याय का लक्ष्य समाज के सबसे कम अनुकूल परिस्थिति वाले सदस्य के लिए स्वतन्त्रता की योग्यता को अधिकतम सीमा तक बढ़ाना है। यदि आवश्यक हो तो यह संपन्न तथा संपत्तिविहीन नागरिकों में पुनर्वितरण करके किया जा सकता है। रॉल्स का न्याय का सिद्धान्त अमरीकी अर्थ में उदारवाद अथवा यूरोपीय अर्थ में समाजवादी प्रजातन्त्र (सोशल डेमोक्रेसी) का सबल समर्थन है।

कल्याणकारी राज्य के प्रजातान्त्रिक आलोचकों ने समानता के एक अन्य आयाम पर बल दिया है। उनके अनुसार अपने समाज के शासन में राजनीतिक रूप से समान नागरिक के रूप में भाग लेने का नागरिकों को सुअवसर मिलना चाहिए। कल्याणकारी

राज्य की प्रजातान्त्रिक आलोचना का राजनीतिक से आर्थिक क्षेत्र में विस्तार समाजवादी समानता के समर्थक करते हैं। उनके विचार में जिस प्रकार कुछ सरकारी अधिकारियों के पास सभी नागरिकों के राजनीतिक भाग्य के बारे में निर्णय लेने का अधिकार नहीं होना चाहिए उसी प्रकार केवल कुछ सम्पत्ति के स्वामियों के पास सभी मजदूरों के आर्थिक भाग्य का फैसला करने की शक्ति नहीं होनी चाहिए। समाजवादी समानता के विचारक मौजूदा असमानताओं की कटु आलोचना करते हैं। उद्योगों का निजी स्वामित्व समाजवादी समानता की अवहेलना करता है क्योंकि यह कुछ लोगों को अन्य अनेक लोगों के जीवन पर अत्यधिक अंकुश लगाने की अनुमति देता है। समाजवादी समानता के समर्थक पूंजीवाद की घोर आलोचना करते हैं क्योंकि यह न केवल सम्पत्ति के वितरण बल्कि मानवीय सृजनशीलता की संतुष्टि में असमानताओं का निर्माण करता है। ये लोग उत्पादक श्रम पर शक्ति के अत्यधिक समान वितरण के साधन के रूप में औद्योगिक प्रजातन्त्र का समर्थन करते हैं।

एक अत्यधिक सामान्य समतावादी अवधारणा के रूप में लिंग की समानता और प्रजातीय समानता की मांग की जाती है। उदाहरणार्थ अमरीका में नागरिक अधिकार आंदोलन के समर्थकों ने एक तरफ मानवीय समानता में विश्वास रखने तथा दूसरी तरफ कालों को मत देने के अधिकार अथवा गोरों की तरह उसी सार्वजनिक आवास के प्रयोग से वंचित करने के मिथ्याचार की आलोचना की। सभी समतावादी विभेद की आलोचना करते हैं। विभेद को दूर करने के लिए जो उपाय प्रस्तुत किये जाते हैं उनमें पूर्व में सताये हुए वर्गों के सदस्यों के पक्ष में तरजीही बरताव अथवा प्रतिलोम विभेद (रिवर्स डिस्क्रिमिनेशन) सम्मिलित है। प्रतिलोम विभेद को रचनात्मक (पाजिटिव) विभेद भी कहा जाता है। इसका उद्देश्य समूह के सभी सदस्यों का हित हो सकता है जैसे— काले लोग अथवा स्त्रियां अथवा इसका लक्ष्य पूर्व के विभेद के सताये हुए व्यक्ति से सबंधित हो सकता है। कभी-कभी सताये हुए समूह के समानुपातिक प्रतिनिधित्व के सिद्धांत के आधार पर इस विभेद का समर्थन किया जाता है—आय, शक्ति तथा प्रतिष्ठा का समाज के विभिन्न समूहों में उनके आकार के अनुपात में वितरित किया जाना चाहिए। प्रतिलोम विभेद के औचित्य का दावा उपयोगिता अथवा सामाजिक समन्वय अथवा और अधिक समान सुअवसरों का सृजन अथवा अतीत के अन्यायों के प्रतिकार के आधार पर किया जाता है। आलोचकों ने प्रतिलोम विभेद की अनेक आधारों पर आलोचना की है।

संयुक्त राज्य अमरीका में अतीत के विभेद को दूर करने के लक्ष्य से कुछ कार्यक्रम सकारात्मक कार्यवाही के नाम से चलाये जा रहे हैं। इनमें से कुछ के लिए, विभेद की जांच के परिणामस्वरूप न्यायालयों ने आदेश दिया है तथा कुछ स्वेच्छा से आरंभ किये गये हैं। शेष अन्य कार्यपालिका के आदेश से चल रहे हैं। इनमें से कुछ तरजीही अथवा प्रतिलोम विभेद को शामिल करते हैं। जबकि अन्य समानता के दूसरे सिद्धांतों पर आधारित है।[3] भारत में भी निम्न वर्गों के प्रति सदियों से चले आ रहे अन्याय को दूर करने के लिए अनेक वैधानिक उपाय किये गये हैं।

भारत मे दलित वर्ग

जब आर्य लोग सबसे पहले भारत मे आये उस समय उनमे वर्ण चेतना नही थी। व्यवसाय पैतृक नही थे। सामाजिक तथा आर्थिक संगठन की सुविधा के लिए आर्य लोग तीन सामाजिक वर्गो में विभाजित थे—योद्धा अथवा कुलीन वर्ग, पुरोहित एव सर्वसाधारण। वर्ण का आरम्भ आर्यो तथा दासो के अलगाव के साथ आरम्भ हुआ जब आर्यो ने अपनी शुद्धता तथा श्रेष्ठता को बनाये रखने के लिए दासो को सामाजिक परिधि मे बहिष्कृत किया, उस समय अतर स्पष्ट करने के लिए रग पर बल दिया जाता था। दास श्याम (काले) रग के और भिन्न सस्कृति के थे। इस प्रकार प्रारम्भिक विभाजन आर्यो और अनार्यो के बीच था। आर्य 'द्विज' अर्थात् दो बार जन्म लेनेवाली जाति थी जिसमे क्षत्रिय (योद्धा तथा कुलीन) ब्राह्मण (पुरोहित) एव वैश्य (किसान) होते थे चौथे वर्ण शूद्रो में दास तथा ऐसे व्यक्ति होते थे *जिनका जन्म आर्यो और दासो के मिश्रण से* हुआ था।[4]

वर्ण व्यवस्था को प्रोत्साहन कार्यो के विशेषीकरण से भी मिला। ऋग्वेद का एक सूक्त वर्णो के सूत्रपात की एक काल्पनिक कथा प्रस्तुत करता है

> जब देवताओ ने मनुष्य को अपना शिकार बनाकर बलि दी।
> जब उन्होने मनुष्य का विभाजन किया तो उसको कितने भागो मे बाटा?
> उसके मुह उसकी भुजाओ उसकी जाघो और उसके पैरो को किस नाम से पुकारा गया?
> उसका मुख ब्राह्मण बना उसकी भुजाओ से क्षत्रिय बने
> उसकी जाघे वैश्य बनी और उसके पैरो से शूद्र का जन्म हुआ।[5]

यद्यपि आरम्भ मे सत्ता का स्वामी होने के कारण क्षत्रिय वर्ण समाज के शीर्ष विभाजन मे सर्वोपरि था किन्तु ब्राह्मणो ने यह सिद्धात दिया कि राजा को देवत्व प्राप्त करना अनिवार्य है तथा यह देवत्व उसे ब्राह्मण ही दिला सकता है। इस प्रकार ब्राह्मण वर्ग ने प्रथम स्थान प्राप्त कर लिया। वैदिक काल के बाद (ईसा पूर्व 600 से 300 ई०) वर्ण धर्म अथवा विभिन्न वर्णो के व्यवहार को अनुशासित करने वाली सहिता का सुपरिष्कृत किया गया। गोविंद सदाशिव घुर्ये के अनुसार

> "इस काल मे ब्राह्मण वर्ग बहुत अधिक सुसगठित हो जाता है जबकि ब्राह्मणो की बढ़ती हुई समृद्धि के विपरीत शूद्रो का पतन होता है। क्षत्रियो का पराभव पूर्णता पर पहुच जाता है और वैश्य यानी सामान्य जनता द्रुत गति से शूद्रो के निकट चली जाती है।
>
> *तीनो निम्नतर जातियो को ब्राह्मण के उपदेशानुसार जीवनयापन करने का* आदेश दिया गया जो उनके कर्तव्यो की घोषणा करेगा जबकि राजा को इस बात की प्रेरणा या प्रोत्साहन दिया गया है कि वह तदनुसार उनके आचरण का नियत्रित करे।[6]

यद्यपि सैद्धांतिक रूप से ब्राह्मण श्रेष्ठता प्राप्त किये हुए था किंतु वास्तविक श्रेष्ठता क्षत्रिय के पास थी। ए० एल० बाशम तथा यू० एन० घोषाल का यही दृष्टिकोण है—'जिस प्रकार राजा के गर्व के अवरोधक ब्राह्मण होते थे उसी प्रकार शक्तिसंपन्न राजा सदैव ब्राह्मणों के अभिमान का अवरोधक होता था। जनश्रुति है कि ऐसे अनेक ब्रह्मद्रोही राजा थे जिनकी अंत में दुर्गति हुई तथा परशुराम का आख्यान जिन्होंने अपवित्रता के कारण संपूर्ण क्षत्रिय श्रेणी का नाश कर दिया था बौद्ध काल में पूर्व दोनों श्रेणियों के मध्य भयंकर संघर्ष के संस्मरण से युक्त है। मौर्यकाल के उपरांत ब्राह्मणों की सैद्धांतिक स्थिति अधिकांश भारत में दृढ़ हो गयी थी परंतु वस्तुतः क्षत्रिय फिर भी उसके समान अथवा उससे श्रेष्ठ थे।[7]

घुर्ये का मानना है कि 'महावीर तथा बुद्ध के मौलिक उपदेशों में जाति के संबंध में स्पष्ट कथन चाहे जो हो इन धार्मिक आंदोलनों के प्रारंभिक साहित्य के गंभीर अध्येता को यह विश्वास हो जायेगा कि लेखकों का मुख्य सामाजिक उद्देश्य क्षत्रियों का प्रभुत्व दृढ़तापूर्वक जमाना था। कोई भी जैन तीर्थंकर क्षत्रिय के परिवार के अतिरिक्त अन्य किसी भी परिवार में नहीं उत्पन्न हुआ। बौद्ध साहित्य में चारों जातियों की गणना में प्रथम स्थान क्षत्रिय को दिया गया है और ब्राह्मण का नाम उसके पश्चात् आता है।[8]

भारत में धीरे-धीरे व्यवसायों के आधार पर अगणित जातियां बन गयी तथा इन्हीं जातियों पर वर्ण-व्यवस्था का आधार और स्थायित्व निर्भर था। अंततः हिंदू समाज के दैनंदिन कार्यों में वर्ण की अपेक्षा जाति को अधिक महत्ता प्राप्त हुई। क्योंकि समाज का कार्य जातियों के संबंधों और तालमेल पर निर्भर करता था जबकि 'वर्ण' एक ऊपरी सैद्धांतिक ढांचा ही बना रहा।

वास्तव में देखा जाये तो सामाजिक आवश्यकताओं और वैयक्तिक कर्मों के अनुसार लोगों को चार वर्णों में बांटा गया था। आरंभ में यह विभाजन सुकठोर नहीं समझा जाता था किंतु धीरे-धीरे ये वर्ण जन्म पर आधारित अनम्य समूहों में विभक्त हो गये। मनु के अनुसार ब्राह्मण का कर्तव्य अध्ययन तथा अध्यापन यज्ञ करना दान लेना तथा दान देना था क्षत्रिय का कर्तव्य जन-रक्षा यज्ञ करना तथा अध्ययन करना था। वैश्य भी यज्ञ तथा अध्ययन करता था परंतु उसका प्रमुख कर्तव्य पशुपालन कृषि, व्यापार तथा ऋण देना था। शूद्र का कर्तव्य केवल तीनों उच्चतर श्रेणियों की सेवा करना ही था। 'वर्ण धर्म' के अनुसार अपने कर्तव्य ही का पालन श्रेयस्कर था।

आर्यों के समाज में शूद्र द्वितीय श्रेणी का नागरिक था। उनके लिए पूर्ण आर्य संस्कृति के अंतर्गत प्रत्येक संस्कार का निषेध किया गया था तथा आर्य केवल द्विजों को माना जाता था, शूद्रों को आर्य नहीं समझा जाता था। हालांकि अर्थशास्त्र के रचयिता ने उन्हें भी आर्य कहा है। शूद्र में कुछ तो पवित्र अथवा अनिर्वासित होते थे तथा कुछ निर्वासित होते थे। निर्वासित शूद्र अछूतों की श्रेणी के थे जो समाज में पूर्णतः पृथक् समझे जाते थे। ब्राह्मण ग्रंथों के अनुसार शूद्र का मुख्य कर्तव्य अन्य तीन वर्गों की सेवा करना था। उसे अपने स्वामी के अवशिष्ट भोजन को ग्रहण करने, उतारे हुए वस्त्रों तथा उसकी पुरानी सामग्री का प्रयोग करना पड़ता था। यदि उसे संपन्न होने का अवसर प्राप्त भी हो

तो भी उनसे दूर रहने के नियम थे। उसके अधिकार बिलकुल नाममात्र के थे। जीवन के अधिकार तक के संबंध में शूद्र का वध करने वाले ब्राह्मण को उतना ही प्रायश्चित करना पड़ता था जितना कि एक बिल्ली अथवा कुत्ते के वध करने पर। उसे केवल महाकाव्यों एवं पुराणों के अध्ययन की अनुमति थी किंतु वेद-मंत्रों के श्रवण अथवा उच्चारण करने की आज्ञा नहीं थी।

शूद्रों से भी निम्न स्तर पर अछूत थे। कुछ लोग उन्हें पंचम नाम से पुकारते थे किंतु अधिकांश विद्वानों ने इस शब्द का प्रयोग अस्वीकार कर दिया क्योंकि यद्यपि आर्यों की सेवा वे अनेक गंदे तथा नीच कार्यों के रूप में करते थे फिर भी उनको आर्य जाति की परिधि से पूर्णतः बाहर समझा गया था। इन अछूतों में प्रमुख वर्ग चांडालों का था जिन्हें आर्यों के ग्राम या नगर में रहने की आज्ञा नहीं थी। उनका मुख्य कार्य मृत शरीरों को ले जाना तथा उनका दाह-संस्कार करना था तथा अपराधियों को फांसी देने के लिए जल्लाद के रूप में भी वे कार्य करते थे। नीति ग्रंथों के अनुसार चांडाल जिसका दाह-संस्कार करें उन्हीं के वस्त्रों को उन्हें धारण करना चाहिए, टूटे बर्तनों में भोजन करना चाहिए तथा केवल लौह-आभूषण धारण करना चाहिए। उच्च श्रेणी के व्यक्तियों के लिए उनसे किसी भी प्रकार के संबंध रखना वर्जित था। उनसे दूर के संबंध रखने पर भी दंडस्वरूप उन्हें अपनी धार्मिक पवित्रता की क्षति सहन करनी पड़ती थी तथा वे भी अछूत हो जाते थे। बाद में तो उनकी ऐसी स्थिति हो गयी थी कि उनको नगर में प्रवेश करने के समय लकड़ी का एक खटखटा बजाने के लिए बाध्य किया जाता था जिससे आर्यों को उनके आगमन की सूचना मिल जाए। अछूतों की दूसरी श्रेणी म्लेच्छ थी। म्लेच्छ शब्द का प्रयोग सामान्य रूप से बाह्य बर्बरों के लिए किया जाता था। निषाद, कैवर्त, करावर और पौलकस आदि की भी अछूतों की श्रेणियों में गणना होने लगी थी। वास्तव में रक्त के आधार पर नहीं वरन् आचरण के आधार पर अछूतों के दल का निर्माण हुआ था।

सामान्यतः व्यक्ति को अपना सामाजिक स्तर ऊंचा उठाने का अवसर नहीं था किंतु अनेक पीढ़ियों के पश्चात् जाति अथवा जनजातीय या अन्य समूहों द्वारा रूढ़िवादी प्रथाओं को अंगीकार करने, स्मृतियों के नियमों का पालन करने, विचारधारा और जीवन के ढंग को स्वीकार करने में यह संभव था। छठी से आठवीं सदी के बीच अनेक विदेशी लोग बाहर से आकर भारतीय वर्ण-व्यवस्था में घुल मिल गये तथा अनेक दूसरे लोग भी अपने सामाजिक स्तर को ऊंचा उठाने में सफल रहे। यह प्रक्रिया आज भी चल रही है। इसे एम० एन० श्रीनिवास संस्कृतीकरण[9] की संज्ञा देते हैं। जिसके तहत निम्न जाति के हिंदू द्विजों की श्रेणी में आने के लिए अपनी रूढ़ियां, धार्मिक कृत्य, विचारधारा और जीवन का ढंग परिवर्तित करके अभीप्सित वर्ग के तौर-तरीकों को अपना लेते हैं। इतिहासकार के० एम० पनिक्कर का मानना है कि पिछले दो हजार वर्षों में क्षत्रिय जैसी जाति नहीं रही है। नंद लोग अंतिम असली क्षत्रिय थे तथा वे ईसा पूर्व पांचवीं सदी में लुप्त हो गये। तब से लेकर आज तक सभी राज घराने गैर-क्षत्रिय जातियों में आये हैं।[10]

द्वितीय अध्याय मे हमने देखा कि किस प्रकार जाति और धर्म एक-दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं तथा इस जाति व्यवस्था को बनाये रखने मे कर्म सिद्धात का बहुत बड़ा योगदान है। हिंदू धर्म का एक अभिन्न अग कर्मवाद का सिद्धात था। कर्म के द्वारा ही अपर जन्म का दैवी मानवी पाशविक अथवा राक्षसी शरीर प्राप्त होता था और कोई पूर्व कर्म मनुष्य के चरित्र वैभव सामाजिक वर्ग सुख और दु ख के अधीन नहीं था। मनुष्य को कर्म करने की स्वतत्रता थी। पर वही मनुष्य अच्छे कर्म कर सकता था जो अपने धर्म को अच्छी तरह से जानता था। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था व्यक्ति मे आत्मोत्सर्ग की भावना जगाने उसे एक सगठन के अधीन लाने और बुराई को अकुश मे रखने मे काफी सहायक रही है। व्यक्ति अपने वर्ग मे रहकर अपने पूर्वजो के परम्परागत तौर-तरीको को सहजरूप से अपना लेता था। विदेशी राजनीतिक सत्ता के अतर्गत रहने वाले हिंदुओ ने अधिकाश रूप से अपने सास्कृतिक व्यक्तित्व को अपनी जाति के द्वारा सुरक्षित बनाये रखा। यह हिंदू धर्म का जीवित रखने मे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रही है। किंतु धीरे-धीरे धार्मिक रूढ़िया समाज को अपने शिकजे मे दबाती गयी। अस्पृश्य वर्ग के लोगो के प्रति अन्याय जुल्म और शोषण जोर पकडता गया। वे सवर्णों के लिए तालाबो कुओ, धर्मशालाओ आदि का उपयोग नही कर सकते थे। आराधना स्थलो तथा सार्वजनिक स्थानो मे तो उनके जाने का प्रश्न ही नही उठता था। कुछ स्थानो पर तो यहा तक कि वे ब्राह्मण बस्तियों की सडको तक को नही पार कर सकते थे। साथ मे बैठना बर्तन छूना तो दूर रहा परछाई तक पड जाने पर सवर्ण लोग अपवित्र हो जाते थे। अनेक जातियों को दलित होने का चिह्न लेकर चलना पडता था। कहीं-कहीं तो दलित जातियो का मकान किस तरह का होगा कैसा मसाला प्रयोग किया जायगा यह भी निर्धारित था। कुछ जातियो को तो छाता जूता या सोने के गहने पहनने गाय दुहने या देश की साधारण भाषा का भी उपयोग करने की अनुमति नहीं दी जाती थी। इस प्रकार विभेद और अस्पृश्यता का कोढ़ सामाजिक ढाचे को वीभत्स बनाता गया। यद्यपि इन अत्याचारो और अन्यायो के विरुद्ध समय-समय पर अनेक सतो एव महात्माओ ने आवाज उठायी तथा जात-पात और ऊच-नीच के भेदभाव का खडन किया। रामानद कबीर रामदास दादू तुकाराम नानक और चैतन्य आदि ने इन बुराइयो तथा अत्याचारो का घोर विरोध किया किंतु जाति प्रथा की जडे हिला नही सके बल्कि वे स्वय जाति प्रथा के शिकार हो गये जैसाकि बाशम ने लिखा है

> 'मध्यकालीन समानतावादी सुधारको जैसे बासव, रामानद तथा कबीर अपने अनुयायियो से जाति प्रथा के उन्मूलन का प्रयास किया परतु उनके सप्रदायो ने नवीन जातियो की विशेषता को शीघ्र ही ग्रहण कर लिया तथा कुछ दशाओ मे वे स्वय जातियो मे विभाजित हो गये थे। सिख अपने गुरुओ की स्पष्ट भावनाओ तथा जाति-वैमनस्य को नष्ट करने के प्रत्यक्ष विचार से ग्रहण किये हुए साम्प्रदायिक सहभोज के होते हुए भी, जाति भावना को नष्ट नहीं कर पाये। यहा तक कि समानता पर पूर्ण आस्था रखने वाले मुसलमानो ने भी जातीय दलो का निर्माण किया। मालाबार निवासी सीरिया के ईसाइयो ने अपने को वर्गो मे

विभाजित कर लिया जिन्होंने जाति का रूप ग्रहण किया। [11]

मनु द्वारा स्थापित ब्राह्मणों की वरिष्ठ विधिक-प्रस्थिति तथा अन्य विशेषाधिकारों को आधुनिक काल में भी कुछ मामलों में मान्यता दी गयी थी तथा उसे जारी रखा गया था। राजा को गौ-ब्राह्मण प्रतिपालक की पदवी दिया जाना समाज में *ब्राह्मणों के विशिष्ट स्थान का द्योतक है* ब्राह्मणों को प्रसन्न रखना राज्य का प्रथम कर्तव्य होता था। देश के किसी भाग में ब्राह्मण भूमिधरों की भूमि पर राजस्व निर्धारण अन्य वर्गों की अपेक्षा कम दर से लागू होता था। ब्राह्मण मृत्युदंड से मुक्त होते थे और जब उन्हें दुर्गों में बंदी बनाया जाता था तब भी अन्य वर्गों की अपेक्षा उनके साथ अधिक उदारतापूर्वक बर्ताव किया जाता था। फारबस का कथन है कि भारत के अधिकांश भागों की भांति त्रावनकोर के ब्राह्मणों ने अपने आपको यथा साध्य दंड से मुक्ति पाने में पूरी सावधानी प्रदर्शित की थी। कम-से-कम एक ही अपराध में अन्य जातियों की अपेक्षा उन्हें बहुत ही अल्पदंड दिया जाता था। बंगाल में भूमि पर कर-लगान की रकम उसको *भोगने वाले की जाति के अनुसार प्रायः परिवर्तित होती रहती थी।* [12]

ब्रिटिश शासन से पहले राजा (हिंदू या मुसलमान) जाति व्यवस्था की चोटी पर होता था। राज्य के अंतर्गत जातियों के दर्जे का निर्धारण अनंत राजा की सहमति से होता था तथा अपनी जाति पंचायत द्वारा किसी अपराध के लिए जाति बहिष्कृत व्यक्ति हमेशा राजा को अपील करने का अधिकार रखता था। राजा को सबूतों की जांच करके उस निर्णय को अनुमोदित करने या बदलने की शक्ति होती थी। मुगल शासनकाल में सभी जाति पंचायतों के ऊपर दिल्ली की कोर्ट हुआ करती थी। जाति के दर्जे संबंधी झगड़ों के निपटारे तथा किसी अपराध के लिए उचित दंड देने के लिए राजा विद्वान *ब्राह्मणों की सलाह लेता था। ब्राह्मण केवल विधानों की व्याख्या करते थे उन्हें लागू* कराने का कार्य राजा का होता था। इस प्रकार जाति संबंधी नियमों को लागू करने, सामाजिक श्रेणीबद्धता में उपजातियों की प्रोन्नति या पदावनति करने का कर्तव्य तथा अधिकार राजा के पास था।

यहां तक कि वर्तमान शताब्दी तक अनेक हिंदू राज्यों में राज्य द्वारा लगायी गयी *निर्योग्यताओं को अछूतों को सहन करना पड़ता था। त्रावणकोर में कुछ अछूत जाति के* सदस्यों को गुलाम माना जाता था तथा उनके साथ दूसरी तरह की संपत्ति के समान बर्ताव किया जा सकता था। 1855 में महाराजा ने एक घोषणा करके राज्य के अधीन समस्त दासों को आजाद किया तथा व्यक्तिगत रूप में दास रखने पर प्रतिबंध लगाया। मालाबार तथा पूर्वी सीमा के ताड़ी बनाने वाले इझवा तथा शनारों को छाता, जूता या *सोने के गहने पहनने, गाये दुहने या देश की साधारण भाषा* का भी उपयोग करने की अनुमति नहीं दी जाती थी। मालाबार में केवल ब्राह्मणों को वस्तुएं की शक्ल में बने हुए तख्तों पर बैठने का अधिकार था और यदि कोई अन्य जाति का सदस्य ऐसे आसन का उपयोग कर लेता, तो उसे मृत्यु दंड तक दिया जा सकता था। ब्राह्मणों के अतिरिक्त सभी जातियों के सदस्यों को कमर से ऊपर अपने शरीर को ढकने का स्पष्ट रूप से निषेध था।

स्त्रियों को कमर से ऊपर अपने शरीर को ढकने का भी सन् 1865 तक ऐसा ही कानून था कि यदि वे तिया या अन्य नीची जातियों की हों तो उन्हें अपने शरीर का ऊपरी भाग बिलकुल खुला रखने को विवश होना पड़ता था।[11] सन् 1911 तक जयपुर राज्य में अछूतों के लिए अलग अदालत हुआ करती थी तथा अपवित्र भंगी जाति के लोगों को अपनी पगड़ी में कौवे के पंख लगाने पड़ते थे। अदालत में नीची जाति के लोगों को अपने कागजात न्यायाधिपति को सीधे न देकर बल्कि किसी अन्य व्यक्ति के हाथ में देने पड़ते थे। अछूतों के बच्चे स्कूलों में सवर्णों के बच्चों के साथ नहीं बैठ सकते थे।

जाति और सुधार

भारत में जाति-पाँति, छुआछूत तथा कर्मकांड के विरोध में मध्यकालीन शक्तिशाली भक्ति आंदोलन का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। यह एक ऐसा आंदोलन रहा जिसका असर समूचे भारत पर पड़ा तथा जिसमें निम्न जाति के तथा गरीब लोग सभी शामिल हुए। भक्ति आंदोलन के नेता ने सभी धर्मों की समानता तथा ईश्वरत्व की एकता का उपदेश दिया, यह शिक्षा दी कि व्यक्ति का सम्मान उसके जन्म पर नहीं बल्कि उसके कार्य पर निर्भर करता है। उन्होंने अत्यधिक कर्मकांड, धार्मिक औपचारिकताओं तथा पुजारियों का आधिपत्य का विरोध किया तथा इस बात पर बल दिया कि केवल भक्ति तथा विश्वास ही सभी के लिए मुक्ति का साधन है। भक्ति आंदोलन के कारण कुछ निम्न जातियों के लोग भी जिनमें कई एक हरिजन भी सम्मिलित थे, धार्मिक नेता हुए। आंदोलन ने लिंग के आधार पर भेदभाव की अवहेलना की, आंदाल, अक्का महादेवी, मीरा आदि नारियों ने भक्तिमार्ग को अपनाया। भक्ति आंदोलन के नेता तथा महात्माओं ने छुआछूत, शास्त्र-सम्मत धर्म के बाह्याचार, जाति-पाँति और मत-सम्प्रदाय के भेदभाव के विरुद्ध घोर प्रहार किया तथा ब्रिटिश शासनकाल में समानता के पक्ष में किये जाने वाले अनेक सुधारों के लिए भूमिका तैयार की। इनकी विशेषता थी कि असभ्य, अनपढ़ तथा गंवार लोगों तक अपने विचारों को पहुँचाने के लिए संस्कृत भाषा के बजाय लोक-भाषा का व्यवहार किया जो विभिन्न प्रदेशों में स्थानीय भाषाओं के रूप में सामने आयी और समस्त देश में एक सार्वजनिक सधुक्कड़ी बानी के रूप में विकसित हुई।

सूफीमत के विकास तथा भक्ति आंदोलन की शिक्षाओं ने अनेक सुधारों के लिए सैद्धांतिक आधार तैयार किया था। ब्रिटिश शासनकाल में ईसाई धर्म तथा पश्चिमी सामाजिक मूल्यों से परम्परागत हिंदू धर्म का सामना हुआ। अनेक भारतीय पश्चिमी उदारवादी मूल्यों के सम्पर्क में आये, लाक, रूसो, माटेस्क्यू आदि विचारकों के विचारों को पढ़ा, फ्रांस की क्रांति, औद्योगिक तथा पश्चिम की वैज्ञानिक प्रगति के बारे में जानकारी हासिल की। स्वतन्त्रता तथा समानता की भावना से प्रेरित होकर अनेक समाज-सुधारकों ने हिंदू समाज में व्याप्त कुरीतियों, अंधविश्वासों तथा धार्मिक रूढ़ियों को जड़ से उखाड़ फेंकने का प्रयास किया। सुधारकों का मानना था कि सामाजिक अन्यायों के लिए धर्म उत्तरदायी नहीं था बल्कि आपत्तिजनक आचरण अपवृद्धि है जिनसे

हिंदू समाज को शुद्ध किया जाना आवश्यक है।[14] राजा राममोहन राय प्रथम आधुनिक भारतीय थे जिन्होंने हिंदू धर्म के नवोत्थान का श्रीगणेश किया। 1840 में बंबई में परमहंस सभा का गठन हुआ। इसने जाति को समाप्त करना अपना लक्ष्य बनाया किंतु कड़े विरोधों के कारण यह असफल रही। जाति के विरुद्ध एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण आंदोलन पूना के श्री ज्योतिराव फुले ने चलाया। उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखकर जाति का विरोध किया तथा उसे व्यवहार में लागू किया। उन्होंने दलित वर्ग के लोगों को शिक्षित करने पर बल दिया। 1848 में अब्राह्मण जातियों के लड़कों तथा लड़कियों के लिए प्राथमिक स्कूल स्थापित करके उन्होंने जाति व्यवस्था के विरोध का वातावरण बनाने की तरफ कदम बढ़ाया। 1851 में उन्होंने कट्टरता के प्रमुख केंद्र पूना में अस्पृश्यों के लिए एक प्राथमिक स्कूल खोला। 1873 में उन्होंने सत्यशोधक समाज नामक संस्था आरंभ किया। इस संस्था ने बिना जाति को ध्यान में रखे मनुष्य के वास्तविक महत्त्व पर बल दिया। फुले ने *अपने लेखों में यह माँग की कि समस्त स्थानीय निकायों, सेवाओं तथा संस्थाओं में हिंदुओं* के सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए। महात्मा फुले के आंदोलन को श्री रानाडे ने भी समर्थन दिया। हालाँकि अनेक ब्राह्मणों ने इस आंदोलन का विरोध किया था, साथ ही गैर-ब्राह्मणों में भी इसकी प्रगति धीमी रही। इस आंदोलन को कोल्हापुर के महाराज से बल मिला। उन्होंने इसका इतना जोरदार समर्थन किया कि श्री माण्टेग्यू *तथा श्री चेम्स फोर्ड को अपने भारतीय राजनीतिक सुधारों में इन माँगों को स्वीकार* करना पड़ा। केशव चंद्र सेन तथा उनके अनुयायियों ने स्त्रियों के उत्थान के लिए अनेक कदम उठाये। उन्होंने सभी धर्मों के समन्वय का प्रबल समर्थन किया तथा अंतर्जातीय विवाहों का समर्थन किया। स्वामी विवेकानंद का कहना था कि दुःखी, दरिद्र, असहाय लोगों की सेवा करना तथा उन्हें ऊपर उठाना ही ईश्वर-प्रेम का असली रूप है। वास्तव में यह दलित शोषित लोग ही भगवान हैं। उनका मानना था कि जाति-व्यवस्था ने एक समय बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी किंतु आज यह समाज में दुर्गंध ही फैला रही है। रानाडे के अनुसार, पृथक्ता और संकीर्णता का भाव, अंतरात्मा की आवाज के बजाय बाहरी शक्ति के सामने झुकना, जाति और परंपरा के आधार पर मनुष्यों में बनावटी भेद मानना और पाप और गलती पर निष्क्रिय भाव से पलकें मारना, लौकिक सुख-समृद्धि के विषय में उदासीन रहना और भाग्यवाद पर जमे रहना भारतीय समाज के पतन के कारण हैं। उन्होंने इन प्रवृत्तियों का डटकर विरोध किया। आर्य समाज ने भी जाति-पाँति के उन्मूलन, स्त्रियों के उत्थान और शिक्षण, बाल विवाह का निषेध, विधवा विवाह का प्रचार, दुःखी दरिद्रों की सहायता, जनतंत्र की पद्धति का विकास, मूर्तिपूजा का खंडन, पाखंडों तथा अंधविश्वासों का भंडाफोड़, पंडा पुरोहितों और महंतों की छीछालेदर आदि पर जोर दिया। उनके अनुसार समाज में श्रेष्ठता का मापदंड जाति न होकर बुद्धि तथा ज्ञान होना चाहिए।

बीसवीं सदी में जाति-पाँति के भेदभाव को समाप्त करने के प्रयासों में तेजी आयी। इसके पीछे दो तथ्य थे—(1) सामाजिक आदर्श (2) धर्म के संरक्षण की भावना। बीसवीं सदी में अनेक नेता मानवतावाद की भावना से प्रेरित होकर दलित जातियों के प्रति

अपने सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वाह करने के लिए सामने आये। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के मंच से इस सामाजिक बुराई की निंदा की गयी। साथ ही लोग हिंदू धर्म को छोड़कर इस्लाम या ईसाई धर्म न अपना लें इसलिए भी दलितों तथा अछूतों के प्रति सवर्णों का दृष्टिकोण बदला। छुआछूत को समाप्त करने का प्रयास किया गया।

'सत्य शोधक समाज' के विचारों से प्रभावित होकर स्वयम् मर्यादा अथवा आत्म-सम्मान के रूप में अब्राह्मण आंदोलन चला जिसका ई० वी० रामास्वामी नायकर ने 1925 में स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया। ब्राह्मणों ने शताब्दियों से दूसरे वर्गों का शोषण किया है परिणामत वे शिक्षा तथा नये रोजगार के अवसरों और राष्ट्रीय आंदोलन के नेतृत्व में काफी आगे बढ़ गये हैं। अगर दलित वर्ग नये सुअवसरों में हिस्सा पाता है तो उन्हें कुछ समय के लिए कुछ रियायतें तथा विशेषाधिकार दिया जाना आवश्यक है। इसके लिए ब्राह्मणों के प्रति विभेद करना आवश्यक है। जबकि यह विभेद शताब्दियों से अब्राह्मणों ने जो झेला है उसकी तुलना में नहीं के बराबर होगा। अर्थात् आज के ब्राह्मण अपने पूर्वजों के कृत्यों के प्रतिफल का भोग करें। इस प्रकार सामाजिक न्याय का सिद्धांत अब्राह्मणों के पक्ष में तरजीही बर्ताव के रूप में दिया गया। इस नीति का अनुसरण 1920 के दशक में मद्रास प्रांत में किया तथा तीस तथा चालीस के दशक में यह नीति चरम सीमा पर थी।

डॉ० अम्बेडकर ने इस बात पर बल दिया कि जाति वेद तथा शास्त्रों पर आधारित है तथा हिंदू धर्म का एक अभिन्न अंग है इसलिए जाति त्यागने का अभिप्राय हिंदू धर्म के मूल तत्त्व को त्यागना है। उनका मानना था कि दलितों को वह धर्म स्वीकार करना चाहिए जो उनके साथ समानता का व्यवहार करे। अत समाज सुधारकों ने दो बातों पर बल दिया। प्रथमत उन लोगों ने परंपरागत जाति की अवधारणा पर प्रहार करके उसमें समानता की भावना का समावेश करने का प्रयास किया। अनेक समाज सुधारक तथा कांग्रेसी नेता अनेक दलितों की बस्तियों में गये। उनके हाथों से जल ग्रहण किया तथा उसे पिया। उनकी बस्तियों की सफाई की। अछूत बच्चों को गोद में उठाया। अछूतों के लिए निषिद्ध मार्गों में उनका प्रवेश करवाया। निजी मंदिरों के अनेक स्वामियों ने व्यक्तिगत रूप से अपने प्रबंध में चल रहे मंदिरों में सभी वर्गों के लिए स्वतंत्रतापूर्वक प्रवेश करने की अनुमति प्रदान की। निश्चय ही अछूतों तथा दलितों के मसीहा महात्मा गांधी थे। हालांकि कट्टर हिंदुओं द्वारा इन सुधारों का विरोध किया गया किंतु गांधी जी के सुधार की आंधी ने इन विरोधों की जड़ें उखाड़ उन्हें धराशायी कर दिया। द्वितीयत धर्म की इस प्रकार व्याख्या की गयी ताकि परंपरागत जाति व्यवस्था से उसका दामन छूट सके। गांधी जी ने घोषणा की कि धर्म का जाति से कोई संबंध नहीं है बल्कि यह एक प्रथा है जिसकी उत्पत्ति अज्ञात है। अनेक लोगों ने हिंदू धर्म की नयी व्याख्या प्रस्तुत की। इसकी व्याख्या जाति के नियमों के रूप में न करके, स्वतंत्र व्यक्ति के सत्य तथा सदाचार की खोज में की गयी। यह कहा गया कि अगर प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा एक परम सत्य का अंश है तो फिर यह असमानता कैसी? इस प्रकार प्राचीन कालीन हिंदू तात्त्विक चिंतन के आधार पर समानता का सिद्धांत प्रतिपादित किया गया।

ब्रिटिश शासन द्वारा सुधार

मुगलकाल मे यह मान्य सिद्धात था कि धर्मनिरपेक्ष सत्ता जाति के मामलो मे अतिम निर्णायक है। ब्रिटिश शासन द्वारा भी आरभ मे जाति के सबध मे मुगल शासन जैसी नीति ही अपनायी गयी। यदि कोई व्यक्ति अपनी जाति खो बैठता था तो बिना सरकार की अनुमति के जाति मे वापस नही आ सकता था। कलकत्ता मे सरकार ने कुछ समय तक जाति-कचहरी (पचायत) को जारी रखा। इस कचहरी के पास जाति सबधी विवादो के काफी व्यापक क्षेत्राधिकार थे। हालाकि थोडे समय बाद कचहरी को समाप्त कर दिया गया, तत्पश्चात् दीवानी अदालतो द्वारा हिंदू विधि के मामलो मे निर्णय दिये जाने को छोडकर, ब्रिटिश सरकार ने जाति सबधी मामलो मे हस्तक्षेप करना बद कर दिया। किंतु ब्रिटिश विधिक व्यवस्था ने परपरागत जाति व्यवस्था की कार्य विधि को अत्यधिक प्रभावित किया।

ब्रिटिश न्यायालयो की स्थापना ने जाति व्यवस्था मे क्रातिकारी परिवर्तन का श्रीगणेश किया। इन न्यायालयो ने एक-से फौजदारी कानून को लागू करना आरभ कर दिया। अनेक मामले, जो पहले जाति के अतर्गत निपटाये जाते थे अब वे न्यायालयो द्वारा निपटाये जाने लगे। ज्यो ज्यो प्रहार, व्यभिचार, बलात्कार तथा ऐसे ही अन्य अपराध के मामले ब्रिटिश न्यायालयो मे ले जाये जाने लगे त्यो-त्यो जाति जाति पचायतो का महत्त्व कम होता चला गया। न्यायालयो ने समानता के सिद्धात को लागू किया। अपराध की गभीरता जाति पर निर्भर नही करती थी। दीवानी कानून मे विवाह, तलाक, उत्तराधिकार, विरासत आदि जैसे मामलो मे यद्यपि ब्रिटिश लोगो ने जाति के रीति-रिवाजो के मार्गदर्शन मे कार्य करने की नीति अपनायी, किंतु शनै शनै निश्चित रूप से उच्च न्यायालयो ने ऐसे अनेक निर्णय दिये, जिन्होने व्यवहारत जाति की सत्ता को हटा दिया।[15] धीरे-धीरे अब्राह्मण जातियो मे इतना आत्मविश्वास विकसित हुआ कि पुरोहित के रूप मे कार्य करने के ब्राह्मण के वश परपरागत तथा सनातन अधिकार को अनेक स्थानो पर चुनौती दी गयी। बबई उच्च न्यायालय ने भी अपने निर्णयो मे मत व्यक्त किया था कि गैर-ब्राह्मण जिस किसी व्यक्ति को चाहे उसे पुरोहित के कार्य के लिए नियुक्त कर सकते थे तथा वे वश-परपरागत पुरोहित की सेवाए लेने के लिए बाध्य नही थे।

सन् 1850 के जाति असमर्थता निवारण अधिनियम ने जाति व्यवस्था पर एक अन्य घोर प्रहार किया। यह अधिनियम अन्य धर्म मे परिवर्तन या अन्य जातियो मे प्रवेश की सुविधा प्रदान करता है। इसके अनुसार कोई भी व्यक्ति जाति या धर्म त्याग पर भी अपना असाधारण सपत्ति सबधी अधिकार नही खोता है। विशेष विवाह अधिनियम 1872 ने यह व्यवस्था की कि एक व्यक्ति किसी दूसरे धर्म या जाति के व्यक्ति के साथ विवाह कर सकता है यदि विवाह के दोनो पक्षो ने अपने विवाह के करारनामे की इस घोषणा के साथ रजिस्ट्री करवा ली हो कि वे किसी धर्म को नही मानते। इसमे धर्म त्यागने की शर्त एक नैतिक द्विविधा के रूप मे मानी जाती थी। इसलिए इसके सुधार के

आदोलन चलते रहे । 1923 के सशोधन अधिनियम ने इस शर्त को समाप्त तो कर दिया किंतु इसके साथ ही कुछ कठिनाइया और जुड गयी क्योकि विवाह के दोनो पक्षो को हिंदू विधि के अधीन दत्तक ग्रहण तथा उत्तराधिकार के कुछ अधिकारो से वंचित होना पडता था । बिना दड के अतर्जातीय विवाह स्वतत्रता प्राप्ति के बाद ही सभव हो पाया ।

19वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे ब्रिटिश सरकार का ध्यान अछूतो की असमर्थताओ को दूर करके समानता के स्तर पर लाने के लिए केंद्रित था । 1858 मे एक प्रेस विज्ञप्ति मे यह घोषणा की गयी

> यद्यपि सपरिषद् राज्यपाल का इरादा नीची जाति के विद्यार्थियो को उन स्कूलो मे प्रवेश की अनुमति देने का नही है, जिनके व्यय मे सरकार के साथ स्थानीय दातागण तथा सरक्षक भी भाग लेते है जो इस कार्य के विरुद्ध आपत्ति उठाते हैं । तथापि वे अपने पास इस अधिकार को पूर्ण रूप से सुरक्षित रखते हैं कि वे ऐसी आशिक सहायता प्राप्त स्कूल को सरकारी सहायता से वंचित कर सकेंगे, जिनमे शिक्षा के लाभ किसी भी वर्ग से व्यक्तियो से उनकी जाति या प्रजाति के कारण छीन लिये गये हैं और साथ ही वे यह भी प्रस्ताव स्वीकार करते हैं कि पूर्ण रूप से सरकारी व्यय से चलने वाला स्कूलो मे प्रवेश प्रजा के सभी वर्गों के लिए बिना किसी भेदभाव के खुला रहेगा ।[16]

समाज सुधार की अनेक कोशिशो के बावजूद दलित वर्ग के लडको को प्राय विद्यालय के कमरे मे प्रविष्ट नही होने दिया जाता था बल्कि उन्हे स्कूल के कमरे के बाहर बरामदे मे बिठाया जाता था । इसलिए 1923 मे सरकार ने यह तय किया कि किसी भी ऐसी सहायता प्राप्त शिक्षण सस्था को अनुदान नही दिया जायेगा जो दलित वर्गों के बालको को प्रवेश नही देते हैं । किन्तु ये नियम तथा उपनियम अछूतो के विधिक अधिकारो को सरक्षण देने के लिए पर्याप्त नही थे शताब्दियों से चले आ रहे अन्याय शोषण तथा अत्याचार से इन्हे छुटकारा दिलाने के लिए कुछ अधिक प्रभावयुक्त कदम उठाया जाना अपेक्षित था । परिणामत 1878 मे बबई के सार्वजनिक शिक्षा निदेशक श्री चैटफील्ड ने इन जातियो के लडको को प्राथमिक विद्यालयो मे शुल्क आदि के सबध मे कुछ रियायतें प्रदान कीं । कुछ समय पश्चात् माध्यमिक विद्यालयों तथा महाविद्यालयो मे उनमे से कुछ जातियो के लडको के लिए छात्रवृत्तिया देना आरभ कर दिया । बबई सरकार के वित्त विभाग के 17 सितबर 1923 के प्रस्ताव ने स्पष्ट रूप से निम्नतर सेवाओ मे उन्नतिशील ब्राह्मण तथा अन्य वर्गों का प्रवेश तब तक के लिए निषिद्ध कर दिया जब तक कि मध्यवर्ती तथा पिछडे वर्गों के सदस्य एक निश्चित अनुपात तक स्थान नही प्राप्त कर लेते ।

1909 के 'मार्ले मिटो' सुधारो द्वारा भारत मे पृथक् प्रतिनिधित्व की व्यवस्था का सूत्रपात किया गया । इसके द्वारा न केवल मुसलमानो के लिए पृथक् स्थान सुरक्षित किये गये, वरन् उन्हे सामान्य निर्वाचन क्षेत्रो मे सभी के समान अधिकार दिये गये । 1919 मे अधिनियम द्वारा साप्रदायिक मताधिकार का विस्तार किया गया । लदन मे हो रहे

फिर भी ब्रिटिश नीति का प्रभाव यह रहा कि भारत मे आधुनिक राज्य के निर्माण की नींव पड़ी. जाति व्यवस्था की प्राचीन काल से चली आ रही परपरागत मान्यताओं पर कुठाराघात किया गया। जाति पचायतों को निष्क्रिय करके राज्य के क्षेत्राधिकार का विस्तार किया गया। विधि के समक्ष समता तथा समान नागरिकता के सिद्धांत को नये राज्य के विकास का आधार बनाया गया। निश्चय ही स्वतंत्रता के बाद के स्वतंत्रता, समानता तथा न्याय पर आधारित धर्मनिरपेक्ष प्रजातंत्र के लिए एक मजबूत आधार तैयार हुआ।

भारतीय सविधान मे समता के सिद्धांत का और विभेद के अभाव का समावेश

भारतीय सविधान के अनुच्छेद 14 में यह उपबंध है, 'राज्य भारत के राज्य क्षेत्र मे किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता से या विधियो के समान सरक्षण से वंचित नहीं करेगा।" इसमें यह विवक्षा की गयी है कि किसी भी व्यक्ति को कोई विशेष अधिकार नहीं होंगे और सभी वर्ग समान रूप से सामान्य विधि के अधीन होंगे। साथ ही यह भी विवक्षा है कि समान परिस्थितियों में समता का व्यवहार किया जायेगा। "समता के सिद्धांत का अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक विधि सभी व्यक्तियों को सार्वभौम रूप से लागू हो यद्यपि वे व्यक्ति प्रकृति, योग्यता या परिस्थिति के अनुसार एक ही स्थिति मे नहीं हैं। विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों की अलग-अलग आवश्यकताओं को देखते हुए बहुधा उनसे पृथक् व्यवहार करने की अपेक्षा होती है।'[17]

यह सिद्धांत राज्य से विधिसम्मत प्रयोजनों के लिए व्यक्तियों का वर्गीकरण करने की शक्तियां छीनता नहीं।

विधान मंडल को मानवी सबंधों की अनंत विविधता से उत्पन्न होने वाली विभिन्न समस्याओं से जूझना पड़ता है। उसे आवश्यकतानुसार यह शक्ति देनी पड़ती है कि वह विशेष उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विशेष विधि बनाये और इस प्रयोजन के लिए उसे व्यक्तियों के या अन्य ऐसी बातों के जिन पर ऐसी विधियों का प्रवर्तन होता है चयन या वर्गीकरण के लिए विस्तृत शक्तियां दी जाती हैं।[18]

वर्गीकरण युक्तियुक्त तभी होगा जब वह मनमाना, कृत्रिम या वाग्छलपूर्ण होने के बजाय तर्कसगत होगा। उसका आधार हमेशा किसी वास्तविक और सारवान् विभेद पर होना चाहिए तथा ऐसे विभेद का युक्तियुक्त और न्यायपूर्ण सबंध उस बात के साथ होना चाहिए जिसके लिए वर्गीकरण किया गया हो। वर्गीकरण वैधता की परख मे ठीक उतरे इसके लिए दो शर्तें पूरी होनी चाहिए, वे हैं

(1) वर्गीकरण सुबोध विभेद पर आधारित होना चाहिए जो एक समूह मे लाये गये लोगों का अन्य लोगों से भेद करे, और

(2) इस विभेद का अधिनियम के उद्देश्य से तर्कसगत सबंध होना चाहिए।[19]

इस प्रकार अनुच्छेद 14, राज्य द्वारा की गयी किसी भी कार्यवाही, किसी भी रूप मे मनमानेपन पर प्रहार करता है। अनुच्छेद विभेद की मनाही नहीं करता वह केवल कुटिल विभेद की मनाही करता है वर्गीकरण की मनाही नहीं करता प्रतिकूल वर्गीकरण की मनाही करता है।

जैसाकि हमने पिछले अध्यायो में देखा है भारत मे स्वतत्रता से पूर्व धर्म, मूलवश जाति, लिंग आदि के आधार पर विभेद किया जाता था किंतु सविधान का अनुच्छेद 15 (1) राज्य द्वारा केवल धर्म मूलवश जाति लिंग या जन्म स्थान के आधार पर विभेद का प्रतिषेध करता है अर्थात् राज्य किसी जाति या धर्म के व्यक्तियो के साथ इस आधार पर पक्षपात नही करेगा कि वह किसी विशेष धर्म या जाति का है। यहा 'केवल' शब्द का अभिप्राय है कि यदि विभेदकारी व्यवहार के लिए इस अनुच्छेद द्वारा प्रतिषिद्ध आधार के अतिरिक्त कोई अन्य आधार या कारण है तो विभेद असवैधानिक नहीं होगा। अनुच्छेद 15 (2) में यह उपबध है कि जहा तक सामाजिक मनोरजन के स्थान का सबध है किसी नागरिक के साथ केवल धर्म मूलवश जाति, लिंग जन्मस्थान या इनमे से किसी के आधार पर कोई विभेद नही होगा चाहे ऐसा विभेद राज्य के किसी कार्य का परिणाम हो या किसी अन्य व्यक्ति के। प्राइवेट व्यक्तियो के स्वामित्वाधीन कुए, तालाब स्नानघाट सडके और सार्वजनिक समागम के स्थान इस प्रतिषेध के अधीन हैं बशर्ते कि वे पूर्णत या भागत राज्य निधि से पोषित हो या साधारण जनता के प्रयोग के लिए हो।

अनुच्छेद 15 मे दिये गये विभेद के प्रतिषेध के आश्वासन के उपसिद्धात के रूप मे सविधान ने लोक नियोजन के विषय मे अवसर की समता की प्रत्याभूति दी है। अनुच्छेद 16 (2) के अनुसार, "कोई नागरिक केवल धर्म मूलवश जाति, लिंग उद्भव जन्म स्थान निवास या इनमे से किसी के आधार पर राज्य के अधीन किसी नियोजन या पद के सबध मे अपात्र नहीं होगा या उससे विभेद नही किया जायेगा।" इस प्रकार के विभेद का प्रतिषेध प्रारभिक नियुक्ति के विषय मे भी है और प्रोन्नति तथा सेवा के पर्यवसान के विषय मे भी।

भारतीय समाज मे कुछ वर्ग अतीत के अत्याचार के शिकार रहे हैं उनके साथ अनेक तरह के जुल्म और शोषण किये जाते रहे हैं। उनके लिए आत्मसम्मान तथा सामाजिक प्रतिष्ठा दिवा-स्वप्न बनकर रह गये थे। उनकी असमानता को दूर कर राष्ट्र की मुख्य धारा के साथ जोडने के लक्ष्य से सविधान मे विशेष उपबध किये गये। अनुच्छेद 15 (2) के द्वारा विभेद को समाप्त किया गया। अनुसूचित जातियो, अनुसूचित जनजातियो और अन्य दुर्बल वर्गों के शिक्षा और अर्थसबधी हितो की अभिवृद्धि के लिए अनुच्छेद 46 में व्यवस्था की गयी, 'राज्य जनता के दुर्बल वर्गों के विशिष्टतया अनुसूचित जातियो और अनुसूचित जनजातियो के शिक्षा और अर्थसबधी हितों की विशेष सावधानी से अभिवृद्धि करेगा और सामाजिक अन्याय और सभी प्रकार के शोषण से उनकी सरक्षा करेगा।" लोकसभा तथा राज्यो की विधान सभाओं में अनुसूचित जातियो और अनुसूचित जनजातियो के लिए स्थानो के आरक्षण की व्यवस्था की गयी।[20] सेवाओ और पदो के लिए अनुसूचित जातियो और अनुसूचित जनजातियो के दावे को

ध्यान मे रखने की व्यवस्था की गयी ।[21] अनुसूचित जातियो अनुसूचित जनजातियो आदि के लिए विशेष अधिकारी का उपबंध किया गया । [22] पिछडे वर्गों की दशाओ के अन्वेषण के लिए आयोग की नियुक्ति की भी व्यवस्था की गयी । [23] इस प्रकार संविधान मे दलित तथा पिछडे वर्गों के लिए विशेष सरक्षण की व्यवस्था की गयी ।

संविधान मे अस्पृश्यता के अंत का उपबंध किया गया । अनुच्छेद 17 के अनुसार 'अस्पृश्यता' का अंत किया जाता है और उसका किसी भी रूप मे आचरण निषिद्ध किया जाता है। अस्पृश्यता' से उपजी किसी निर्योग्यता को लागू करना अपराध होगा जो विधि के अनुसार दडनीय होगा । अनुच्छेद 35 द्वारा संसद को यह प्राधिकार दिया गया है कि वह विधि द्वारा इस अपराध के लिए दड विहित करे । संसद ने 1955 मे अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम पारित किया । अस्पृश्यता निवारण विधेयक को लोकसभा मे प्रस्तुत करते हुए 27 अप्रैल, 1955 को प० गोविंद वल्लभ पंत ने कहा, ' अस्पृश्यता का यह रोग हमारे समाज की रगो के अदर तक समा गया है । यह केवल हमारे धर्म पर ही कलक नही है अपितु इससे असहनशीलता, जातिवाद तथा विघटनात्मक प्रवृत्तियो को भी बढावा मिलता है । हमारे समाज की अधिकांश बुराइयो का मूल इस निंदनीय कुरीति मे है । यह एक विचित्र बात है कि हिंदू धर्म जो अपने उदात्त दर्शन के लिए विख्यात है, जो एक तुच्छ चीटी के प्रति भी उदारता दिखलाता है वह मानवता के प्रति ऐसे असाम्य अपराध का दोषी है । संशोधन और पुन नामकरण होकर अब यह (1976) मे सिविल अधिकार सरक्षण अधिनियम 1955 हो गया है । इस अधिनियम मे अस्पृश्यता के आधार पर किये जाने वाले कार्यों को अपराध माना गया है और उसके लिए दड विहित किया गया है । जैसे

(क) किसी व्यक्ति को किसी सामाजिक संस्था मे जैसे— अस्पताल औषधालय, शिक्षा संस्था मे प्रवेश न देना ।

(ख) किसी व्यक्ति को सार्वजनिक उपासना के किसी स्थल मे उपासना या प्रार्थना करने से निवारित करना ।

(ग) किसी दुकान, सार्वजनिक रेस्तरा, होटल या सार्वजनिक मनोरंजन के किसी स्थान पर पहुचने के बारे मे कोई निर्योग्यता अधिरोपित करना या किसी जलाशय, नल या जल के अन्य स्रोत मार्ग, श्मशान या अन्य स्थान के सबंध मे जहा सार्वजनिक रूप से सेवाए प्रदान की जाती हैं, पहुच के बारे मे कोई निर्योग्यता अधिरोपित करना ।

इस अधिनियम के प्रविषय को 1976 मे बढाकर अस्पृश्यता के अपराध के अतर्गत निम्नलिखित भी रख दिये गये हैं

1 अनुसूचित जाति के किसी सदस्य का अस्पृश्यता के आधार पर अपमान करना ।
2. प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अस्पृश्यता का उपदेश देना ।
3 इतिहास-दर्शन या धर्म के आधार पर या जाति व्यवस्था की परपरा के आधार पर अस्पृश्यता को न्यायोचित ठहराना ।

पश्चात्वर्ती दोषसिद्धि के लिए दंड एक से दो वर्ष तक का कारावास हो सकेगा। अस्पृश्यता के अपराध के लिए दोषसिद्ध व्यक्ति संघ या राज्य विधान मंडल के लिए निर्वाचन के लिए निरर्हित होगा। यदि अनुसूचित जाति का कोई सदस्य किसी निर्योग्यता या विभेद का शिकार होता है तो न्यायालय जब तक प्रतिकूल साबित न किया जाये तब तक यह उपधारणा करेगा कि ऐसा कार्य अस्पृश्यता के आधार पर किया गया है। 1976 में इंदिरा गांधी की सरकार ने बंधित श्रम पद्धति (उन्मूलन) अधिनियम पारित करके दलित वर्गों के बंधुआ मजदूर के रूप में शोषण का समापन कर दिया।

गत वर्ष संसद ने अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम 1989 पारित करके इन जातियों को संरक्षण देने की दिशा में बहुत ही महत्वपूर्ण कदम उठाया। इसमें अपराधों की एक पूरी नयी श्रेणी का सुस्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है तथा इसके लिए कड़े दंड तथा विशेष न्यायालयों की व्यवस्था की गयी है। अधिनियम सभी राज्यों को अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के प्रति किये जाने वाले अत्याचार को निवारित करने के लिए निश्चित कदम उठाने का दायित्व सौंपता है ताकि अनुसूचित जातियों में सुरक्षा की भावना पैदा हो सके। अधिनियम में लगभग 24 नये अपराधों को निश्चित किया गया है तथा इनके लिए अनेक प्रकार के दंड की व्यवस्था की गयी है।

इन विधायी कदमों के अतिरिक्त केंद्र तथा राज्य सरकारों द्वारा अनेक शैक्षणिक कार्यक्रम चलाये गये। जैसे हरिजन दिवस, हरिजन सप्ताह आदि मनाकर अस्पृश्यता की समस्या की तरफ जनता का ध्यान आकर्षित किया गया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपना लक्ष्य समाजवादी ढंग का समाज बनाया जिसमें जातिविहीन तथा वर्गविहीन समाज की प्राप्ति पर बल दिया गया। इन जातियों को शैक्षिक तथा आर्थिक रूप से सबल बनाने के लिए सरकारों ने अनेक कार्यक्रम बनाये। राज्यों ने हरिजन कल्याण विभागों की स्थापना की जिनका उद्देश्य इन जातियों को अनेक कार्यक्रमों द्वारा अपने पैरों पर खड़े होने योग्य बनाना है। बंजर जमीन पर मुफ्त अधिकार देना, सिंचाई सुविधाएं, आवासीय सुविधाएं, कुओं, सफाई तथा स्वच्छता के समाधान, ऋण की सुविधाएं आदि के संबंध में अनेक कार्यक्रम बनाये जा रहे हैं। अनुसूचित जातियों और जनजातियों के बच्चों को मुफ्त शिक्षा, छात्रवृत्तियां, आर्थिक सहायताएं, पुस्तकें, लेखन सामग्री, कहीं-कहीं पहनने के कपड़े तथा भोजन और छात्रावास आदि शिक्षा सुविधाओं के रूप में प्रदान की जाती हैं।

आरक्षण की सुविधाएं

दलित वर्ग के प्रति सदियों से किये जा रहे जुल्म, शोषण तथा अत्याचार की क्षतिपूर्ति के रूप में संविधान में इस वर्ग के लिए सरक्षी विभेद की व्यवस्था की गयी। इनकी सामाजिक तथा आर्थिक हीनता को दूर करने के लिए शिक्षा संस्थाओं में और राज्याधीन नौकरियों या पदों के संबंध में इन्हें विशेष संरक्षण प्रदान किया गया। संविधान के प्रवर्तन

के पश्चात् तुरंत एक महत्त्वपूर्ण मामला उच्चतम न्यायालय के समक्ष आया। मद्रास राज्य ने अपने कोष से चलाये जाने वाले मेडिकल कॉलेजों तथा अन्य शिक्षा संस्थाओं में विभिन्न धर्मों और जातियों के लोगों के लिए इस प्रकार स्थान आरक्षित किये थे कि प्रत्येक चौदह स्थानों में से अब्राह्मण हिंदुओं को छः पिछड़े हिंदुओं अब्राह्मण और हरिजनों में से प्रत्येक को दो, आंग्ल-भारतीयों को तथा भारतीय ईसाइयों को मिलाकर एक तथा मुसलमानों को एक स्थान मिल सकता था। श्रीमती चपकम् का यह दावा था कि यदि इस प्रकार विभिन्न वर्गों के लिए स्थान सुरक्षित न किये जाकर सभी स्थान सभी अभ्यर्थियों को अर्हक परीक्षा में दर्शित योग्यता के आधार पर उपलब्ध होते तो उसे निश्चित ही विद्यालय में प्रवेश मिल सकता था परंतु उपरोक्त आरक्षणों के कारण जहां एक ओर उससे कम योग्यता वाले अभ्यर्थी अपनी जाति या धर्म के आधार पर प्रवेश प्राप्त कर सके थे वहां उसे केवल उसके ब्राह्मण होने के कारण ही प्रवेश वर्जित किया गया था। श्रीमती चपकम् के दावे के अनुसार प्रवेश की यह नीति उनके मूल अधिकारों का हनन करती थी। उच्चतम न्यायालय ने विभिन्न जातियों, धर्मों और मूलवंशों आदि के आधार पर किये गये विद्यालयों में प्रवेश पाने के इच्छुकों के वर्गीकरण को इस आधार पर शून्य घोषित कर दिया था कि न तो अनुच्छेद 29 (2) में और न ही अनुच्छेद 15 में आर्थिक या सामाजिक दृष्टि से पिछड़े हुए वर्गों के हित में किसी प्रकार के अपवाद का उल्लेख था। इस निर्णय के फलस्वरूप संविधान में प्रथम संशोधन करना पड़ा। प्रथम संशोधन विधेयक पर बहस के समय बोलते हुए प० जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि कभी-कभी मौलिक अधिकारों— जो स्थायी समझे जाते हैं तथा राज्य के नीति निर्देशक तत्त्वों, जो एक निश्चित उद्देश्य की तरफ गतिशील कदम को दर्शाते हैं— के बीच संघर्ष उत्पन्न होता है। अगर व्यक्ति की स्वतन्त्रता का संरक्षण करते हुए व्यक्ति अथवा समूह की असमानता को भी संरक्षित किया जाता है तो इससे उन राज्य की नीति निर्देशक तत्त्वों का विरोध होता है जो एक ऐसी अवस्था की तरफ बढ़ने पर बल देता है जहां कम-से-कम असमानता तथा अधिक-से-अधिक समानता हो। अगर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर बल देने का अभिप्राय वर्तमान असमानता को जारी रखने पर बल देना होता है तो निश्चय ही यह हमारे लिए मुसीबत खड़ी करता है। तो हम स्थायी अप्रगतिशील हो जाते हैं तथा समतावादी समाज के अपने उद्देश्य को असंभव बना देते हैं।[24]

प्रथम संशोधन अधिनियम 1951 के द्वारा संविधान में अनुच्छेद 15 (4) जोड़ दिया गया जिसमें यह उपबंधित है 'इस अनुच्छेद (अनुच्छेद 15) की या अनुच्छेद 29 (2) की किसी बात से राज्य को सामाजिक और शिक्षात्मक दृष्टि से पिछड़े हुए किन्हीं नागरिक वर्गों की उन्नति के लिए या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए कोई विशेष उपबंध करने में बाधा न होगी। इस प्रकार इस संशोधन ने पिछड़े हुए वर्गों के हित में शिक्षा संस्थाओं में स्थान आरक्षित करने को वैध बना दिया किंतु कुछ राज्यों ने इस नये खंड को मनमाने ढंग से कुटिल विभेद करने का अनुज्ञापन समझ लिया। अनेक सरकारों ने राजनीतिक जोड़-तोड़ के लिए शिक्षा संस्थाओं में अंधाधुंध आरक्षण करना आरंभ कर दिया। फलतः उच्चतम न्यायालय को हस्तक्षेप कर नियम निर्धारित करने पड़े।

मैसूर राज्य, मद्रास, आंध्र प्रदेश तथा मध्य प्रदेश आदि प्रांतो की सरकारो ने 50% से भी ज्यादा आरक्षण की सुविधा विभिन्न वर्गों के लिए कर दी। मैसूर राज्य ने इंजीनियरिंग और मेडिकल कॉलेजो मे प्रवेश के लिए 68% स्थान पिछड़े हुए वर्गों के लिए सुरक्षित कर दिये थे। इसमे कुछ जातियो को पिछडा हुआ वर्ग माना गया था। इसमे उन जातियो को सम्मिलित करने का निर्णय लिया गया था जिनका सामान्य औसत 6 9 प्रति हजार या उससे कम था। सामान्य औसत की परख का आधार उच्चतर माध्यमिक शिक्षा की अंतिम तीन कक्षाओ मे विद्यार्थियो का औसत था। जब कुछ प्रबल जातियां असन्तुष्ट हुईं तो 6 9 के अक को पूर्णांक बनाने के नाम पर 7 प्रति हजार कर दिया गया और इस पर भी जब काम न बना तो कुछ औरों को भी सम्मिलित करने के लिए 7। प्रति हजार का अक परख का आधार घोषित किया गया। इस प्रक्रिया को उच्चतम न्यायालय मे एम० आर० बाला जो बनाम मैसूर राज्य के मामले मे चुनौती दी गयी। उच्चतम न्यायालय ने किसी जाति के पिछड़े हुए वर्ग मे सम्मिलित किए जाने के लिए रखी गयी परख को अवैध घोषित करते हुए इस सबध मे कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त स्थापित किये। न्यायालय ने कहा कि अनुच्छेद 15 का खड (4) उन मूल अधिकारो के लिए अपवाद स्थापित करता है जो अनुच्छेद 15 (1) और 29 (2) मे प्रत्याभूत हैं, अत इस खड के अपवाद का जो भी निर्वचन किया जाये वह उन मूल अधिकारो को ध्यान मे रखकर ही किया जाना चाहिए ताकि उन्हे आवश्यकता से अधिक क्षति न हो। साथ ही अपवाद का ऐसा अयुक्तियुक्त निर्वचन भी नही किया जाना चाहिए जिससे सपूर्ण समाज के हितो को हानि पहुचती हो। इन बातो को ध्यान मे रखते हुए 68% स्थानो का आरक्षण करना स्पष्टतया अयुक्तियुक्त है। यह निर्धारित करना आवश्यक नही कि कितने प्रतिशत तक का आरक्षण अवैध नही होगा परतु इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 50% से अधिक का आरक्षण निश्चित रूप से अयुक्तियुक्त और अवैध है। न्यायालय ने मत व्यक्त किया कि जिस पिछड़ेपन का उल्लेख अनुच्छेद 17 के खड (4) मे है वह केवल शैक्षणिक पिछड़ापन ही नहीं है जिसका अनुमान विद्यालयो मे पढ रहे विद्यार्थियो की सख्या से लगाया जा सके बल्कि वह 'शैक्षणिक एव सामाजिक' पिछड़ापन है।

न्यायालय ने कहा कि सामाजिक पिछड़ेपन का अनुमान लगाने मे केवल जाति को ही एकमात्र आधार नही बनाया जा सकता। सविधान मे पिछड़े हुए वर्गों के लिए अपवाद का उपबध किया गया है, न कि पिछड़ी जातियो के लिए। फिर यदि केवल जाति को ही पिछड़ेपन का मानक बनाया जाये तो वह इसलिए भी कारगर सिद्ध नही होगा कि भारत के अनेक धर्मों मे जाति का कोई स्थान नही है अत उन धर्मों के अनुयायियो का पिछड़ापन नापने के लिए जाति का मापदड सगत नही होगा। परिणामत यह बात उभर है कि जाति भी अनेक मानको के साथ-साथ एक मानक का स्थान ले सकती है किंतु उसे अनन्य तथा एकमात्र मानक नही बनाया जा सकता।

न्यायालय ने एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह स्थापित किया कि यद्यपि पिछड़ेपन को नापने के लिए अनेक मानको का प्रयोग किया जा सकता है तथापि गरीबी को उसमे अवश्य और महत्त्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए।[21]

बालाजी के मामले में स्थापित सिद्धान्त का पश्चात् के अनेक मामलों में प्रयोग किया गया। **चित्रलेखा बनाम मैसूर राज्य**[26] के मामले में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि सामाजिक पिछड़ेपन को निर्धारित करने में यद्यपि जाति एक महत्त्वपूर्ण कारक है किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि अगर जाति को बिलकुल किनारे कर दिया जाये तो सामाजिक पिछड़ेपन का निर्धारण रद्द हो जायेगा। अन्य सुसंगत कारकों के आधार पर राज्य के लिए सामाजिक पिछड़ेपन को निर्धारित करना सम्भव है। अनुच्छेद 15 (4) एक स्वावलम्बी उपबंध है जो किसी अन्य उपबंध द्वारा नियन्त्रित नहीं है तथा यह जाति की चर्चा न करके केवल वर्ग की ही चर्चा करता है। **आन्ध्र प्रदेश राज्य बनाम पी० सागर**[27] के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि जाति के आधार पर किया गया आरक्षण प्रथम दृष्ट्या तो अवैध ही माना जायगा तथा यह बताने का भार राज्य पर होगा कि उसे वैध माना जाय तो किस आधार पर।

अप्राप्तवय पी० राजेन्द्रन बनाम मद्रास राज्य[28] के मामले में मेडिकल कालेजों में प्रवेश के लिए ज़िले के आधार पर स्थानों का वितरण अनुच्छेद 14 के आधार पर अवैध घोषित किया गया था। किंतु कुछ मामलों में युक्तियुक्तता के कारण भौगोलिक आधार पर स्थानों का वितरण या आरक्षण वैध घोषित किया गया है। **उत्तर प्रदेश राज्य बनाम प्रदीप टंडन**[29] के मामले में उच्चतम न्यायालय ने राज्य के सरकारी मेडिकल कॉलिजों में पर्वतीय प्रदेशों तथा उत्तराखण्ड के लिए उत्तर प्रदेश प्रशासन द्वारा किये गये आरक्षणों को वैध घोषित किया। न्यायालय ने यातायात की कमी, प्राकृतिक साधनों का उपयोग और विकास का प्रभाव, शिक्षा के प्रति उत्साह की क्षीणता आदि को आर्थिक पिछड़ेपन का आधारभूत लक्षण माना तथा आरक्षण को अनुच्छेद 15 (4) द्वारा संरक्षण पाने योग्य घोषित किया। परन्तु उसी निर्णय में ग्रामीण इलाकों के लिए किया गया आरक्षण असंवैधानिक और शून्य घोषित कर दिया गया क्योंकि ग्रामीण होने से सामाजिक या आर्थिक पिछड़ेपन का कोई संबंध नहीं है। **डी० एन० चंचला बनाम मैसूर राज्य**[30] के मामले में उच्चतम न्यायालय ने राजनीतिक कार्य के लिए नुकसान उठाने वालों के बच्चों के लिए किये जाने वाले आरक्षण को वैध घोषित किया।

उच्चतम न्यायालय ने **कुमारी के० एस० जयश्री बनाम केरल राज्य**[31] के मामले में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निर्णय दिया। केरल में प्रशासन ने मेडिकल कॉलिज में प्रवेश के लिए आरक्षित स्थानों के वितरण के लिए पिछड़ेपन के आधार के मानक के रूप में 'साधन-एवं-जाति / समुदाय' को रखा था; अर्थात् जो लोग पिछड़ी जातियों का होने के साथ-साथ दस हज़ार रुपये वार्षिक से कम आय के वर्ग में भी आते हों केवल उन्हीं को आरक्षित स्थानों के लिए सामाजिक तथा शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े हुए वर्ग का माना जायेगा। यह निर्णय सरकार ने इसलिए लिया था कि पिछड़े हुए वर्गों को दी जाने वाली सुविधाएं उन वर्गों के धनाढ्य और प्रभावशाली लोगों में वितरित होकर रह जाती हैं तथा उनमें भी जो वास्तव में गरीब और पिछड़े हुए वर्ग के लोग होते हैं उन तक कोई योजना या लाभ नहीं पहुंच पाता। अर्ज़ीदार के अभिभावक की आय दस हज़ार रुपये से ज़्यादा थी, अतः प्रशासन के मानक के अनुसार उस इझहावा जाति (जो पिछड़ी जातियों की सूची में उल्लिखित थी) की होने पर भी आरक्षित स्थान के लिए पात्रता प्राप्त नहीं

थी। उच्चतम न्यायालय ने राज्य द्वारा प्रस्थापित मानक को संविधान के अनुच्छेद 15(4) के अनुकूल और वैध बताते हुए मत व्यक्त किया कि अनुच्छेद 15(4) में पिछड़े हुए वर्गों तथा अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों का उल्लेख है, इसलिए पिछड़े हुए वर्गों का चुनाव इस आधार पर होना चाहिए कि पिछड़ेपन में वे अनुसूचित जातियां अनुसूचित जनजातियों की तुलना की हो। न्यायालय का एकमत निर्णय सुनाते हुए मुख्य न्यायाधिपति अजितनाथ रे ने कहा कि जिस प्रकार जाति एकमात्र निर्णयात्मक लक्षण नहीं हो सकती उसी प्रकार गरीबी को भी एकमात्र निर्णयात्मक लक्षण नहीं कहा जा सकता। पिछड़ी जाति के कारण जो सामाजिक हीनता की छाप लगी रहती है वह उन्हीं जातियों के धनाढ्य लोगों का पीछा नहीं करती क्योंकि उन्हें तो समाज में आदर से स्वीकार कर लिया जाता है। वह छाप अक्सर उन लोगों को ग्रस्त करती रहती है जो हीन माने जाने वाले रोजगार करते चले जाते हैं जिनसे आमदनी भी कम होती है। आजीविका, परपरागत निवास स्थान आदि बहुत से लक्षणों से सामाजिक और शैक्षणिक पिछड़ेपन का अनुमान लगाया जा सकता है। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि जाति और गरीबी दोनों ही पिछड़ेपन का अनुमान लगाने के लिए सुसगत तत्त्व हैं परतु न तो अकेली जाति ही और न ही अकेली गरीबी निर्णायक तत्त्व का स्थान ले सकती है।

न्यायालयों ने अनेक मामलों में आरक्षण को अयुक्तियुक्त होने की दशा में अवैध घोषित कर दिया है। छोटेलाल के मामले में इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने अनुच्छेद 15(4) के उद्देश्य के लिए पिछड़े वर्ग में अहीर और कुर्मी जैसी सपन्न जातियों को सम्मिलित किये जाने को अवैधानिक घोषित कर दिया।[32] कहकशाँ परवीन शहाबुद्दीन के मामले में पटना उच्च न्यायालय ने ऐसे 'युवक' और 'युवतियों' के लिए जो मार्च 1974 से मार्च 1977 के मध्य जयप्रकाश नारायण आदोलन के दौरान गिरफ्तार किये गये थे अथवा घायल हुए थे, बिहार के चारों मेडिकल कॉलिजों में, प्रत्येक में पाच सीट (जगह) के आरक्षण को अवैध घोषित किया[33] नरसिंह राव के मामले में आध्र प्रदेश उच्च न्यायालय ने कमजोर वर्ग और नौकरी वाले अभ्यर्थियों के लिए 93% आरक्षण को अवैधानिक माना।[34] जगदीश सरन के मामले में दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा अपने एम०बी०बी०एम० स्नातकों के लिए स्नातकोत्तर स्तर पर सख्या के अनुसार सत्तर प्रतिशत तक किये गये आरक्षण को उच्चतम न्यायालय ने अस्वीकार कर दिया।[35] निशी माधु के मामले में उच्चतम न्यायालय ने क्षेत्रीय असतुलन को दूर करने के लिए आरक्षण करने तथा 'मेडिकल कॉलेज स्टाफ' के वार्ड की श्रेणी से अभ्यर्थियों को चुनने को अवैधानिक घोषित कर दिया।[36] अमलेन्दु कुमार के मामले में पटना उच्च न्यायालय ने हरिजनों तथा पिछड़े वर्गों के लिए अर्हकारी अकों के प्रतिशत को घटाने को अस्वीकार कर दिया।[37]

इस प्रकार न्यायालयों ने अयुक्तियुक्त अतिशय या अधाधुध आरक्षण को स्वीकार नहीं किया। न्यायालयों ने यह ध्यान में रखा कि आरक्षण करते समय पिछड़े वर्गों के दावों तथा सामान्य जनता और दक्षता के दावों में सतुलन स्थापित किया गया है या नहीं।

राज्याधीन नौकरियों या पदों के सबध में अनुच्छेद 16(4) अत्यत महत्त्वपूर्ण है।

अनुच्छेद 16 (4) के अनुसार, "राज्य पिछडे हुए नागरिको के किसी वर्ग के पक्ष मे जिनका भारतीय राज्य की राय मे राज्य के अधीन सेवाओ मे पर्याप्त प्रतिनिधित्व नही है, पदो के आरक्षण के लिए उपबंध कर सकती है।' जहा अनुच्छेद 15 (4) में 'सामाजिक एव शैक्षणिक दृष्टि से पिछडे वर्गों, अनुसूचित जातियो और अनुसूचित जनजातियो' का उल्लेख है, वहा अनु० 16 (4) मे केवल 'नागरिको के पिछडे वर्गों' का उल्लेख है। अनुच्छेद 16 (4) मे 'पिछडे हुए वर्ग' की व्यापक कल्पना मे अनुसूचित जातियो और अनुसूचित जनजातियो को सम्मिलित माना गया है तथा इनके लिए भी नौकरियो मे तथा पदो का आरक्षण का अधिकार राज्य को उस खड के अधीन प्राप्त है।

रगाचारी के मामले मे यह दावा किया गया था कि अनुच्छेद 16 (4) केवल आरभिक नियुक्ति तक ही सीमित है। न्यायालय ने इस मामले में अभिनिर्धारित किया कि यह कहना ठीक नही है कि अनुच्छेद 16 (4) केवल प्रारभिक नियुक्ति तक सीमित है तथा वह प्रोन्नति द्वारा ऊपर के पद पर नियुक्ति के मामलो मे लागू नही होता है। अनुच्छेद 16 (4) सभी नियुक्तियों पर लागू होता है चाहे वे सिविल सेवा मे प्रथम प्रवेश के समय की नियुक्तिया हो चाहे उसके पश्चात् प्रोन्नति द्वारा अधिक ऊचे पदो की हो। न्यायालय ने कहा कि 16 (4) इस शर्त पर आरक्षण की अनुज्ञा देता है कि राज्य की राय मे उन जातियो को राज्याधीन सेवाओ में पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त नही है। अत आवश्यक नही कि जिस प्रतिनिधित्व का यहा उल्लेख किया गया है केवल परिमाण पर ही आधारित हो बल्कि वह गुण किसी किस्म पर भी आधारित हो सकता है अत राज्य की राय मे यदि उच्चतर पदो पर पिछडे हुए वर्गों के लोगो को पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त न हो तो राज्य इस कमी को पूरा करने के लिए भी 16 (4) के अधीन आरक्षण कर सकता है। किंतु साथ ही न्यायालय ने यह चेतावनी भी दी कि खड (4) का प्रयोग पिछडे हुए वर्गों को केवल पर्याप्त प्रतिनिधित्व देने भर के लिए ही किया जा सकता है तथा न्यायालय इसका प्रयोग एकाधिकार स्थापित करने के लिए अथवा अनुचित या अनधिकृत रूप से नागरिको के उस मूल अधिकार को विक्षुब्ध करने के लिए नही होने देगा जो कि इसी अनुच्छेद के खड (1) और (2) मे सुरक्षित किया गया है।[38]

भारत सरकार 'अग्रनयन' या 'कैरी फॉर्वर्ड' नियम के अनुसार प्रतिवर्ष की भर्ती मे अनुसूचित जातियो और जनजातियो के लिए साढे सत्रह प्रतिशत स्थान आरक्षित किये जाते थे परतु यदि किसी भी वर्ष मे इन जातियो के उतने स्थान नहीं भरे जा सके जितने इनके लिए आरक्षित थे तो शेष स्थानो को उस वर्ष तो अन्य लोगो से भर दिया जा सकता था, परतु इस प्रकार इन जातियो को जितने स्थानो की क्षति होती थी उन्हें अगले वर्ष की रिक्तताओ को भरते समय इनके पक्ष मे जोड दिया जाता था। उच्चतम न्यायालय ने एम० आर० बाला जी के मामले मे स्थापित किये गये इस मापदड के आधार पर कि आरक्षित स्थानो का अनुपात 50% से अधिक कभी नही होना चाहिए, टी० देवदासन बनाम भारत सघ[39] के मामले मे 'अग्रनयन' (कैरी फार्वर्ड) नियम को अनुच्छेद 16 (1) मे दिये गये मूल अधिकार से असगत और शून्य घोषित कर दिया। न्यायालय ने फिर इस मत की पुष्टि की कि खड (4) का उपबध खड (1) और (2) के उपबधो का अपवादस्वरूप है और अपवाद का ऐसा निर्वचन नहीं किया जाना चाहिए जिससे कि स्वय प्रधान उपबध

ही नष्ट हो जाये ।

केरल राज्य मे केरल स्टेट एड सबॉर्डिनेट सर्विसेज रूल्स 1958 के द्वारा निम्न श्रेणी लिपिकों मे से जो लोग प्रोन्नति पाकर ऊपरी श्रेणी के लिपिक बना दिये गये थे उनमे जो अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के सदस्य थे उन्हें एक विशेष सुविधा प्रदान की गयी थी । प्रोन्नत लिपिकों को प्रोन्नति प्राप्त करने के लिए एक परीक्षण पास करना पडता था जिसमें लेखा, पंजीकरण और कार्यालय प्रक्रिया सबधी ज्ञान परखा जाता था । किंतु अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के निम्न श्रेणी लिपिक को न केवल यह परीक्षण पास किये बिना ही अस्थायी रूप से, इस शर्त पर ऊपरी श्रेणी का लिपिक बना दिया जा सकता था कि वह दो वर्ष के भीतर परीक्षण पास कर लेगा बल्कि यह परीक्षण पास करने की अवधि निश्चित समय के लिए बढाई भी जा सकती थी । वास्तव मे यह अवधि इतने समय के लिए बढा भी दी गयी थी जब तक कि राज्य का लोक सेवा आयोग इस प्रकार के दो और परीक्षण न कर ले । केरल उच्च न्यायालय ने इन नियमो को अनुच्छेद 16 (1) तथा (2) के अतिलघन के आधार पर अवैध घोषित कर दिया था । किंतु **केरल राज्य बनाम एन० एम० टॉमस के मामले मे** उच्चतम न्यायालय ने इन नियमो को वैध घोषित करते हुए कहा कि अनुच्छेद 16 (1) तथा (2) मे दिया गया मूल अधिकार स्वय में कोई अपरिमीमित अधिकार नही है । यह अधिकार युक्तियुक्त वर्गीकरण को प्रतिषिद्ध नही करता है । अत इन सेवाओ मे प्रोन्नति पाने के सबध मे अनुसूचित जाति और जनजाति के नागरिकों को जो सुविधा प्रदान की गयी वह 16 (4) मे आच्छादित न होते हुए भी स्वय 16 (1) के आधार पर भी वैध है क्योंकि यह निश्चय ही एक विशिष्ट पिछडे हुए वर्ग के लोगो का सविधान के अनुच्छेद 46 मे उपबधित राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्व की पूर्ति करने तथा अनुच्छेद 335 मे की गयी घोषणा को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से किया गया वैध वर्गीकरण है ।

इस अत्यत महत्त्वपूर्ण तथा ऐतिहासिक निर्णय मे उच्चतम न्यायालय ने इसे जाति के आधार पर विभेद मानने से भी अस्वीकार कर दिया । उनका कहना था कि अनुसूचित जातियां तथा जनजातियां वास्तव मे उस पिछडे हुए वर्ग का एक सक्षिप्त नाम है जिसमे कई जातियां मूलवश, जनजातियां आदि केवल इस आधार पर एक सज्ञा के अंतर्गत लाये गये हैं कि ये आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से नितात पतित है और इन्हे सरक्षण देना तथा इन्हे बढावा देकर सबके समान बनने की प्रेरणा और अवसर देना राज्य का निर्धारित कर्तव्य है । 'अनुसूचित जातियां' और अनुसूचित जनजातियां इन ऐतिहासिक नामो की 'जाति' शब्द के साधारण अर्थ से सभ्रांति नहीं करनी चाहिए ।

इस प्रकार न्यायालयो ने यह देखने का प्रयास किया है कि सघ या राज्य के क्रियाकलापो मे सबधित सेवाओ और पदों के लिए नियुक्तियां करने मे, अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजातियो के सदस्यो के दावो का प्रशासन की दक्षता बनाये रखने की सगति के अनुसार ध्यान रखा गया है या नही । 'इसमे सदेह नही कि सविधान के निर्माताओ ने यह उपधारणा की कि अनुच्छेद 16 (4) के अधीन पर्याप्त आरक्षण करने समय इस बात की ओर ध्यान दिया जायेगा कि अयुक्तियुक्त, अतिशय या अधाधुध आरक्षण नहीं किया जायेगा — *अतएव अनुच्छेद 15 (4) के अधीन* ... ।

सरकारी सेवाओ मे उनके प्रतिनिधित्व के आधार पर मूल्यांकन किया जाना चाहिए। किंतु इस रिपोर्ट से काफी हगामा मचा । लोग पिछडेपन मे अपना हित देखने लगे। लिंगायत जो पहले पिछडे वर्ग की सूची मे थे वे समिति की अतरिम रिपोर्ट के बाद इस मूल्यवान लेबल से वंचित हो गये थे जबकि उनके प्रतिद्वंद्वी ओक्कालिंग अपने पिछडेपन के लेबल को धारण किये रहे। इस विवादास्पद रिपोर्ट की विधानसभा के अदर और बाहर काफी आलोचना की गयी साप्रदायिक पक्षपात का आरोप लगाया गया, जगह-जगह लिंगायतो ने बैठके की, प्रस्ताव पास किये, अपने समुदाय के प्रति किये जा रहे विभेद की घोर निदा की तथा यह माग की कि उन्हे पुन पिछडे वर्ग के रूप मे रखा जाये। समिति ने अपनी अतिम रिपोर्ट मे पिछडे समुदायो को 'पिछडे' और 'अधिक पिछडे' मे वर्गीकृत करने के लिए सिफारिश की तथा लिंगायतो को पूर्ववत् एक प्रगतिशील समुदाय के रूप मे दर्शाया। किंतु मैसूर सरकार ने अधिक दबाव के आगे घुटने टेक दिये तथा लिंगायत पिछडे वर्ग के रूप मे अपना विधिक स्तर बनाये रखने मे कामयाब रहे। चूकि समिति को विभिन्न जातियो और समुदायो के बारे मे आकडे प्राप्त करने मे असुविधा हो रही थी इसलिए यह भी सिफारिश की कि राज्य सरकार को जाति भी रिकार्ड करने के लिए निवेदन करे (ब्रिटिश काल मे 1947 की जनगणना तक ऐसा होता था जिसे राष्ट्रवादियो ने यह कहकर भर्त्सना की थी कि यह हिंदू समाज के अदर भेदो को बनाये रखने के लिए किया जा रहा है।)

दिसबर 1975 मे एक अन्य आयोग उत्तर प्रदेश सरकार ने छेदीलाल साथी की अध्यक्षता मे नियुक्त किया। इस आयोग ने एक ऐसा दस्तावेज प्रस्तुत किया जो आर्थिक विश्लेषण कम राजनीतिक घोषणा पत्र ज्यादा था। इस आयोग ने कहा कि उच्च जातियो द्वारा पिछडे वर्गो के शोषण को दूर करने के लिए उच्च वर्गों और जातियो को दस वर्ष तक एक भी नौकरी नही दी जानी चाहिए।

आरक्षण जिसे लागू करने का उद्देश्य दमन और शोषण के शिकार लोगो को न्याय दिलाना था, आज यह विभेद का एक माध्यम बनता जा रहा है ज्यादा-से-ज्यादा लोग अपने को पिछडे समुदाय मे सम्मिलित करवाने के लिए हरसभव दबाव डाल रहे हैं। 82 समुदायो के प्रतिनिधियो ने जिन्हे गुजरात के बक्शी आयोग ने पिछडा घोषित किया था यह कहा कि उनकी सख्या 40% होने पर भी केवल 5% स्थान उनके लिए आरक्षित किये गये हैं जबकि अनुसूचित जातियो और जनजातियो की सख्या 20% और उनके लिए 20% स्थान आरक्षित किये गये हैं। उन लोगो ने आरक्षण का प्रतिशत बढाये जाने पर बल दिया।[42] 1981 की रिपोर्ट मे अल्पसख्यक आयोग ने कहा कि मुसलमान जो देश की जनसख्या के 12% है, केवल 1% साक्षर हैं तथा प्रति व्यक्ति आय मे भी सबसे पीछे हैं इसलिए इनके लिए आरक्षण किया जाना चाहिए।

1979 मे श्री बी० पी० मडल की अध्यक्षता मे राष्ट्रपति ने अनुच्छेद 340 के अधीन द्वितीय पिछडे वर्ग आयोग को गठित किया। मडल आयोग को पिछडे वर्गों की सूची बनाने तथा उनकी जनसख्या का पता लगाने का कार्य सौंपा गया था। आयोग ने लगभग 4000 जातियो तथा समुदायो की पहचान की जिनके साथ शिक्षा-सस्थाओ तथा सरकारी पदो के

वितरण के मामले मे तरजीही बरताव किया जाना चाहिए। इसमे अनुसूचित जातियो तथा जनजातियो के अतिरिक्त पिछडे वर्गों के लिए 27% आरक्षण करने के लिए सुझाव दिया गया है। आयोग ने सामाजिक तथा शैक्षिक पिछडेपन को निर्धारित करने के लिए ग्यारह 'सूचको' अथवा 'मानदडो' को विकसित किया। इन ग्यारह सूचको को तीन प्रमुख शीर्षको मे वर्गीकृत किया गया है—अर्थात् सामाजिक शैक्षिक और आर्थिक। वे है

(अ) सामाजिक

1 वे जातिया / वर्ग जो दूसरो द्वारा सामाजिक रूप से पिछडी मानी जाती हैं।

2 वे जातिया / वर्ग जो अपनी आजीविका के लिए शारीरिक परिश्रम पर मुख्यत निर्भर करते है।

3 वे जातिया / वर्ग जिनमे राज्य के औसत से कम-से-कम 25% ज्यादा औरते और 10% ज्यादा पुरुष ग्रामीण क्षेत्रो मे 17 वर्ष की कम उम्र मे विवाह कर लेते हो तथा शहरो मे कम-से-कम 10% ज्यादा पुरुष और 5% औरते ऐसा करती हो।

4 वे जातिया / वर्ग जिनमे औरतो की कार्यों मे हिस्सेदारी राज्य के औसत से कम- से-कम 25% ज्यादा हो।

(ब) शिक्षा सबधी

5 वे जातिया / वर्ग जिनमे 5 से 15 की वयोवर्ग के बच्चे जो कभी भी विद्यालय नही गये उनकी सख्या राज्य के औसत से कम-से-कम 25% ज्यादा हो।

6 वे जातिया / वर्ग जिनमे 5 से 15 की वयोवर्ग मे विद्यार्थियो के विद्यालय छोडने की दर राज्य के औसत से कम-से-कम 25% ऊपर हो।

7 वे जातिया / वर्ग जिनमे मैट्रिक पास का अनुपात राज्य के औसत से कम-से-कम 25% नीचे हो।

(स) आर्थिक

8 वे जातिया / वर्ग जिनमे परिवार की सपत्ति का औसत मूल्य राज्य के औसत से कम-से-कम 25% नीचे हो।

9 वे जातिया / वर्ग जिनमे कच्चे मकानो मे रहने वाले परिवारो की सख्या राज्य के औसत से कम-से-कम 25% ऊपर हो।

10 वे जातिया / वर्ग जिनमे 50% से भी ज्यादा परिवारो के पीने के पानी के स्रोत आधे किलोमीटर से भी ज्यादा दूरी पर हो।

11 वे जातिया / वर्ग जिनमे उपभोग— ऋण लिये हुए परिवारो की सख्या राज्य के औसत से कम-से-कम 25% ऊपर हो।

उक्त तीनो वर्ग बराबर महत्त्व के नही हैं इसलिए प्रत्येक वर्ग मे सूचको को अलग-अलग महत्त्व दिया गया है। प्रत्येक सामाजिक सूचको को तीन अको का लाभ दिया गया था, शिक्षा-सबधी सूचको को दो तथा प्रत्येक आर्थिक सूचक को एक अक था।

आयोग के अनुसार पिछडे वर्ग मे वे ही जातिया आ सकती हैं जो 'द्विज' नही है अर्थात् वे न तो ब्राह्मण हो, न क्षत्रिय और न वैश्य।[43] आयोग ने गैर हिंदुओ के सबध मे उतनी गभीरता से विचार नही किया जितना कि हिंदुओ के सबध मे किया था। इसके

अनुसार वे सभी हिंदू समुदाय जिन्होंने गैर हिंदू धर्म अपना लिया हो वे व्यावसायिक समुदाय जो अपने परम्परागत वंशानुगत व्यवसाय के नाम से जाने जाते हों तथा वे समुदाय जिनके जैसे हिंदू हिंदू पिछड़े वर्ग में सम्मिलित किये गये हो उन्हें पिछड़ा माना जाना चाहिए। आयोग की रिपोर्ट को सत्ता पक्ष तथा विपक्ष ने तुरंत स्वीकार कर लिया किंतु इसे लागू करना एक टेढ़ी खीर हो गया है क्योंकि विभिन्न पक्षों द्वारा रिपोर्ट को लागू करने/न करने के लिए सरकार पर बराबर दबाव डाले जा रहे हैं।

20 अप्रैल 1981 को गुजरात सरकार ने एक अन्य आयोग उच्च न्यायालय के अवकाश प्राप्त न्यायाधिपति राने की अध्यक्षता मे नियुक्त किया था। राने (पच) आयोग ने 31 अक्तूबर 1983 को प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण को बढ़ाकर अठारह प्रतिशत करने की सिफारिश की। यह पहला पिछड़ा वर्ग आयोग था जिसने सविधान को बड़ी गभीरता से लिया तथा अपनी सिफारिश का जाति के बजाय वर्ग पर आधारित किया क्योंकि सविधान में भी वर्ग शब्द का ही प्रयोग किया गया है। आयोग ने विचार व्यक्त किया कि अगर जाति को पिछड़े वर्ग की पहचान का आधार बनाया गया तो वह जाति व्यवस्था से सबधित समस्त बुराइयों को स्थायित्व प्रदान करेगा। व्यवसाय व आय के आधार पर किये गये वर्गीकरण अत्यधिक धर्मनिरपेक्ष तथा समता लाने वाले परिणाम को प्राप्त कर सकते हैं। जाति के आधार पर पिछड़ेपन में निहित स्वार्थ की भावना को बढ़ावा मिलता है। गुजरात में कुछ ऐसी जातियां थीं जिनमें विकासशीलता की प्रवृत्ति दिखायी पड़ रही थी वे भी पिछड़ी जातियों के रूप में मान्यता पाने के लिए प्रतियोगिता में लगी हैं। जाति का मापदंड उन वर्गों के सदर्भ में असफल रहता है जो हिंदू समाज में प्रचलित परम्परागत अर्थों में जाति को नहीं मानते हैं। अनेक जातियों और उपजातियों के बारे में पूर्ण जानकारी उपलब्ध न होने के कारण जाति पर आधारित वर्गीकरण अनेक दोषों से युक्त हो सकता है। इस प्रकार राने आयोग ने 63 व्यवसायों को आरक्षण के लाभ के लिए पता लगाया तथा सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े वर्ग में सम्मिलित किये जाने के लिए परिवार की अधिकतम आय 10,000 रुपये वार्षिक निर्धारित किया।

इस प्रकार सन 1990 तक लगभग दस राज्यों ने अपने अपने आयोग गठित किये तथा अलग-अलग ढग से उन आयोगों की रिपोर्टों को लागू किया। किंतु आरक्षण का विषय आज भी काफी जटिल बना हुआ है। इस सबध में राष्ट्रीय सहमति नहीं बन पा रही है। प्रथमतः दक्षिणी भारत में आजादी के पहले से ही पिछड़े वर्गों को राजनीतिक रूप से सघटित करने के लिए आरक्षण को माध्यम बनाया गया था परिणामतः आजादी के बाद दक्षिण के राज्य 60% से भी ज्यादा राष्ट्रीय नीतियों का तैयार करते हैं। उत्तरी भारत में जहा आरक्षण की नीति 1950 के बाद विकसित हुई है दक्षिणी भारत की नीतियों को स्थान देने से राष्ट्र में विषमता का ताडव नृत्य होने लगेगा। इस प्रकार दक्षिणी राज्यों की नीतियों का पूरे राष्ट्र के लिए न तो व्यापक बनाना सभव है और न ही उन राज्यों में निर्धारित कोटे को कम करना ही आसान है। द्वितीयतः किसी भी विवेक सगत नीति के लिए आवश्यक है कि पिछड़ेपन के लिए जाति को आधार माना जाये अथवा वर्ग

को। किन्तु यहा भी यदि जाति को आधार बनाया जाता है तो असतोष को बढ़ावा मिलता है और यदि वर्ग को आधार बनाया जाता है तो इसके लागू करने की अपनी अलग समस्याए हैं। तृतीयत , देश के अदर वर्तमान विघटनकारी और आतकवादी ताकते भी आरक्षण के सबध मे एक राष्ट्रीय सहमति तैयार करने मे बाधक हैं। अतत अधिकाश सरकारो तथा राजनीतिक दलो की सिद्धातविहीन नीतिया अत्यधिक अस्तव्यस्तता के लिए उत्तरदायी हैं। पिछडेपन की राजनीति और राजनीति का पिछडापन दोनो एक मे मिश्रित हो सकट को और गहरा बना रहे हैं। प्राय चुनावी लाभ के लिए चुनाव मे कुछ समय पहले आयोग गठित किये जाते हैं या उनकी रिपोर्ट प्रस्तुत/प्रकाशित की जाती है या उन्हे लागू किया जाता है तथा आरक्षण का कोटा बढा दिया जाता है। आयोगो की रिपोर्ट को आशिक रूप मे लागू किया जाता है (जैसाकि गुजरात सरकार ने राने आयोग की सिफारिश के सबध मे किया था) सत्ता पक्ष और विपक्ष का परस्पर दोषारोपण वर्तमान राजनीति का मूल सिद्धात हो गया है। प्राय सरकारो के कान पर जू तब तक नही रेगते जब तक की विरोध उग्र रूप धारण नही कर लेता है। कुछ सरकारो ने अपने दल के आधार को मजबूत करने के लिए यादव कुर्मी मडल आदि जातिया जिन्हे पिछडी नही *कहा जा सकता है उनके लिए भी आरक्षण की व्यवस्था को उचित ठहराया है।*

आरक्षण को लेकर समय-समय पर दगे हिसा लूटमार आगजनी बलात्कार आदि की घटनाए, तत्सबधी समितिया, उनकी रिपोर्ट और उनकी पुनरावृत्ति हमारे राष्ट्रीय जीवन की विशेषता बन गये हैं। कभी गुजरात तो कभी उत्तर प्रदेश कभी बिहार तो कभी मध्य प्रदेश या अन्य राज्य आरक्षण विरोधी आदोलनो की विभीषिका म झुलसते रहते हैं। एक तरफ से अगर जाति पर आधारित आरक्षण को समाप्त करने के लिए तर्क दिये जाते हैं तो दूसरी तरफ बनाये रखने के लिए सबल समर्थन किया जाता है। हाल के वर्षों म आरक्षण को समाप्त करने के लिए चलाये गये आदोलन ने विकराल रूप धारण कर लिया था। अनेक छात्र तथा नागरिक अपनी जान से हाथ धो बैठे। अनेक शिक्षा-सस्थाओ के परिसरो ने पुलिस स्टेशन का रूप धारण कर लिया था।

अनेक पत्र-पत्रिकाओ म आरक्षण की नीति का विश्लेषण किया गया। जिन उद्देश्यो को लेकर इस नीति का अनुसरण किया गया था उसमे आशा के अनुरूप सफलता नही मिली। *आज 40 वर्षों के बाद भी झाडू लगाने वाला व्यक्ति लोगो के मलमूत्र सर पर* रखकर ढोता है अनुसूचित जाति के लोग अछूत बने हुए हैं बीमारी भुखमरी और अधविश्वास की जिदगी जी रहे हैं हीनता से ग्रसित हैं अनुसूचित जनजातियो के लोग अलग थलग पडे हुए हैं।

प्रत्येक राज्य म अनुसूचित जातियो म भी कुछ प्रधान जातिया हैं जो अपनी सख्या के अनुपात मे ज्यादा आरक्षण का *अधिकाश लाभ उठा रही है। यही नही प्राय जिस* परिवार के किसी व्यक्ति को लाभ मिल गया उसी परिवार के लोग पीढी-दर-पीढी आरक्षण मे लाभान्वित हो रहे हैं। शेष दलित वर्ग तो वही अशिक्षा और अधकार की जिदगी जी रहा है। दूसरे यह तर्क दिया जाता है कि आरक्षण के द्वारा योग्यता और कार्य-कुशलता का गला घोटा जा रहा है इसके उत्तर मे कहा जाता है कि ऐसा तो वहा भी

होता है जब मद बुद्धि छात्र के सरक्षक खुली प्रतियोगिताओ मे असफल होने के पश्चात् कैपिटेशन (प्रतिव्यक्ति) शुल्क देकर प्रवेश दिलाते है। किंतु यहा यह स्पष्ट करना उचित है कि जो लोग यह शुल्क देते हैं कोई आवश्यक नही कि सपन्न हो अथवा मद बुद्धि हो। सच मे देखा जाये तो यहा अन्याय उनके साथ होता है जो कैपिटेशन शुल्क भी नही दे सकते और मेधावी भी हैं। वास्तविकता तो यह है कि योग्यता की अवहेलना का असर आम जनता पर पडता है। महाराष्ट्र सरकार ने यह नियम बनाया है कि विश्वविद्यालयो मे किसी भी पद पर गैर अनुसूचित जातियो तथा जनजातियो की नियुक्ति तब तक नही की जायेगी जब तक की अनुसूचित जातियों और जनजातियो के लिए आरक्षित बकाया पदों को भर नही लिया जाता। परिणामत नागपुर मेडिकल कॉलेज मे शल्य-विज्ञान के अध्यक्ष के 1977-78 मे अवकाश प्राप्त करने पर उस पद पर अनुसूचित जाति के एक रोग विज्ञानी (पैथोलॉजिस्ट) की नियुक्ति की गयी। इस प्रकार के 'प्रतिवर्ती विभेद' से मरीजो को कितना लाभ पहुचा एक मनन करने का विषय है।[44] हा यह बात अवश्य है तकनीकी क्षेत्रो के अतिरिक्त क्षेत्रो मे योग्यता की अवहेलना से कार्यकुशलता मे गिरावट आयी है, ऐसा तथ्यों से सिद्ध नहीं होता है। अगर ऐसा होता तो तमिलनाडु की तुलना मे बिहार मे निश्चय ही ज्यादा कुशल प्रशासन होता। गुजरात के सचिवालय मे तथा कलकत्ता के राइटर्स बिल्डिंग के बरामदो मे कार्य समय मे घूमने वालो मे 100% लोग उच्च जातियो के होते हैं जो योग्यता का दावा भी करते हैं। इसके विपरीत निम्न जातियो मे सेवा करने तथा कार्य करने की प्रेरणा अपेक्षाकृत ज्यादा देखी गयी है।[45]

आरक्षण की नीति का एक दुष्परिणाम यह है कि इसका लाभ लेने वालो के प्रति शेष लोगों का पूर्वग्रह तीव्र होता जा रहा है कि ये ऐसे लोग हैं जो बुद्धि विहीन हैं, ये ऐसे लोग हैं जिन्हे प्लेट मे रखकर सब कुछ बिना परिश्रम किये खाने को परोस दिया जाता है। इनके लिए 'सरकारी ब्राह्मण' 'सरकारी दामाद' जैसे व्यग्यात्मक शब्द कहे जाते हैं। खुली प्रतियोगिता से चुनकर आने वालो की तुलना मे आरक्षण से चुने व्यक्तियो को कम आदर के साथ देखा जाता है।

सबसे दुर्भाग्यपूर्ण बात तो यह है कि आज स्त्रिया, पिछडी जातिया, अल्पसख्यक, कर्मचारियो की पुत्र / पुत्रिया, सेवारत प्रत्याशी विश्वविद्यालय मे पढ रहे छात्र धरती पुत्र, बाध बनाने के लिए अपने स्थान से हटाये गये लोग पर्वत निवासी, ग्रामीण निवासी आदि सभी आरक्षण पाने के योग्य श्रेणी मे आने का प्रयास कर रहे हैं। जिन्हें आरक्षण मिला हुआ है वे उसे बनाये रखने और उसे बढाने मे प्रयासरत है, जिन्हे नही मिला हुआ है, वे पाना चाहते हैं। आरक्षणों से राष्ट्र और एकीकृत होने के बजाय अनेक वर्गों उपवर्गों जातियो तथा समुदायो मे विभक्त किया जा रहा है, इससे सार्वजनिक जीवन के विखडन मे वृद्धि हो रही है तथा जाति की भावना बल पकडती जा रही है। आरक्षण से लोगों को समता के स्तर पर लाकर राष्ट्र की मुख्य धारा मे जोडने के बजाय, यह अलग बने रहने और यहा तक कि अलग होने मे निहित स्वार्थ विकसित हो रहा है। आरक्षण के मामले को लेकर होने वाले जातीय दगो लूटपाट, आगजनी और मार-काट मे भ्रातृत्व की भावना

पर आधारित जाति विहीन समाज को बिलकुल असभव बना दिया है ।

आरक्षण की नीति सफल नहीं रही है तो क्या इसे समाप्त कर दिया जाना चाहिए ? यदि इसे समाप्त कर दिया गया तो अनुसूचित जातियो तथा जनजातियो का प्रतिशत सरकारी सेवाओ मे पहले से ही कम है, वर्तमान परिस्थितियो मे नही के बराबर हो जायेगा । आज भी इन जातियो का प्रतिनिधित्व उच्च श्रेणी की सेवाओ तथा शिक्षा सस्थाओ मे अपर्याप्त है । निम्नलिखित सारणी अ, ब, स और द श्रेणी की केद्रीय सेवाओ मे उनके प्रतिनिधित्व को दर्शाती है

सारणी-1

1 जनवरी, 1983 को केद्रीय सेवाओ मे अनुसूचित जातियो तथा अनुसूचित जनजातियो का प्रतिनिधित्व (राष्ट्रपति सचिवालय की जानकारी सम्मिलित नही है)

पदों की श्रेणी	प्रतिनिधित्व अनु० जातियां	अनु० जनजातिया	अनु० जातियां	कमी अनु० जनजातियां
ए	6 71	1 41	55 27	81 20
बी	10 16	1 46	26 93	80 53
सी	14 61	4 14	2.60	44 80
डी	19 58	5 51	—	26 67

स्रोत अनुसूचित जाति तथा जनजाति आयुक्त रिपोर्ट 6ठीं, 1987 अध्याय सप्तम सारणी 1, पृष्ठ 60

उक्त सारणी से स्पष्ट होता है कि अनुसूचित जातियो तथा जनजातियो का प्रतिनिधित्व उच्च सेवाओ मे कितना कम है । शताब्दियो से होता आ रहा दमन आज भी जारी है, उसका रूप भले ही बदल गया हो । 1981 की जनगणना के अनुसार 10 6 करोड (अथवा 15 47%) अनुसूचित जाति और 5 38 करोड (अथवा 7 85%) अनुसूचित जनजाति के लोग भारत मे थे । केवल 21 38% अनुसूचित जाति तथा 16 33% अनुसूचित जनजाति के लोग साक्षर हैं जबकि अन्य समुदायो का औसत 41 3% है । विद्यालय छोड़ने की दर अनुसूचित जातियो मे प्रारभिक पाठशाला स्तर पर 59.21% तथा 85 72% सेकडरी स्तर पर है । क्रमश अनुसूचित जनजातियो का स्तर 74% और 91 65% है । अनुसूचित जातियो मे 72.87% पुरुष कृषि मजदूर हैं । लोक सेवाओ में इनका अनुपात काफी कम है । 1987 मे अनुसूचित जाति 16 18% तथा अनुसूचित जनजाति 4 69% तथा इनकी यह सख्या नीची श्रेणियो मे कर्मचारियो मे ही ज्यादा है । 211 पब्लिक सेक्टर उपक्रमो मे 77 51% झाडू देने वाले कर्मचारी अनुसूचित जातियो तथा 3 37% अनुसूचित जनजातियो के हैं । अनुसूचित जातियो के प्रतिनिधित्व मे 10 वर्षों (1977-87) मे सुधार 1.2% है तथा अनुसूचित जनजातियो मे 1 49% है । इन जातियो के

लोग अनेक प्रकार के अत्याचारो का शिकार हो रहे हैं। 1981-86 मे 91097 अत्याचारो की सूचना उपलब्ध है जिनमे से 3139 हत्या, 8501 गभीर शारीरिक चोट, 3998 बलात्कार, 6279 आगजनी तथा 69181 अन्य विभिन्न प्रकार के अत्याचार थे। इसके अतिरिक्त अनेक अपराधो की सूचना तो उपलब्ध भी नही हो पाती। आज भी अनुसूचित जातियो के लोगो को मदिरो मे प्रवेश, मनोरजन स्थलो, स्नानगृहो, जलाशयो होटलो आदि मे प्रवेश व्यवहार मे सभव नही हो पाया है। मीनाक्षीपुरम की 1981 की धर्म परिवर्तन की घटना इस तथ्य पर प्रकाश डालती है। गाव के 1300 निवासियो मे से 1250 हरिजन थे। उस समय 50 पक्के मकानो मे से केवल 4 हरिजनो के पास थे। 6 कुओ मे से हरिजन केवल एक का प्रयोग कर सकते थे। 3 चाय की दुकानो मे से केवल एक दुकान जिसका मालिक मुसलमान था, उसी पर हरिजन चाय पी सकते थे। सख्या मे अधिक होने तथा शिक्षा मे प्रगति के बावजूद वे घोर सामाजिक विभेद के शिकार थे। उच्च वर्णो के क्षेत्र मे प्रवेश करते समय इन्हे चप्पल उतार लेने पडते थे, उच्च वर्ण के व्यक्ति से बात करते समय, उन्हे मस्तक झुका लेना पडता था हाथो को जोडे रहना पडता था कहीं थूक की छीट न पड जाये मुह के सामने पत्तिया रखनी पडती थी। अगर तौलिया या शाल उसके पास होती थी तो उसे घुटने से नीचे रखना पडता था। अच्छी पोशाक पहनने पर उसे ताडित किया जाता था। पुलिस से भी कोई सहायता नही मिलती थी। परिणामत सामाजिक विभेद से बचने का सबसे उत्तम उपाय धर्म-परिवर्तन मे दिखायी पडा। बिहार, उत्तर प्रदेश मध्य प्रदेश, गुजरात आदि प्रान्तो मे हरिजन व्यक्तियो को लूट लेना, उनके घरो को जला देना, फसलो को खेतो से काट लेना, जानवरो को छीन लेना, उनकी बहू-बेटियो की इज्जत के साथ खिलवाड करना तथा सामाजिक विभेद का क्रूर प्रदर्शन करना हमारे समाज की वास्तविकता है।

अत आज की परिस्थिति मे अनुसूचित जातियो तथा अनुसूचित जनजातियो के लिए आरक्षण समाप्त किया जाना किसी भी प्रकार उचित नहीं है। हा, वर्तमान आरक्षण नीति का मूल्याकन किया जाना अत्यत आवश्यक है। इन जातियो मे एक परिवार के लोग अथवा सपन्न परिवार के व्यक्ति ही इनका लाभ न उठाते रहें। इसके लिए आर्थिक या एक व्यक्ति एक परिवार या एक पीढी का प्रतिबध लगाया जा सकता है। आरक्षण का उद्देश्य उच्च जातियो से बदला लेना या अपने लिए 'वोट बैंक', तैयार करना तथा इस प्रकार जातिवाद का विष बोना नहीं होना चाहिए। इसका उद्देश्य निर्धन तथा शोषित लोगो को सहायता पहुचाकर राष्ट्रीय जीवन से जोडना होना चाहिए। आज आवश्यकता है जनकल्याण की सुविधाएं इन दलित तथा शोषित लोगो को उपलब्ध कराने की नीतियो एव कार्यक्रमो के सुचारु रूप से क्रियान्वयन की तथा इन जातियो के अदर से जाति की हीन भावना को दूर करने की।

भारत मे जाति और राजनीति का बडा गहरा सबध है। *व्यक्ति जब राजनीति के* क्षेत्र मे प्रवेश करता है, तब वह अपने सामाजिक अस्तित्व की मान्यताओ को भूल नही पाता है। व्यक्ति की जाति या पारिवारिक निष्ठा उसके साथ जुडी रहती है। जब जनता राजनीति के क्षेत्र मे सार्वजनिक मताधिकार द्वारा सक्रिय भाग लेती है तो जातीय निष्ठा

और पूर्वाभास उनके साथ रहते हैं। भारत मे आधुनिकीकरण के साथ जाति का प्रभाव जो थोडा शिथिल पड रहा था, उसमे प्रजातात्रिक प्रक्रिया ने नयी जान फूंक दी है। चुनावो मे जाति सगठन के प्रभाव को देखते हुए राजनीतिज्ञो का उद्देश्य जाति-निष्ठा को बडी चतुराई से उभारकर अधिक-से-अधिक मत प्राप्त करना होता है तथा ये राजनीतिज्ञ राष्ट्रीय हितो के बजाय जाति हितो को तरजीह देते हैं। प्रत्याशियो के चयन मत्रियो की नियुक्ति तथा समितियों और बोर्डो के गठन मे जाति का तत्त्व सर्वत्र विद्यमान रहता है। प्रजातात्रिक चुनावों ने जाति सगठनो के जीवन मे शक्ति एव स्फूर्ति भर दी है तथा अनेक सगठनो के गठन को बढावा दिया है। चुनावो मे अगर किसी चुनाव क्षेत्र मे कोई एक जाति सख्या में औरो से ज्यादा है तो प्राय सभी दल उसी जाति के व्यक्ति को अपना प्रत्याशी चुनते हैं। रूडोल्फ और एस० एच० रूडोल्फ का कहना है कि जहा तक जाति के आधार पर लोगो को सगठित करने का सबध है यह सघटन तीन प्रकार से होता है—ऊर्ध्वाधर, समस्तरीय तथा विशिष्ट। ऊर्ध्वाधर सघटन उन स्थानीय समाजो मे परपरागत श्रेष्ठ व्यक्तियो द्वारा राजनीतिक समर्थन को जुटाने को कहते है जो श्रेणी अन्योन्याश्रिता और परपरागत मता की वैधता के द्वारा सगठित और एकीकृत होते हैं। समस्तरीय सघटन में वर्ग अथवा समुदाय के नेताओं और उनके विशिष्टीकृत सगठनों द्वारा राजनीतिक समर्थन जुटाना सम्मिलित है। विशिष्ट सघटन मे व्यवहार्य किन्तु आतरिक रूप से विशिष्टीकृत समुदायो मे राजनीतिक दलो द्वारा साथ-साथ विचारधारा, भावना और हित का आग्रह करके प्रत्यक्ष या परोक्ष राजनीतिक समर्थन जुटाना सम्मिलित है।[46]

आज राजनीति जाति के लिए पहले से ज्यादा महत्त्वपूर्ण हो गयी है और जाति राजनीति के लिए पहले से ज्यादा महत्त्वपूर्ण हो गयी है। यह तब और भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है जब अपने सदस्यो के हितो को सरक्षित करने और बढाने के लिए दल का गठन कर लिया जाता है। स्वतत्रता से पूर्व मद्रास मे जस्टिस पार्टी तथा बबई मे इडिपेडेट लेबर पार्टी का गठन किया गया था। इनके द्वारा अपनायी गयी तकनीक तथा साधनो ने भारतीय राजनीति को अत्यधिक प्रभावित किया था। यहा तक कि धर्मनिरपेक्ष दल भी जाति के विचार को अपनी नीतियो से परे रखने मे असमर्थ रहे। हालाकि आज जाति राष्ट्रीय स्तर पर उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है किन्तु प्रदेश क्षेत्र और स्थानीय स्तर पर जाति का शिकजा काफी मजबूत हुआ है। कर्नाटक मे लिगायतो और ओक्कालिगो की आध्र प्रदेश मे कम्मा और रेड्डियो की, महाराष्ट्र मे मराठा ब्राह्मण और महारकी केरल मे नायर इजहवान तथा सीरिलय ईसाइयों की गुजरात मे बनिया पाटीदार और कोली की, बिहार मे ब्राह्मण राजपूत कायस्थ, पिछडी जातिया तथा जनजातियो की और उत्तर प्रदेश मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, पिछडी जातियो (यादव, कुर्मी तथा गूजर) तथा अनुसूचित जातियो (बहुजन समाज पार्टी) की भूमिका पर ही प्रदेशो की राजनीति निर्भर करती है। स्थानीय निकायो मे जाति का प्रभाव और अधिक देखने को मिलता है। जातिवाद का नग्न प्रदर्शन पचायतो के चुनाव मे देखा जा सकता है। शिक्षा-सस्थाओ के परिसर जाति के प्रभाव से नही बचे है, विद्यार्थी शिक्षक तथा प्रबध

बहुधा सभी स्तर पर जाति और राजनीति का गठजोड़ देखन को मिलता है । इस प्रकार जहा रोजमर्रा की जिंदगी मे जाति का प्रभाव कम हो रहा है वही राजनीति मे जाति की भावना बल पकड़ती जा रही है । हा यह बात जरूर है कि प्रजातात्रिक प्रक्रिया के अधीन दलित एव शोषित वर्ग, जाति के आधार पर सघटित होकर सदियों से चली आ रही अभिजात-तन्त्रीय व्यवस्था की जड़े काटने मे सफल रहा है । स्थानीय चुनावो मे उच्च जातियों के वर्चस्व को घोर चुनौती दी है तथा अधिकाश स्थानों पर समाप्त कर दिया है ।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि बीसवी शताब्दी के आरभ से ही विभिन्न जाति समूहो के बीच सबद्धता अधिकाधिक प्रभावशाली होती जा रही है तथा उपजातियो के बीच की मजबूत दीवारे टूट रही हैं। सगोत्र विवाहो का क्रम बढ़ता जा रहा है। इस सदर्भ मे ब्रिटिश राज्यकाल मे जीवन म आयी गतिशीलता उच्च शिक्षा तथा रोजगार के उद्देश्य से नगरो की ओर गमनागमन नगरो मे सार्वभौमिक उदार भावना का विकास तथा पाश्चात्यकरण आदि का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।[47] पिछले पचास वर्षों म अशुद्धता सबधी विचारो मे काफी कमी आयी है। पुरोहित ब्राह्मणो के जीवन तथा स्तर मे काफी परिवर्तन आया है तथा हिंदू धर्म को स्थायित्व प्रदान करने वाली सामाजिक सस्थाए जैसे जाति सयुक्त परिवार तथा ग्राम समुदाय अनेक महत्त्वपूर्ण मामलो मे परिवर्तित हो रहे हैं । प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से यह धर्म निरपेक्षीकरण की प्रक्रिया बराबर चल रही है ।

औद्योगीकरण तथा नगरीकरण होने, सड़को के जाल बनने यातायात की सुविधा होने धर्मनिरपेक्ष शिक्षा की सुविधा होने कृषि मे आधुनिक तकनीको के प्रयोग होन जनसख्या बढ़न और सयुक्त परिवार के एकाकी मे परिवर्तित होने आदि कारणो से भारत मे रहन-सहन के पुराने तौर-तरीके बदल रहे हैं । आज खाने-पीने रहन आन-जान विश्राम करने सोने जागने नहाने धोने तथा सफाई आदि मे लोगो को अपनी जाति और तत्सबधी शुद्धता के बजाय अपना समय अपनी जेब तथा स्वास्थ्य विज्ञान का विशेष ध्यान रखना पड़ना है । यहा तक कि परपरागत व्यवहार को विवेक सम्पन्न बनाने का प्रयास किया जाता रहा है । अधिकाश धार्मिक सस्कारो एव कर्मकाडो को लोग धीरे धीरे त्यागते जा रहे हैं अथवा सक्षिप्त रूप प्रदान करते चले जा रहे है अथवा इनके साथ नयी प्रथाए आकर जुड़ गयी है जो धर्मनिरपेक्ष व्यवहार पर आधारित हैं । आज बड़ी सख्या म स्त्रिया और निम्न जातियो के लोग शिक्षको लिपिको डाक्टरो नर्सो समाज सवियो मजदूरो प्रशासको तथा सेना के अधिकारियो क रूप म कार्य कर रहे हैं, निश्चय ही यह क्रान्तिकारी परिवर्तन है । आधुनिक विद्यालयो मे सस्कृत भाषा की शिक्षा की सुविधा होने से ब्राह्मणो का भाषा पर एकाधिकार समाप्त हो गया । कोई व्यक्ति बिना जाति अथवा धर्म का विचार किये सस्कृत भाषा सीख सकता है । धीरे-धीरे पुरोहित वर्ग अपनी सत्ता और सम्मान खोता जा रहा है । परपरागत सामाजिक सस्थाओं क परिवर्तन म जन सचार माध्यमो जैसे फिल्मो, रेडियो दूरदर्शन पुस्तको समाचार पत्रो आदि का बहुत बड़ा योगदान रहा है। इस प्रकार जो पहले धार्मिक समझा जाता था उसका धर्म से सबध

समाप्त होता जा रहा है। विशिष्टीकरण की प्रक्रिया चल रही है परिणामत समाज के विभिन्न पहलू आर्थिक, राजनीतिक विधिक और नैतिक—एक दूसरे से संबंधों मे ज्यादा-से-ज्यादा पृथक होते जा रहे हैं। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को अविवेकी के बजाय विवेकपूर्ण नियमों पर आधारित करने का प्रयास चल रहा है। परपरागत विश्वासो और विचारो का स्थान धीरे-धीरे आधुनिक ज्ञान ले रहा है। किंतु धर्मनिरपेक्षीकरण की प्रक्रिया को और अधिक गति तथा मजबूती प्रदान करने के लिए शिक्षा सुधार, आर्थिक विकास और राष्ट्रवाद पर विशेष बल दिया जाना चाहिए।

संदर्भ

1 स्मैकवेल इनसाइक्लोपीडिया ऑफ पालिटिकल थाट—1987 पृ० 136
2 वही पृ० 137
3 वही पृ० 128
4 रोमिला थापर भारत का इतिहास (राजकमल प्रकाशन नयी दिल्ली) 1990 पृ० 32 34
5 ऋग्वेद दशम्
6 जाति वर्ग और व्यवसाय (पाप्युलर प्रकाशन बबई) पृ० 49
7 ए० एल बाशम अद्भुत भारत पृ० 116-120
8 जी० एस० घुर्ये पृ० 61
9 एम० एन० श्रीनिवास सोशल चेंज इन माडर्न इंडिया 1988 पृ० 6-7
10 के० एम० पनिक्कर हिंदू सोसायटी एट क्रासरोड्स बाबे 1955 पृ० 8
11 बाशम पृ० 124
12 जी० एस० घुर्ये पृ० 13-14
13 वही पृ० 11
14 डी० ई० स्मिथ इंडिया एज ए सेक्युलर स्टेट 1963 पृ० 295
15 जी० एस० घुर्ये पृ० 160
16 वही पृ० 164
17 धीरेंद्र बनाम सीएस रिसम्बोमर (1959) एस० सी० आर० 224
18 चिरंजीलाल बनाम भारत सघ (1950) एस० सी० आर० 869
19 पश्चिमी बगाल राज्य बनाम अनवर अली (1952) एस० सी० आर० 289
20 अनुच्छेद 330 तथा 332
21 अनुच्छेद 335
22 अनुच्छेद 338
23 अनुच्छेद 340

24 पिछड़ा वर्ग आयोग भारत सरकार की रिपोर्ट 1980 म उद्धृत खंड प्रथम पृ० 22
25 एम० आर० बाला जी बनाम मैसूर राज्य ए० आई० आर० 1963 एस० सी०649
26 ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 1823
27 ए० आई० आर० 1968 एस० सी० 1379
28 ए० आई० आर० 1968 एस० सी० 1012
29 ए० आई० आर० 1975 एस० सी० 563
30 ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 1762
31 ए० आई० आर० 1976 एस० सी० 2381
32 ए० आई० आर० 1979 इला० 135
33 ए० आई० आर० 1980 पटना 215
34 ए० आई० आर० 1980 आ० प्र० 104
35 ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 820
36 ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1975
37 ए० आई० आर० 1980 पटना
38 महाप्रबंधक दक्षिण रेलवे बनाम रंगाचारी ए० आई० आर 1962, एस० सी०36
39 ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 179
40 ए० आई० आर० 1976 एस० सी० 490
41 बाला जी बनाम मैसूर राज्य ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 647 664
42 एस० पी० सिंह हिंदुस्तान टाइम्स मई 2, 1985
43 देखें केंद्रीय सरकार को लिखा गया आयोग के सचिव श्री एस० एस० गिल का पत्र 25-4-1979
44 मेनस्ट्रीम मई 4 1985
45 ए० के० राय स्टेट्समैन दिल्ली जनवरी 10 1990
46 द माइनॉरिटी ट्रैडीशन नयी दिल्ली 1967 पृ० 24-26
47 एम० एन० श्रीनिवास आधुनिक भारत म जातिवाद तथा अन्य निबंध अनुवाद शरद जोशी 1987 पृ० 4-5

6

अल्पसख्यको की समस्या

बहुसख्यक तथा अल्पसख्यक समूहो के मध्य सबध किसी भी राष्ट्र के धर्मनिरपेक्ष चरित्र को निर्धारित करता है, अल्पसख्यक समूहो को सरक्षण धर्मनिरपेक्ष मूल्यो को दिये जा रहे महत्त्व पर निर्भर होता है। वैसे अल्पसख्यक कौन हैं इसको स्पष्टत निश्चित करना आज अत्यधिक कठिन विषय है जैसे—सख्या की दृष्टि से ब्रिटेन का उच्च वर्ग अल्पसख्यक है किन्तु राजनीतिक अध्ययन मे हम उसे अल्पसख्यक नहीं मानते हैं क्योकि वर्ग सामाजिक आर्थिक सिद्धातो को सतुष्ट करते हैं। जबकि अल्पसख्यक अध्ययन के समूह मे महत्त्वपूर्ण तथ्य जातीय तथा सास्कृतिक होते हैं। हालाकि अल्पसख्यक अपना एक वर्ग बना सकते हैं—एक शासक वर्ग (1974 से पहले तुर्कों ने साइप्रस मे किया था) अथवा अधीन वर्ग (श्रीलका मे तमिलो का था)—किंतु यह कोई आवश्यक नहीं है । इस वर्ग की भिन्नता वश के सामूहिक सबध, शारीरिक रूप-रग, भाषा, सस्कृति अथवा धर्म पर आधारित हो सकती है जिस विशेषता के कारण वे समाज के बहुसख्यक लोगो से अलग अनुभव करते हो अथवा समझे जाते हो । आज इस शब्द का प्रयोग अल्पसख्यको के प्रति वास्तविक, अनुभवजनित अथवा आशका पर आधारित विभेद के अर्थ मे किया जाता है हालाकि आपवादिक मामले मे जैसे—दक्षिणी अफ्रीका मे, अल्पसख्यक बहुसख्यको पर सत्ता चला रहे हैं। 19वीं शताब्दी से पूर्व राष्ट्रीय और अतर्राष्ट्रीय राजनीति मे यदि कोई भूमिका अल्पसख्यको की होती थी तो वह धार्मिक अल्पसख्यक ही होते थे, भाषायी आदि अल्पसख्यक महत्त्व नहीं रखते थे। फ्रास की क्राति के बाद राष्ट्रीय चेतना के विकास के साथ-साथ राष्ट्रीय अल्पसख्यक महत्त्वपूर्ण हो गये। इस प्रकार आनतरिक राजनीति मे अपनी शिकायतो को राष्ट्रीय अल्पसख्यको ने प्रकट करना आरभ किया। जैसे—हैप्सबर्ग साम्राज्य मे चक्को ने किया। अतर्राष्ट्रीय मामलो मे हस्तक्षेप करने के दावो के लिए आधार प्रदान किया जैसे चेकोस्लोवाकिया और पोलैड पर दबाव डालने के लिए हिटलर ने जर्मन भाषायी अल्पसख्यको को आधार बनाया था। 20वीं शताब्दी मे ऐसे समूह

जिनकी विशिष्टता प्रजाति आप्रवासी के रूप में जातीय पहचान, लिंग आदि पर आधारित हैं वे भी अल्पसंख्यक होने का दावा करने लगे हैं तथा अनेक प्रकार की सुविधाओं की माग करने लगे हैं ।

बहुसंख्यक समूह की तुलना में अल्पसंख्यक अपने आकार के अनुपात के अनुसार *अपने विशिष्ट लक्षणों संस्कृति, संक्रमण, एकीकरण अथवा पृथकता के अनुसार* तरह-तरह के होते हैं, यह भिन्नता बाधाओं के अनुरूप हो सकती है जो बहुसंख्यक समूह उद्देश्यों को प्राप्त करने के संबंध में लगाता है। अल्पसंख्यकों की विद्यमानता सभी देशों में एकीकरण और अल्पसंख्यक अधिकारों' की समस्या को जन्म देती है। वे लोग जो राज्य और समाज में गहरा तादात्म्य स्थापित करना चाहते हैं, वे अल्पसंख्यकों को संरक्षण देने के बजाय उनके अलग अस्तित्व को समाप्त करने पर बल देते हैं। राज्य सभी अल्पसंख्यकों को संगठन की आदतों को छोड़ देने तथा बहुसंख्यक में सम्मिलित होने के लिए दबाव डालने का प्रयास कर सकता है अथवा यह उन्हें भिन्न कानूनी अधिकार प्रदान कर सकता है जिसमें बहुसंख्यकों द्वारा मांगी गयी सुविधाओं से अल्पसंख्यकों को अलग रख सकता है । फिनलैंड में स्वीडन के फिन्न संख्या में *अल्पसंख्यक हैं*, किंतु सामाजिक दृष्टि से वे फिनलैंड के फिन्नों की तुलना में ज्यादा अनुपात में हैं शासक अभिजन के एक भाग हैं। दक्षिणी अफ्रीका में काले लोग संख्या में बहुसंख्यक हैं किंतु सामाजिकों की दृष्टि से अल्पसंख्यक हैं। संख्या की दृष्टि से बहुसंख्यक किंतु सामाजिकों की दृष्टि से अल्पसंख्यकों के संरक्षण के लिए 'एक-व्यक्ति-एक मत' के सिद्धांत पर आधारित प्रजातंत्र प्राय पर्याप्त होता है। बेल्जियम में पूर्व में शासित फ्लेमिश्-लोगों को प्रजातंत्र के द्वारा राजनीतिक रूप से प्रधान होने में सहायता मिली है। अल्पसंख्यकों की संख्या की दृष्टि से काफी कम होने पर भी प्रजातांत्रिक सिद्धांतों पर आधारित कोई सामान्य तकनीक इस प्रकार अपनायी जा सकती है कि जिसके द्वारा सरकार में इनके प्रतिनिधित्व को बढ़ाया जा सकता है अथवा सरकार के कुछ भागों अथवा स्तर पर नियंत्रण दिया जा सकता है या उन पर कम-से-कम विशेष प्रभाव की शक्ति दी जा सकती है । क्षेत्रीय रूप से संकेंद्रित *अल्पसंख्यकों को संरक्षण देने के लिए संघवाद को अपनाया जा सकता है* क्षेत्रीय रूप से बिखरे अल्पसंख्यकों के लिए समानुपातिक प्रतिनिधित्व को उचित माना जा सकता है। सहयोगात्मक तकनीकें जैसे उच्च सम्मिलन (संयुक्त) अथवा अन्योन्य निषेधाधिकार (वीटो) का सहारा लिया जा सकता है ।

प्राय समता पर आधारित प्रजातंत्र का सामान्य व्यवहार अल्पसंख्यकों को संरक्षण देने के लिए पर्याप्त नहीं होता है । अल्पसंख्यकों के संरक्षण के लिए उनको विशेषाधिकारों की स्थापना की आवश्यकता पड़ सकती है, उदाहरणार्थ साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को *अपनाकर बहुसंख्या चुनाव पद्धति का बिना त्याग किये* अल्पसंख्यकों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व अथवा यहा तक कि संख्या के अनुपात से ज्यादा प्रतिनिधित्व की गारंटी दी जा सकती है । कुछ देशों ने धर्म, भाषा, जाति अथवा प्रजाति को मापदंड मानकर मतदाताओं की अलग सूची तैयार की है जो मतदाता अपने प्रतिनिधि चुनते हैं। 1960 के चुनाव में साइप्रस में ग्रीक और तुर्की मतदाताओं की अलग सूची, जिम्बाब्वे में

भारत मे अल्पसख्यको को सरक्षण

भारत मे भिन्नता के प्रमुख क्षेत्र पाच हैं। वे हैं धर्म भाषा, क्षेत्र जनजाति और आम जनता तथा शिक्षित मध्य वर्गीय नेता जनो मे वर्गीकरण । ये विभेद भारतीय समाज को ऊर्ध्वाधर और समस्तरीय रूप से विभाजित करते है तथा एकीकरण मे लगी हुई शक्तियो के समक्ष चुनौती प्रस्तुत करते हैं । वे राजनीतिक व्यवस्था जिसका उद्देश्य राजनीतिक और आर्थिक विकास तथा स्थायित्व होता है पर निरोधक दबाव डालते हैं । भारत मे अल्पसख्यको की कोई सतोषजनक परिभाषा देना बडा कठिन है । कोई विशिष्ट वर्ग अल्पसख्यक समझा जाता है तो इसलिए कि वे अपने को अल्पसख्यक के रूप मे देखते हैं। सिद्धात की दृष्टि से अल्पसख्यक और बहुसख्यक की कोई भी अवधारणा तर्क-सगत नही है । वे लोग जो 50% से कम हो उन्हे अल्पसख्यक कहा जाना चाहिए । किंतु प्रश्न उठता है कि किसका 50% ? सपूर्ण जनसख्या मे हिंदू 82 72% होने के कारण अधिसख्या मे हैं किंतु वे जम्मू और काश्मीर पजाब तथा नागालैड मे अल्पसख्या मे हैं वहा क्रमश मुसलमान सिख और ईसाई बहुसख्यक हैं । साथ ही हिंदू ऊर्ध्वाधर तथा समस्तरीय रूप से अनेक वर्गो तथा उपवर्गो मे विभक्त हैं ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य या अनुसूचित जातिया और जनजातिया सभी अलग-अलग 50% से कम हैं । धर्म, सस्कृति भिन्नता भारत जैसी अन्यत्र नही है । एक प्रात का हिंदू भाषा अथवा सस्कृति के आधार पर दूसरे प्रात मे अल्पसख्यक हो सकता है । भारत मे मुसलमान भी सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक आधारो पर आपस मे पृथक है, शिया-सुन्नी के अतिरिक्त वोहरा, ख्वाजा, मेमन आदि प्रमुख समूह मुसलमानो मे पाये जाते हैं । अत यह कहा जा सकता है कि भारत अल्पसख्यको का एक परिसघ है ।[4]

भारत मे धार्मिक दृष्टि से मुसलमान ईसाई तथा सिख अपन को राष्ट्रीय अल्पसख्यक मानते हैं । मुसलमान सबसे बडे अल्पसख्यक हैं जो सपूर्ण आबादी के लगभग 12% हैं । यदि ये एक समूह के रूप मे मतदान करते हैं तो एक चौथाई ससदीय चुनाव क्षेत्रो मे इनकी भूमिका निर्णायक सिद्ध होती है । हालांकि स्वतत्रता प्राप्ति के बाद देश के विभाजन के दोष का भाव अनेक मुसलमान नेताओ म विद्यमान था किंतु आज की युवा पीढी उतनी ही अपने को भारतीय मानती है जितना अन्य लोग अपने पूर्वजो की तरह से उनके अदर पाकिस्तान बनाने का अपराध भाव नही है किंतु वे शारीरिक और आर्थिक रूप से असुरक्षित अनुभव करते हैं क्योकि उनमे से अधिकाश गरीबी भुखमरी, बीमारी और अधविश्वास की जिदगी जी रहे हैं शैक्षिक रूप से पिछडे हैं । इनमे से अधिकाश ऐसे पेशे मे लगे हुए है जो समाज म निम्न कोटि के समझे जाते थे अथवा जो ह्रासोन्मुख स्थिति मे हैं । सपन्न व्यापारी अधिकाशत पूर्वी तथा पश्चिमी तटो पर है जो परपरागत व्यवसायो में लगे हैं । कुछ लोग अन्य समुदाय के लोगो की तरह तस्करी के बल पर सपन्न हुए हैं किंतु इस समुदाय के जो तस्करी के बल पर सपन्न हुए हैं, उन लोगो ने सरकार तथा जनता का ध्यान कुछ ज्यादा ही अपनी तरफ आकर्षित किया है । इसी प्रकार कुछ वर्षो से खाडी से आने वाला धन तथा उसका अनेक तरह के धार्मिक कार्यो म प्रयोग ने भी

स्थानीय संतुलन को बिगाड़ा है।

ईसाई, जो जनसंख्या में दो प्रतिशत से कुछ ज्यादा हैं, शेष लोगों से शैक्षिक रूप से ज्यादा विकसित हैं। अनेक शैक्षिक तथा मेडिकल संस्थाओं को चलाने में इनके प्राधान्य के कारण इन्हें समाज में अभिजन वर्ग का दर्जा मिला हुआ है। भारत के उत्तर-पूर्वी क्षेत्र में धर्म परिवर्तन के कुछ प्रयासों को लेकर कट्टरपंथी हिंदुओं तथा ईसाई मिशनरियों के बीच कटुता रही है। इन मिशनरियों की कुछ गतिविधियां राष्ट्र-विरोधी रहीं जिसके कारण अरुणाचल प्रदेश में गैर-हिंदू पुजारियों के प्रवेश पर रोक लगा दी गयी। किंतु दक्षिणी भारत के ईसाई राष्ट्रीय तथा स्थानीय व्यवसाय में भली प्रकार एकीकृत हो गये हैं तथा उनकी भूमिका कुछ प्रभावशाली हिंदू जातियों से किसी मामले में कम नहीं है। सन साठ के दशक में उनके अनेक धार्मिक अनुष्ठानों यहां तक कि नामों का हिंदूकरण हुआ है।

सिख भारत की जनसंख्या के लगभग 2% हैं तथा देश के अन्य लोगों से आर्थिक रूप में संपन्न हैं। कृषि, ट्रांसपोर्ट, लघु उद्योग, व्यापार तथा सेना के क्षेत्र में इन्होंने विशिष्ट स्थान बना लिया है। सिखों ने आर्थिक क्रियाओं, धर्म, राजनीति तथा सेना के इतिहास में अपनी अलग पहचान बना ली है। हालांकि सिख हिंदू धर्म से अलग नहीं माने जाते थे हमारा संविधान भी इन्हें हिंदू धर्म में सम्मिलित मानता है किंतु हाल की घटनाओं ने *हिंदुओं तथा सिखों के मध्य घनिष्ठ संबंधों में दरार डाल दी है।*

धार्मिक अल्पसंख्यकों ने पश्चिम में धर्मनिरपेक्ष राज्य के विकास में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। भारत में भी धर्मनिरपेक्षवाद को अपनाने में अल्पसंख्यकों की नकारात्मक ही सही, किंतु महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। सर्व धर्म समभाव पर वे हमेशा बल देते रहे। संविधान निर्माताओं ने भी इस सिद्धांत को अपनाकर अल्पसंख्यकों को उचित संरक्षण प्रदान किया। हमारे संविधान में अल्पसंख्यकों के सांस्कृतिक, भाषिक और इसी प्रकार के कुछ अन्य अधिकारों के संरक्षण के लिए कुछ स्थायी रक्षोपाय किये गये हैं। ये समुदाय के उस वर्ग के लिए हैं जो संख्या की दृष्टि से अल्पमत में है। प्रजातंत्र में बहुसंख्यक लोगों द्वारा अत्याचार किये जाने की संभावना हमेशा बनी रहती है। इसलिए इन रक्षोपायों की व्यवस्था की गयी है ताकि लोकतंत्र का उपयोग बहुसंख्यक लोगों द्वारा अत्याचार के लिए न किया जाये। हमने दूसरे अध्याय में देखा है कि दो राष्ट्रों के नारे को आधार बनाकर सुनियोजित ढंग से नरसंहार किया गया और उसके परिणामस्वरूप देश का विभाजन हुआ। भारतीय राजनीति पर मोर्ले मिंटो योजना द्वारा सांप्रदायिक *प्रतिनिधित्व थोपा गया था। भारत के राजनीतिक जीवन में पृथकतावादी मनोवृत्ति का* बीज डालने के बाद साम्राज्यवादी शक्तियों ने भारतीय लोगों के बीच फूट डालने के लिए प्रत्येक अवसर का लाभ उठाते हुए उन्हें दो परस्पर शत्रु खेमों में विभाजित कर दिया था और स्थिति को यहां तक पहुंचा दिया था कि भारत को स्वतंत्रता देने से इनकार करने में उसे कारण बनाया जा सके। यही कारण है कि हमारे संविधान के रचयिताओं ने सत्ता के लिए सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व का उपबंध नहीं किया। अध्याय तीन में हमने देखा है कि धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार प्रत्येक नागरिक को उपलब्ध है। ये अधिकार धार्मिक

अल्पसंख्यकों की रक्षा करते हैं। जबकि हमारे पड़ोसी पाकिस्तान और बंगलादेश में इस्लाम धर्म को महत्त्व देने के लिए एक के बाद एक कदम उठाये जाते रहे किंतु हमारे संविधान में किसी भी धर्म को अग्रसर करने के लिए कोई उपबंध नहीं है। सभी धर्मों के साथ समान व्यवहार करने की अपेक्षा की गयी है। संविधान में भाषिक और सांस्कृतिक अधिकारों की प्रत्याभूति दी गयी है। कोई भी सांस्कृतिक अल्पसंख्यक जो अपनी भाषा या संस्कृति बनाये रखना चाहता है तो उन पर राज्य विधि द्वारा बहुसंख्यकों की या किसी स्थान की अन्य संस्कृति को अधिरोपित नहीं किया जा सकता है। 'यह उपबंध धार्मिक अल्पसंख्यकों को भी संरक्षण देता है और भाषिक अल्पसंख्यकों को भी। राष्ट्र भाषा के रूप में हिंदी के प्रोन्नयन में या अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा प्रारंभ करने अनुच्छेद 29-30 द्वारा प्रत्याभूत अल्पसंख्यक समुदाय के भाषिक अधिकार को नहीं छीना जा सकता। वस्तुतः संघ और राज्य की सरकारें सरकार के खर्च पर मुसलमानों की भावनाओं की तुष्टि के लिए उर्दू का प्रोन्नयन करती रही हैं।[5] संविधान में मातृभाषा में शिक्षा की सुविधाओं की व्यवस्था करने का निर्देश दिया गया है। भाषाई अल्पसंख्यकों के लिए विशेष अधिकारी नियुक्त किये जाने की व्यवस्था है।[6] अनुच्छेद 29 (2) के अनुसार राज्य की शैक्षिक संस्थाओं में विभेद न किये जाने की व्यवस्था है। इस उपबंध का आशय न केवल धार्मिक अल्पसंख्यकों को संरक्षण प्रदान करना है बल्कि स्थानीय या भाषाई अल्पसंख्यकों को भी। सभी अल्पसंख्यकों को अपनी रुचि की शिक्षा संस्थाएं स्थापित करने का और उनके प्रशासन का अधिकार दिया गया है। अपनी भाषा या लिपि बनाये रखने का अधिकार दिया गया है। शिक्षा संस्थाओं को सहायता देने में राज्य किसी शिक्षा संस्था के विरुद्ध इस आधार पर विभेद नहीं करेगा कि वह धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रबंध में है।[7] अनुच्छेद 31 के निरसन के परिणामस्वरूप सभी व्यक्तियों का राज्य द्वारा संपत्ति के अर्जन के लिए प्रतिकर पाने का संवैधानिक अधिकार समाप्त कर दिया है। इसमें बहुसंख्यक समुदाय की शिक्षा संस्थाएं भी आती हैं किंतु अल्पसंख्यक समुदाय की शिक्षा संस्थाओं को इस स्थिति से बाहर रखा गया है। उनकी संपत्ति को प्रतिकर दिये बिना राज्य द्वारा अर्जित नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसा किया जाना अनुच्छेद 30 (1) (क) द्वारा प्रत्याभूत अधिकार का उल्लंघन होगा। लोक नियोजन में भी अल्पसंख्यकों के साथ विभेद नहीं किया जा सकता है।

इस प्रकार अल्पसंख्यकों को भारत में जिस प्रकार का संरक्षण प्रदान किया गया है वैसा अन्यत्र शायद किसी भी देश में प्रदान नहीं किया गया है। संविधान सभा में अल्पसंख्यक समुदाय के अनेक सदस्यों ने अल्पसंख्यकों से संबंधित इन उपबंधों पर अपना संतोष व्यक्त किया। लंदन के 'द टाइम्स' ने अपने संपादकीय में 1949 में यह टिप्पणी की कि जिस धर्मनिरपेक्ष आदर्श, धार्मिक रूप से निरपेक्ष का श्री नेहरू और उनके सहयोगी समर्थन कर रहे हैं वह विशेष रूप से सुरक्षित किया जा चुका है। चेस्टर बाउल्स ने कहा कि श्री नेहरू की एक सबसे बड़ी उपलब्धि एक ऐसे राज्य का निर्माण है जिसमें वे 4.5 करोड़ मुसलमान जिन्होंने पाकिस्तान न जाने का निर्णय लिया शांतिपूर्वक रह सकते हैं और जैसे चाहे वैसे उपासना कर सकते हैं।[8] पं. जवाहरलाल नेहरू ने अल्पसंख्यकों से

आत्मविश्वास जगाने के लिए हर संभव प्रयास किया। उन्होंने अल्पसंख्यकों को संरक्षण देने के लिए अप्रैल, 1950 मे लियाकत अली खान के साथ दिल्ली मे समझौता किया। उन्होंने हमेशा अपने वक्तव्यों लेखों तथा भाषणों में धर्मनिरपेक्ष सिद्धांतों पर बल दिया तथा अल्पसंख्यकों को अनेक प्रकार का प्रोत्साहन दिया। परिणामत भारत मे अल्पसंख्यक राष्ट्रपति उपराष्ट्रपति मंत्री राजदूत राज्यपाल मुख्यमंत्री सेना के उच्च अधिकारी अनेक आयोगों के अध्यक्ष आदि पदों को सुशोभित किये हैं और कर रहे हैं। आज अल्पसंख्यकों तथा बहुसंख्यकों के रहन सहन वेश भूषा खान पान भाषा-बोली मे अंतर कम होता जा रहा है किंतु जो सबसे दु खद बात है वह यह है कि आये दिन विभिन्न सम्प्रदायों के बीच साम्प्रदायिक दंगे भड़क उठते हैं जो धर्मनिरपेक्ष मूल्यों को खोखला करते चले जा रहे हैं तथा राष्ट्र के शरीर को क्षयरोग के कीटाणु की भांति निर्बल बनाते जा रहे हैं।

स्वतंत्रता से पूर्व हिंदू-मुस्लिम सम्प्रदायवाद

सम्प्रदायवाद, आज भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के सामने सबसे बड़ी चुनौती प्रस्तुत कर रहा है, यह समाज को छिन्न भिन्न कर रहा है देश की एकता और अखंडता को संकटग्रस्त कर दिया है तथा देश मे इसने क्रूरता और घृणा का साम्राज्य फैला दिया है। सम्प्रदायवाद किसी धर्म (अथवा जाति/समुदाय/पंथ) के व्यक्ति अथवा समूह की मन स्थिति है जो इस भावना से उत्पन्न होती है कि उसके/उनके विश्वास के सामने वास्तविक अथवा काल्पनिक संकट विद्यमान है जिसका धर्म (अथवा जाति/ समुदाय/ पंथ) के सदस्यों के सामूहिक प्रयासों द्वारा सामना किया जाना चाहिए। सम्प्रदायवाद मूलत एक विचारधारा है जिसकी अभिव्यक्ति कभी-कभी साम्प्रदायिक दंगों मे हो जाती है। साम्प्रदायिक विचारधारा बिना कोई साम्प्रदायिक दंगा हुए भी विद्यमान रह सकती है तथा विकसित हो सकती है। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि साम्प्रदायिक समस्या मुगलकाल मे भी थी किंतु इसने विकराल रूप ब्रिटिश काल मे विशेषकर 20वीं शताब्दी मे धारण किया। 1693 मे अहमदाबाद मे दंगे हुए थे जिसमे सामान्य जन सम्मिलित हुए थे। होली मनाने और गोहत्या के प्रश्न पर 1714 म अहमदाबाद म साम्प्रदायिक दंगे हुए थे। हिंदुओं और मुसलमानों के बीच प्राय धार्मिक जलूसों पर हमले को लेकर कश्मीर मे 1719 20 मे, दिल्ली मे 1729 मे महाराष्ट्र के विदर्भ क्षेत्र मे 1786 मे दंगे हुए थे। 19वीं शताब्दी म *दूसरे मे बनारस (1809 15) कोली (1820) मुरादाबाद सभल गाजीपुर (1833) शाहजहांपुर (1837) बरेली कानपुर और इलाहाबाद (1837 52) आदि स्थानों पर अनेक साम्प्रदायिक उपद्रव हुए थे।*[9] *1893 मे गोहत्या को लेकर मऊ (आजमगढ) म दंगे* हुए थे, जो धीरे धीरे यू पी, बिहार गुजरात और बाबे के काफी क्षेत्र को अपनी चपेट म ले लिया था तथा इनमे 107 लोग मारे गये थे।[10] मालाबार क्षेत्र मे भी 1873 1885 1894 और 1896 मे दंगे हुए थे। केंद्रीय प्रदेशों मे 1889 मे महाराष्ट्र के नासिक जिले म 1894 म, *पोरबंदर मे 1895, मुल्तान म 1881 म तथा पंजाब म कुछ क्षेत्रों मे 1881 और 1893 के*

बीच एक के बाद एक दंगे हुए थे। 19वीं शताब्दी तक दंगे नियमित रूप नहीं धारण किये थे। पहले दंगे उतने घातक नहीं थे जितना कि 20वीं शताब्दी में हो रहे हैं क्योंकि संचार के माध्यमों का उतना विकास न होने के कारण उनका क्षेत्र सीमित होता था। साथ ही तकनीकों का विकास न होने के कारण इन दंगों में विकसित हथियारों का इस्तेमाल नहीं होता था। विभिन्न समुदायों में अलगाव 20वीं शताब्दी जैसा उग्र नहीं था। अतत राज्य-शक्ति पर नियंत्रण के लिए दोनों समुदायों में संघर्ष नहीं था।

1857 से पहले शासक अपनी प्रजा को समुदायों में बाटने का प्रयास करने के बजाय उन्हें एक-दूसरे के करीब लाने का अनेक प्रयास करते रहे। सुल्तानों उनके उलेमाओं और काजियों का प्रयास महत्त्वपूर्ण न भी रहा हो किंतु सूफी-संतों का प्रयास निश्चय ही सराहनीय रहा। वे जनता के हृदय पर शासन करते थे। रूमी ने 'अहम् ब्रह्मास्मि' की तरह कहा कि 'मैं खुदा हू' या 'ईसावास्यमिदम सर्वम्' की तरह जो कुछ है वह खुदा है। अनेक हिंदू और मुसलमान मजारों पर दीये जलाते थे और पीरों को नमन करते थे। सूफी संतों ने आम लोगों की बोली और भाषा अपनायी। अनेक ने हिंदी भाषा को माध्यम बनाया। दोनों समुदायों के लोग एक-दूसरे के त्यौहारों में कुछ हद तक सम्मिलित होने लगे थे। हिंदू और मुस्लिम संस्कृतियों ने एक-दूसरे को काफी हद तक प्रभावित किया था। बीजापुर के सुल्तान का कहना था कि वह गणेश जी से प्रेरणा लेता था। बंगाल का शासक परगल खान प्रतिदिन शाम को महाभारत का पाठ सुनता था। कुछ सूफियों ने हिंदू धर्म की अनेक बातें अपना ली थीं। अनेक लोगों ने उपदेश दिया कि ईश्वर और अल्ला एक ही है। अनेक धर्मांतरित मुसलमानों ने हिंदू नामकरण तक को अपना लिया था। मुगल सम्राट केवल गंगाजल पीते थे वे प्रतिदिन सुबह झरोखा-दर्शन देते थे और प्रतिवर्ष तुला-दान करते थे।

मुगल साम्राज्य मूलत दिल्ली और जयपुर के सम्मिलन से शासित था। हम बिना मानसिंह के अकबर के बारे में नहीं सोच सकते—और यहा तक कि बिना जयसिंह और जसवंत सिंह के औरंगजेब के बारे में नहीं सोच सकते। वस्तुत मुगल शासक एक सर्वोच्च जमींदार थे जो स्थानीय विशिष्ट व्यक्तियों पर निर्भर करते थे।[11] हिंदू समाज ने भी जहा हर तरह के दमन का विरोध किया वहीं पर इस्लाम की निंदा महज इसलिए नहीं की गयी कि दमन करने वाला मुसलमान था। हिंदू सर्व धर्म समभाव के विचार में पला था, उसे मित्रस्य चक्षुषा पश्यम् की शिक्षा दी जाती थी।[12]

हिंदू राजा तथा मुस्लिम बादशाह दोनों की सेनाओं में हिंदू और मुसलमानों का मिश्रण होता था, अनेक हिंदू राजाओं के प्रधान सेनापति मुसलमान रहे तथा बादशाहों के सेनापति हिंदू रहे। इस प्रकार हिंदू और मुस्लिम संस्कृति में उत्तरोत्तर संश्लेषण होता रहा। प्रो मुजीब का कहना है कि 1750 से 1850 तक जितनी ज्यादा एक समानता रही उतनी न तो पहले कभी रही और न ही बाद में कभी हुई। वास्तव में देखा जाये तो सांस्कृतिक एक समानता औरंगजेब की मृत्यु के बाद अत्यधिक वास्तविक थी तथा वह 1907 तक बनी रही।[13]

दोनों समुदायों में तनाव के कारण प्राय गोहत्या तथा मस्जिदों के समक्ष संगीत

हुआ करते थे। गाय का प्रश्न मध्यकाल में भी महत्त्वपूर्ण रहा। अकबर ने अपने राज्य में गोहत्या पर निषेध लगा दिया था तथा स्थानीय उत्तराधिकारी शासकों ने भी इस नीति का पालन किया। 1847 में ब्रिटिश सरकार ने भी अमृतसर में गोहत्या पर रोक लगा दी थी, बहादुरशाह जफर ने भी 1857 के विद्रोह के दौरान ऐसा ही किया था। 1857 की क्रांति में हिंदुओं और मुसलमानों ने एक साथ लड़ाई लड़ी थी। बल्कि हिंदुओं से ज्यादा मुसलमानों ने भाग लिया था।

1857 के बाद ब्रिटेन ने हिंदू मुस्लिम अलगाव के बीज भारत में बोये। हिंदुओं और मुसलमानों को विभाजित करने के हर संभव प्रयास किये गये। इस समय तक ब्रिटिश भारतीय सेना मिश्रित होती थी। एक ही इकाई में हर धर्म और जाति के लोग हुआ करते थे। 1857 के बाद अंग्रेज़ों ने सेना को पुनर्गठित किया। हिंदू मुस्लिम सिख जाट राजपूत गोरखा महार आदि रेजीमेंट अलग-अलग बनाये गये। चूंकि मुसलमानों ने ज्यादा सक्रिय *भाग लिया था इसलिए अंग्रेजों की नाराजगी हिंदुओं की अपेक्षा मुसलमानों से ज्यादा* थी। किंतु 1905 के बाद स्थिति बदल गयी। ब्रिटिश सरकार ने मुसलमानों को आगे बढ़ाना शुरू कर दिया। धीरे धीरे उच्च वर्गीय मुसलमानों और ब्रिटिश सरकार के बीच गठबंधन स्थापित हो गया। वस्तुतः अल्पसंख्यक संप्रदायवाद और साम्राज्यवाद कंधे से कंधा मिलाकर उभरते हुए राष्ट्रवाद के खतरे का सामना करने के लिए एक जुट हुए थे।

बंगाल का विभाजन किया गया मुस्लिम लीग की स्थापना की गयी मुसलमानों तथा अन्य अल्पसंख्यकों के लिए मतदान को आसान बनाया गया। इस प्रकार प्रतिक्रिया स्वरूप हिंदू महासभा की स्थापना हुई। राष्ट्रवादियों को छोड़कर समूचे भारत के लिए बात करने वाला कोई नहीं था सब अपने-अपने संप्रदायों की बात करने लगे थे। इस प्रकार हम विभाजित होते चले गये और वे शासन करते गये। कांग्रेस द्वारा राष्ट्रवाद और मुस्लिम संप्रदायवाद के अंतर्विरोध को समाप्त करने के प्रयास किये गये किंतु असफल रहे। मुस्लिम लीग के नेता मुसलमानों के लिए उचित तथा समर्थ प्रतिनिधित्व की बात को अलग-अलग रूपों में उठाते रहे। दूसरी तरफ हिंदू महासभा हिंदुओं के हितों की अवहेलना का शोर मचाती रही। संप्रदायवाद का ज़हर राष्ट्र की काया में फैलता ही गया।

मुस्लिम संप्रदायवादियों ने पहले खुली प्रतियोगिता के सिद्धांत का विरोध किया और राजकीय सेवाओं में अपनी नियुक्ति के लिए मुस्लिम समुदाय की उच्च ऐतिहासिक भूमिका को आधार बनाया। तत्पश्चात् विधानमंडलों और सरकार की कार्यकारिणी में उन्होंने अलग मुस्लिम प्रतिनिधित्व की मांग इस आधार पर की कि बिना इस सहारे के उनके समुदाय तथा उनकी संस्कृति का विनाश और स्वतंत्र अस्तित्व पूरी तरह से नष्ट हो जायेगा। मुस्लिम नेता संप्रदायवाद के चंगुल में इतनी मजबूती से जकड़ उठे थे कि अंत में कहने लगे कि यदि देश के विभाजन की मांग को स्वीकार नहीं किया गया तो मुस्लिम समुदाय और संस्कृति के सभी चिह्न विलुप्त हो जायेंगे। 1940 में लीग के अध्यक्षीय भाषण में जिन्ना ने कहा

हमारे हिंदू मित्र इस्लाम और हिंदू धर्म की प्रकृति को समझने मे क्यो विफल हुए हैं, यह कहना अत्यत कठिन है वास्तविक अर्थों मे यह शब्द धर्मों के सूचक नही हैं वरन् ये तो विभिन्न और विशिष्ट सामाजिक पद्धतिया हैं और यह दोनो मिलकर समान राष्ट्रीयता को जन्म देगी, यह स्वप्न की बात है। एक भारतीय राष्ट्र सबधी गलत धारणा को अत्यधिक तूल दिया जाता है और हमारे अधिकतर कष्टो का कारण भी यही है। यदि समय रहते इन गलत धारणाओ को बदला नही गया तो भारत का विनाश हो जायेगा हिंदुओ और मुसलमानो का सबध दो विभिन्न धार्मिक दर्शनो सामाजिक रीति-रिवाजो और साहित्यो से है हिंदू और मुसलमान दो विभिन्न ऐतिहासिक स्रोतो से प्रेरणा प्राप्त करते हैं। इनके महाकाव्य भिन्न वीर नायक भिन्न और उपन्यास भी विभिन्न हैं। ऐसे दो राष्ट्रो को एक ही राष्ट्र मे जोतना जबकि इनमे से एक अल्पसख्यक और दूसरा बहुसख्यक है, असतोष को बढावा देता है और इस आधार पर जो भी भावी प्रशासनिक ढाचा खडा किया जायेगा वह कुछ ही दिनो मे ढह जायेगा।[14]

जिन्ना का मानना था कि आर्थिक रूप से रिक्त और वित्तीय रूप से शून्य 'मुसलमानो के हितों' का पूजीवादी हिंदुओं' के हितो के साथ कभी सामजस्य नही हो सकता है।

अनेक प्रकार के प्रचार द्वारा साप्रदायिकता को भडकाया गया यह कहा गया कि हिंदुओ के विपरीत मुसलमान उन विशेषताओ से सपन्न हैं जो एक शासक जाति मे होती है। वे सामर्थ्यवान थे उन्हे मालूम था कि शासन कैसे किया जाता है तथा उनके पास वह शारीरिक शक्ति थी जिसका कायर हिंदुओ मे अभाव था। मुसलमानो के सात सौ वर्षों के इतिहास को उनकी नस्ल की उच्चता का प्रमाण बताया गया। 4 अप्रैल, 1939 के दिल्ली मे प्रातीय लीग के सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए महमूदाबाद के राजा ने घोषणा की

> करोडो (बनियो) को जान लेना चाहिए कि वह समुदाय जिसने कभी आठ सिपाहियो के बल पर भारत जीता था आज भी अपनी शर्तें मनवा सकता है। यदि मुस्लिम सघ के निर्माण मे हमारे रास्ते में कोई बाधा खडी की गयी करोडो के कान मरोड दिये जायेंगे और उन्हे धूल चाटनी होगी। विश्व इतिहास मे इस (मुस्लिम) समुदाय की आज भी एक भूमिका है और यदि शोर मचाने वाले कलमघसीटू जैसे कि हिंदू हैं, हमारा विरोध करने का साहस करते हैं (तो) उनका नामोनिशान इस दुनिया मे मिटा दिया जायेगा।[15]

हिंदुओ के ऊपर सदैव से चली आती मुस्लिम श्रेष्ठता को प्रमाणित करने के लिए नजीबाबाद के मौलाना अकबरशाह ने प्रस्ताव रखा, "हिंदुओ और मुसलमानो की प्रतियोगिता की स्थिति मे पानीपत की एक चौथी लडाई लडनी चाहिए।' समूचे भारत को इस्लाम के लिए फिर से जीतने की बात कही गयी। यह भी कहा गया कि अगर हिंदू

राज्य स्थापित होता है तो हिंदू संभव हुआ तो मुसलमान और इस्लाम दोनों को खत्म कर देंगे। यह प्रचार किया गया कि मुसलमानों के जान-माल, सम्मान और धर्म की सुरक्षा हिंदुओं से पूरी तरह अलग हो जाने में है। मुस्लिम संप्रदायवाद के विकास में उलेमाओं की भी काफी भूमिका रही। मुसलमानों का अभिमान के साथ पृथक् निर्वाचन के अधिकार से हिंदू संप्रदायवाद को बढ़ावा मिला। अनेक हिंदू कांग्रेस की नीतियों की आलोचना करने लगे। कांग्रेस नेताओं पर अल्पसंख्यकों को प्रसन्न करने के लिए बहुसंख्यकों के हितों का बलिदान करने का अभियोग लगाया जाने लगा। पंजाब के हिंदुओं ने एक साम्प्रदायिक हिंदू आंदोलन का श्रीगणेश किया पंजाब में हिंदू अल्पसंख्यक थे तथा कांग्रेस द्वारा उपेक्षित अनुभव कर रहे थे। मुस्लिम लीग की विचारधारा तथा तरीकों की समता और सफलता से प्रभावित इन लोगों ने भी पंजाब के बहुसंख्यक मुसलमानों से अपने हितों की रक्षा के लिए उन्हीं के अनुकरण में हिंदू साम्प्रदायिक आंदोलन की शुरुआत की। मुस्लिम लीग की हनुमान की पूछ की तरह बढ़ती मांगें और साम्प्रदायिक रक्तपात हिंदू संप्रदायवाद को बल प्रदान करते रहे।

हिंदू महासभा के हिंदू धर्म तथा संस्कृति की रक्षा के साथ ही वैध साधनों द्वारा हिंदुस्तान की पूर्ण राजनीतिक व स्वतंत्रता' को लक्ष्य बनाया। विनायक दामोदर सावरकर ने धर्म और संस्कृति पर आधारित हिंदू राष्ट्रवाद का विचार रखा। उन्होंने राष्ट्रवाद की परिभाषा 'बहुसंख्यकों के राष्ट्रीय संप्रदायवाद' के रूप में दी। उनके विचार में बहुसंख्यक लोग ही राष्ट्रीय समुदाय होते हैं। देश का शासन उन्हीं के हाथों में रहता है। अल्पसंख्यक लोग अपने अलग धर्म और अलग संस्कृति को अक्षुण्ण बनाकर रख सकते हैं किंतु देश के सामान्य जीवन और प्रशासन में पूरी तरह से घुल मिल जाते हैं। उन्होंने हिंदुओं की राष्ट्रीय और साम्प्रदायिक आकांक्षाओं में कोई सैद्धांतिक मतभेद नहीं देखा।[16] डॉ० के० शंकराचार्य ने घोषित किया कि हिंदुस्तान मुख्यतः हिंदुओं के लिए है और हिंदू लोग आर्य संस्कृति तथा हिंदू धर्म के संरक्षण तथा विकास के लिए जीवित हैं जिनसे संपूर्ण मानव जाति का कल्याण होगा।' इन लोगों के लिए स्वराज का अर्थ हिंदू स्वराज्य था। 'केवल एक भूखंड जिसे भारत कहा जाता है, उसकी भौगोलिक स्वतंत्रता को सच्चा स्वराज्य नहीं समझना चाहिए। हिंदुओं के लिए स्वाधीनता तभी प्राप्त करने योग्य होगी जब वह उनके हिंदुत्व उनकी धार्मिक, जातीय तथा सांस्कृतिक अस्मिता को सुरक्षित रखे।'

हिंदू नेताओं ने स्पष्ट करते हुए कहा कि वे

> अपने देशों से भागकर यहां शरण लेने वालों या उन भूतपूर्व हिंदुओं के वंशजों जिन्होंने सत्ता और धन के लोभ में अथवा भय के कारण अपने गौरवमय धर्म का त्याग कर दिया था और मुसलमान बन गये थे या उन बर्बर आक्रमणकारियों के वंशजों, जिन्होंने हमारी पवित्र भूमि को लूटा हमारे पवित्र मंदिरों को ध्वस्त किया, को देश का संयुक्त मालिक नहीं मान सकते देश उनका नहीं हो सकता है यदि उन्हें यहां रहना है तो उन्हें यह मानकर यहां रहना चाहिए कि हिंदुस्तान

हिंदुओं की भूमि है किसी और की नहीं।[17]

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के लोग तो इतना भी मानने को तैयार नहीं थे कि अल्पसंख्यक समुदायों को अपना अलग सांस्कृतिक अस्तित्व बनाये रखने का अधिकार है। वे अल्पसंख्यकों के हिंदूकरण पर बल देते हैं। हिंदू महासभा ने शुद्धि आंदोलन चलाया। यह दावा किया गया था कि 1922-23 में 4,50 000 मुस्लिम राजपूतों को पुनः शुद्धि द्वारा हिंदू धर्म में सम्मिलित किया गया था। मुसलमानों ने इसके विरोध में तंजीम आरंभ किया।

स्वतंत्रता से पूर्व का वातावरण साम्प्रदायिकता में वृद्धि से अत्यधिक विषाक्त हो गया था। परस्पर भय परस्पर अविश्वास एक दूसरे के जीवन के ढंग की निंदा, भारतीय इतिहास की निंदा/प्रशस्ति आदि साम्प्रदायिक प्रचार और साम्प्रदायिक विचारों के प्रमुख तत्त्व थे। 1924 में लाहौर के एक हिंदू पुस्तक विक्रेता ने रंगीला रसूल नाम से एक पम्फ्लेट प्रकाशित किया जिसमें पैगंबर साहब के बारे में आपत्तिजनक बातें कही गयी थीं। इसके कुछ समय बाद रिसाला वर्तमान' के नाम से एक मासिक पत्रिका में लेख छपा। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में दोनों समुदायों की तरफ से भयानक घृणा फैलाने का अभियान चला। जिसके परिणामस्वरूप छोटी-मोटी बातों को लेकर अनेक स्थानों पर दंगे भड़क उठे थे। कभी गोहत्या तो कभी मस्जिद के सामने सूअर कभी धार्मिक जुलूस तथा उसके रास्ते तो कभी संगीत को लेकर तो कभी हिंदू स्त्री का बलात्कार तो कभी हिंदुओं और मुसलमानों के त्यौहार एक साथ हो जाने से साम्प्रदायिक दंगे फूट पड़ते थे। कानून और व्यवस्था की अजीब समस्याओं से प्रशासन को जूझना पड़ता था। 1946 की एक घटना इस समस्या की गंभीरता का उदाहरण है। मुहर्रम त्यौहार के दौरान बनारस में मुसलमानों का ताजिया एक पीपल के नीचे से जाना था जो पीपल हिंदू मंदिर का था तथा जिसे हिंदू पवित्र मानते हैं। पीपल की एक नीचे लटकी हुई डाल ताजिये को ले जाने में रुकावट डाल रही थी तथा हिंदुओं ने पीपल की डाल काटने की अनुमति नहीं दी। हिंदुओं ने दोष लगाया कि उस वर्ष ताजिया और वर्षों की तुलना में बड़ा बनाया गया था। चूंकि मुसलमानों ने ताजिये को झुकाकर ले जाने से मना कर दिया, इसलिए तीन घंटे जुलूस वहां रुका रहा तथा दोनों तरफ से काफी गरम बहस चलती रही बिलकुल दंगा होने की नौबत आ गयी थी। पुलिस अधिकारी की कुशलता से बड़ा दंगा टाला जा सका उसने सड़क को एक फुट गहरा खुदवा दिया ताकि ताजिया सीधा करके ही ले जाया जा सके। इस तरह की घटनाएं प्रायः साम्प्रदायिक उपद्रवों का कारण बनती थीं।

बीसवीं शताब्दी में 1907 में पूर्वी बंगाल 1910 में पेशावर 1912 में अयोध्या 1913 में आगरा 1917 में शाहाबाद और 1918 में कटारपुर में साम्प्रदायिक उपद्रव हुए थे। 1920 के दशक में दंगों की बारम्बारता बढ़ गयी कोई भी प्रांत ऐसा नहीं बचा था जो दंगों की चपेट में न आया हो। 1921 का मोपला विद्रोह जिसमें असंख्य हिंदू मारे गये थे साम्प्रदायिक था। 1921 में मालेगांव 1922 में मुल्तान 1923 में लाहौर, अमृतसर तथा सहारनपुर में दंगे फूट पड़े थे। 1924 से इन दंगों ने अत्यधिक उग्र रूप धारण कर लिया था

जिसमे इलाहाबाद, कलकत्ता, दिल्ली, गुलबर्गा, जबलपुर, कोहात, लखनऊ, नागपुर तथा शाहजहापुर आदि स्थानो मे काफी लूटपाट, आगजनी, बलात्कार और हत्याए हुई थीं। 1925 के बाद आर्य समाज के शुद्धि और सगठन तथा मुसलमानो के तजीम और तब्लीग के कारण भी दगे होते रहे। 1926 तथा 1928 के कलकत्ता और बाबे के दगो में काफी जान-माल की क्षति हुई थी। कलकत्ता मे लगातार तीन दगो मे 141 लोग मारे गये थे तथा 1296 लोग घायल हुए थे। 1928 मे बबई मे 117 लोग मरे थे तथा 791 घायल हुए थे। सन् 1930 तथा 40 का दशक तो दगो की दृष्टि से अत्यधिक भयावह रहा। साम्प्रदायिक दगे राजनीति के साधन हो गये थे। उत्तर प्रदेश मे दगो की दृष्टि से 1937 से 1950 का समय सबसे खराब रहा। 1939 मे 1127, 1946 मे 374, 1947 मे 467 और 1950 मे 468 दगे हुए थे। इस प्रकार हिंदू-मुस्लिम सम्प्रदायवाद के कारण देश का विभाजन हुआ। 'दो राष्ट्रो के सिद्धात' पर पाकिस्तान की स्थापना की गयी यह समझा गया कि साम्प्रदायिकता पाकिस्तान के निर्माण से हल हो जायेगी किंतु दानव आज भी जिंदा है तथा दिन-प्रतिदिन विकराल होता चला जा रहा है।

स्वतत्रता के बाद सम्प्रदायवाद

देश विभाजन के बाद भी भारत मे साम्प्रदायिकता की समस्या बनी रही, 1947 मे पाकिस्तान बनने के बाद भी अधिकाश मुसलमानो ने भारत मे ही बसे रहने का निश्चय किया। महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि अधिकाश नेता जिन्हें मुस्लिम जन समर्थन प्राप्त था पाकिस्तान भाग गये किंतु इस परिवर्तन से जो रिक्तता आयी उसे आसानी से नही भरा जा सका। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि अधिकाश द्वितीय और तृतीय श्रेणी के मुस्लिम लीग नेता काग्रेस मे सम्मिलित हो गये। उन लोगो ने गाधी टोपी धारण कर ली तथा कई को तो दल मे पद भी मिल गये। किंतु उनसे विचारो मे परिवर्तन की उम्मीद नही की जा सकती थी।[18]

विभाजन के बाद केवल जमियत-उल-उलेमा-ए हिंद एक ऐसा मुस्लिम सगठन था, जिसकी गावो मे मुस्लिम जनता मे पैठ थी तथा जो काग्रेस के सहयोग मे काम कर रही थी, किंतु जमियत एक धर्म पर आधारित दल है, उलेमा इसके नेता हैं जो अपने समुदाय और गैर-मुस्लिमो के बीच कडी का कार्य नहीं कर सके। इनमे से अधिकाश उलेमा तो मुसलमानो मे सामाजिक सुधार करने की कौन कहे, उसकी आवश्यकता को अनुभव करने के लिए भी मानसिक रूप से तैयार नही हैं। इन लोगो द्वारा सामाजिक अनुदारवाद को धर्म के समान बना दिया गया है। वे विश्वास करने लगे हैं कि मुसलमानो की धार्मिक पहचान को सुरक्षित रखने के लिए सामाजिक प्रथाओ के साथ चिपके रहना आवश्यक है। परिणामत समुदाय का ध्यान वास्तविक प्रश्नो से हटकर केवल पहचान तक सीमित हो गया है।

स्वतत्रता से पूर्व मुस्लिम अस्मिता का प्रश्न मुस्लिम राजनीति का आधार बना

रहा। आज़ादी के बाद अस्मिता का दावा त्रिआयामी हो गया—धार्मिक अल्पसंख्यक, उर्दू-भाषायी अल्पसंख्यक और सांस्कृतिक अल्पसंख्यक। अधिकांश मुस्लिम नेताओं ने आधुनिकीकरण के सिद्धांतों को अपनाकर सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, स्वतंत्रता और समानता पर आधारित समाज की स्थापना में सहयोग देने के बजाय हर सामाजिक सुधारों का धर्म की आड़ लेकर विरोध किया। 'हर स्तर पर इस्लाम को जीवन का आदर्श कार्यक्रम माने। इस कारण से तथा मानवतावादी दृष्टिकोण से उनकी (मुसलमानों की) सफलता यही होगी कि दूसरे समुदाय भी इसे अपना समझकर स्वीकार करें और पवित्र कानून जिसे खुदा ने अपनी रहमत से घोषित किया है। सारे संसार पर राज्य करें।'[19]

स्वतंत्रता से पूर्व की भांति भारत के मुसलमान नेता इस प्रचार में लगे हुए हैं कि बिना राजनीतिक शक्ति और विशेषाधिकारों के उनके धर्म, भाषा और संस्कृति का अस्तित्व सुरक्षित नहीं रह सकता। वे भारत सरकार के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप को मानने को तैयार नहीं हैं क्योंकि इसमें लगभग 90 प्रतिशत हिंदू हैं। राजकीय सेवाओं में स्थानों का आरक्षण पृथक् निर्वाचन व्यवस्था सरकार द्वारा इस्लामी शिक्षा के प्रसार के लिए मुसलमानों के धार्मिक तथा सामाजिक मामलों में सरकार की तटस्थता उर्दू का राष्ट्रीय भाषा के रूप में मान्यता आदि की ये लोग मांग करते हैं। श्री एम० सी० छागला तथा एम० आर० बेग सरीखे व्यक्ति, आधुनिक और धर्मनिरपेक्ष विचारों के कारण इनकी आलोचनाओं के शिकार बनते रहे हैं 'गद्दार', 'काफ़िर' आदि उपाधियों से विभूषित किये जाते हैं। इन मांगों के समर्थन में ए० जेड० सरफ़राज़ ने लिखा है 'हिंदू विधायक सभी मुसलमानों के कष्टों को जानने की चेष्टा नहीं करते उनके निवारण के रास्ते खोजना तो बहुत दूर की बात है। मुसलमान विधायक सामान्यतः शक्तिहीन और असहाय हैं। इस भय से कि उन्हें साम्प्रदायिक न कहा जावे वे मुसलमानों की मांगों और कष्टों के समर्थन में अपनी आवाज़ उठाने का साहस नहीं करते संयुक्त निर्वाचन पद्धति के कारण पिछले अठारह वर्षों से मुसलमानों को बहुत हानि उठानी पड़ी है। मुसलमानों की आम राय में यह तथाकथित मुसलमान मंत्री मुस्लिम हितों के लिए बहुत घातक है। अपने पदों को सुरक्षित रखने के लिए छागला ऐसे लोग मुस्लिम हितों को क्षति पहुंचाने में भी नहीं झिझकते।'[20]

पिछले कुछ दशकों से साम्प्रदायिक संस्थाएं बल पकड़ती जा रही हैं तथा समूचे भारत में इस प्रकार के नये-नये संगठन बनते जा रहे हैं। आज़ादी के दो साल के अंदर ही घायल मुस्लिम लीग मूर्च्छा से जाग चुकी थी तथा कुछ ही वर्षों में कांग्रेस द्वारा गठित सरकार में हिस्सेदार होने के कारण सम्माननीय बन गयी थी। आंध्र प्रदेश में मजलिसे इत्तिहादुल मुसलमीन भी एक ताक़त के रूप में उभरकर आयी है। स्थिति ये है कि इसके नेताओं की तरफ़ अनेक दलों के नेता दोस्ती का हाथ बढ़ा रहे हैं। अपने को साम्प्रदायिक आधार पर ताक़तवर बनाने में जमाते इस्लामी भी पीछे नहीं रही। ध्यान देने योग्य बात है कि जमात कैडर पर आधारित दल है इसकी सदस्यता केवल कुछ चुने हुए लोगों तक ही सीमित है। देश विभाजन के बाद कुल 625 सदस्यों में से केवल 240 भारत में रह गये

थे । 1974 तक दल ने 348 शाखाएं खोल ली थी तथा 18 राज्यों में सक्रिय रूप से कार्य कर रहा था, यहा तक कि सुदूर स्थानों अंडमान, तक में यह सक्रिय है। पिछले दशक में इसने अपने आधार का और अधिक विस्तार किया है।[21] जमाते इस्लामी का उद्देश्य भारत को ही एक इस्लामी राज्य में परिवर्तित करना या उसका इस्लामीकरण करना है। यह हर प्रश्न को साप्रदायिकता की निगाह से देखता है। इसके नेताओं के विचारों की संकीर्णता कभी-कभी देश के लिए बड़ी घातक रही है। 1965 में भारत-पाक युद्ध के एक सप्ताह पहले 'दावत (जमातेइस्लामी का उर्दू साप्ताहिक) ने मौलाना मादी का वह साक्षात्कार छापा था जिसमें उन्होंने पाकिस्तानी घुसपैठियों के कारनामों को जेहाद कहकर गौरवान्वित किया था उसके सपादकीय में भी पाकिस्तान के दृष्टिकोण का समर्थन किया गया था। इतना ही नहीं मुस्लिम मजलिस का भी दृष्टिकोण साप्रदायिक ही रहा है ।

कभी-कभी यह तर्क दिया जाता है कि मुस्लिम अल्पसख्यक तभी सुरक्षित रहेंगे जब दो लाख हरिजन अगले दशक तक धर्म परिवर्तन करके इस्लाम में मिला लिये जाये। इस योजना की सर्वप्रथम चर्चा 8 जून 1980 को जमाते इस्लामी द्वारा आयोजित बगलौर मे एक शिक्षा सम्मेलन में की गयी थी। इस सम्मेलन में और लोगो के अलावा इस्लामिक इजुकेशनल सेंटर लदन के निदेशक श्री मोहम्मद अब्दुल खैर बदावी ने भाग लिया था। बदावी ने मुस्लिम राष्ट्रों को अपनी रिपोर्ट मे कहा कि गरीब हरिजनो को इस्लाम मे धर्म परिवर्तित करने के लिए बिलकुल सही समय है। इस सम्मेलन के बाद जब 1981 मे मीनाक्षीपुरम तथा दक्षिणी भारत के अन्य स्थानो पर धर्म-परिवर्तन की घटनाए हुई तो इन्हे बगलौर के सम्मेलन से जोडा जा रहा था ।

अधिकाश मुस्लिम सगठनो को प्रजातात्रिक तथा प्रगतिवादी आदोलनो के समर्थन के समय साप सूघ जाता है किंतु मुस्लिम जगत मे एकता के प्रश्नो पर उनकी जागरूकता देखने लायक होती है। ये अरब-समर्थक दृष्टिकोण अपनाने के लिए सरकार पर हर सभव दबाव डालने के लिए तैयार रहते हैं। परिणामत इज्राइल हमारे लिए चद्रमा का दूसरा हिस्सा बन चुका है, जिसे न हम देख सकते हैं और न ही उसे देखना चाहते हैं जबकि अनेक अरब देश इज्राइल के साथ राजनयिक सबध स्थापित किये हुए हैं। स्वतत्रता के बाद साप्रदायिकता की भावना को उभारने और विकसित करने मे पाकिस्तान का काफी हाथ रहा है। दोनो देशो के बीच लडे गये तीन युद्धो के दौरान कुछ मुस्लिम सगठनो की भूमिका, पजाब मे अतिवादियो को दी जाने वाली सहायता जम्मू और काश्मीर के उपद्रव, राम जन्म भूमि और बाबरी मस्जिद का मामला, उर्दू का प्रश्न तथा धार्मिक कट्टरवादिता आदि ने सप्रदायवाद की आग मे घी का काम किया है ।

हिंदू सप्रदायवाद इस धारणा पर विकसित हो रहा है कि नेहरू और उनके सहयोगियो ने धर्मनिरपेक्ष मूल्यो पर आधारित प्रजातत्र को अपनाकर हिंदू हितो की बलि दे डाला। मुसलमानो को खुश करने के लिए हिंदू धर्म और सस्कृति की अवहेलना की जाती रही है। राष्ट्रवाद के धर्मनिरपेक्ष तत्त्व राष्ट्र के शानदार अतीत को त्यागने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। हिंदू सप्रदायवादी दृष्टिकोण एम० एस० गोलवलकर,

बलराज मधोक तथा कुछ अन्य नेताओ के लेखो और वक्तव्यो मे देखने को मिलता है। ये हिंदू राष्ट्र और हिंदू राष्ट्रवाद की अवधारणा को मानते हैं। ये एक ऐसी राष्ट्रीयता मे आस्था रखते हैं जिसका मूल अखड भारत, उसकी महान संस्कृति, विरासत और महान् पुरुषो के प्रति अविचल निष्ठा मे है और भविष्य के प्रति दृढ आस्था है। भारत मातृभूमि, धर्मभूमि, देवभूमि तथा मोक्षभूमि है। डॉ० श्यामा प्रसाद मुखर्जी की अध्यक्षता मे निर्मित अखिल भारतीय हिंदू सगठन, जनसघ ने देश के बटवारे को आरभ मे ही अस्वीकार कर दिया था। अक्टूबर, 1951 मे अपने एक भाषण मे डॉ० मुखर्जी ने भारत के विभाजन को एक दु खदायी मूर्खता बताया क्योकि इसमे न तो किसी उद्देश्य की पूर्ति हुई और न ही किसी समस्या का समाधान हुआ। जब काग्रेस के नेताओ के जनसघ पर साम्प्रदायिक होने का आरोप लगाया तो उत्तर मे डॉ० मुखर्जी ने कहा, "यदि धर्मनिरपेक्ष होने का अर्थ प्रसिद्ध मुसलमानो और पाकिस्तान के तुष्टिकरण के लिए राष्ट्रीय हितो को बलिदान करने का साहस है, हम शत-प्रतिशत साम्प्रदायिक हैं और हमे ऐसा होने मे गर्व है।"[22]

हिंदू सप्रदायवादी विचारधारा का उद्देश्य है भारत मे हिंदू राज्य की स्थापना करना, उन भूखडो को पुन प्राप्त करना जो एक समय हिंदुओ की प्रभुता मे थे, भारतीय सीमाओ की अखडता को सुरक्षित रखना। इसका उद्देश्य प्राचीन संस्कृति का पुनरुत्थान करके तथा आधुनिक भारतीय संस्कृति को विदेशी तत्त्वो से भारतीयकरण द्वारा शुद्ध करके हिंदुओ मे एकता की अनुभूति विकसित करना है। हिंदू राष्ट्रवादी आधुनिकीकरण की समूची प्रक्रिया को अस्वीकार करते हैं। वे भारत के शाश्वत आदर्शों और परपराओ की उपेक्षा की आलोचना करते हैं। हमारा अपना एक भावात्मक आधार है और हमारी अपनी जडे है जो हमारे राष्ट्रीय आदर्शों तथा आकाक्षाओ की तथा इतिहास एव परपरा की धरती मे गहरी पैठी हुई हैं, इस चेतना को पुनर्जागृत किया जाना आवश्यक है।

1957 मे जनसघ ने 'भारतीयकरण' का एक विस्तृत कार्यक्रम प्रस्तुत किया

1 शिक्षा राष्ट्रीय संस्कृति पर आधारित होनी चाहिए जिसमे रामायण, गीता, उपनिषदो तथा महाभारत आदि ग्रथो का अध्ययन सम्मिलित हो।
2 राष्ट्रवीरो के जन्मदिवस तथा इस प्रकार के अन्य अवसरों को राष्ट्रदिवस के रूप मे मनाया जाना चाहिए।
3 मुख्य त्यौहारो को राष्ट्रीय त्यौहारो के रूप मे मनाया जाना चाहिए।
4 संस्कृत शिक्षा को पुनरुजीवित किया जाना चाहिए तथा देवनागरी लिपि को भारत की सभी भाषाओ के लिए अनिवार्य बनाने के प्रयत्न करने चाहिए।
5 भारतीय इतिहास का पुनर्लेखन होना चाहिए।
6 हिंदू समाज से जाति भेदो में निहित अन्तरो और दुर्बलताओ को दूर किया जाना चाहिए, साथ ही भारतीय समुदाय के उन खडो का जो अपनी जडो से हिला दिये गये थे, भारतीयकरण किया जाना चाहिए।

बलराज मधोक के अनुसार

> राष्ट्रवाद केवल राजनीतिक निष्ठा का ही प्रश्न नहीं है। वह देश की संस्कृति तथा विरासत के प्रति एक लगाव और वर्ग की भावना की भी माग करता है। इसका सबध राष्ट्रीय जीवन के सभी पक्षो से सबधित विचारो और कर्मों से है अत भारतीयकरण भारतीयों मे एक तीव्र राष्ट्रीय भावना भरने के अतिरिक्त और कुछ नही है यह ऐसा है जिसके लिए कोई भी देशभक्त कहलाने वाला नागरिक बुरा नही मान सकता है।[23]

हिंदू राष्ट्रवादी हिंदुओ और गैर हिंदुओ के बीच समता लाने के लिए तथा राष्ट्रीय एकता को मजबूत बनाने के लिए गैर हिंदुओ का हिंदू सस्कृतिकरण अनिवार्य मानते हैं। जिन लोगो ने भय, कपट या लोभ के कारण अपने पूर्वजो का धर्म त्याग करके अपने को मुसलमान या ईसाई आक्रातांओ के साथ राजनीतिक या सास्कृतिक रूप से जोड लिया है उन्हे फिर से अपने पूर्वजो के घर बुलाया जाना चाहिए। गोलवलकर ने स्पष्ट करते हुए कहा कि

> गैर हिंदू का एक राष्ट्र धर्म अर्थात् राष्ट्रीय उत्तरदायित्व है एक समाज धर्म अर्थात् समाज के प्रति कर्तव्य भाव है एक कुलधर्म अर्थात् पूर्वजो के प्रति कर्तव्यभाव है तथा केवल व्यक्तिगत धर्म व्यक्तिगत निष्ठा का पथ अपनी आध्यात्मिक प्रेरणा के अनुरूप चुनने को वह स्वतत्र है। हिंदू राष्ट्र की हमारी यही कल्पना है कि यही है हमारा भाव उन गैर हिंदुओ के प्रति जो यहा निवास करते हैं। इससे अधिक तर्कसगत, व्यावहारिक एव उचित समाधान और कुछ नही हो सकता।[24]

राष्ट्रवादी पश्चिमी विचारो का विरोध करते है। साम्यवाद और समाजवाद इस मिट्टी की उपज नही है। यह हमारे रक्त और परपराओ मे नही है। यहा के हमारे करोडो लोगो के लिए यह विचार परकीय है। ये विचारधाराए राष्ट्र के लिए अत्यधिक खतरनाक हैं। इन्हे अपनाना हमारे लिए अत्यत 'अपमानजनक' है तथा हमारी मेधा और मौलिकता के शुद्ध दीवालियापन को सिद्ध करता है। इसलिए हम जीवनपथ का विकास हमारे प्राचीन ऋषियो तथा आविष्कृत तर्क अनुभव एव इतिहास की कसौटी पर कसे हुए सत्य के आधार पर ही करना चाहिए।[25] जब तक ईसाई लोग ईसाई धर्म के प्रसार के अतर्राष्ट्रीय आदोलन के एजेट के रूप मे कार्य करते रहेगे तथा अपनी जन्मभूमि के प्रति अपनी निष्ठा को व्यक्त करने को अस्वीकार करेगे और अपने पूर्वजो की परपरा और सस्कृति के सही उत्तराधिकारी के रूप मे व्यवहार नही करेगे तब तक वे यहा शत्रु की तरह रहेगे और उनके साथ उसी प्रकार का बर्ताव किया जायेगा। हिंदू सप्रदायवादी अग्रेजी को विदेशी भाषा मानते हैं और उसका विरोध करते हैं। वे इसके स्थान पर हिंदी भाषा तथा देवनागरी लिपि को भारत की सामान्य भाषा के रूप मे अपनाने पर बल देते हैं। देवनागरी को शेष भारतीय भाषाओ द्वारा अपनाये जाने का ये लोग समर्थन करते

है । उर्दू की मांग को वे अलगाववादी मानते हैं । उनका मानना है कि सरकारें हमेशा अल्पसंख्यकों को अत्यधिक खुश करने का प्रयास करती हैं तथा धर्मनिरपेक्षता के नाम पर हिंदुओं को अपने ही देश में उनके उचित महत्त्व से वंचित रखा गया है । हाल के वर्षों में बढ़ते सांप्रदायिक तनावों ने शिव सेना, विश्व हिंदू परिषद्, बजरंग दल आदि हिंदू सांप्रदायिक संगठनों को अपना बाहुबल बढ़ाने का भरपूर अवसर प्रदान किया है ।

स्वतंत्रता के बाद सांप्रदायिक हिंसा

भारत में ब्रिटिश शासन के अंतिम दिनों में हिंदू-मुस्लिम दंगों ने गृहयुद्ध का रूप ग्रहण कर लिया था जिसमें लाखों की संख्या में लोग मारे गये, हजारों घायल हुए तथा करोड़ों की संपत्ति का नुकसान हुआ था । 'डायरेक्ट एक्शन डे' ने ऐसे दंगों की शुरुआत की जो महीनों तक चलते रहे जिनकी लपटों के घेरे में इस भारतीय उपमहाद्वीप का अधिकांश भाग आ गया था । भारत ने देश की अखंडता तथा एकता को मजबूत बनाने तथा सामाजिक-आर्थिक क्रांति लाने के लिए धर्मनिरपेक्ष प्रजातंत्र को अपनाया । विभिन्न समुदायों में आपसी सौहार्द सामंजस्य तथा प्रेम स्थापित करने के लिए जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में भारतीय सरकार ने अनेक कदम उठाये । कुछ समय के लिए ऐसा लगने लगा जैसे संप्रदायवाद का विष समाप्त हो गया हो किंतु विभाजन के बाद की शांति चिरस्थायी नहीं रही, विभाजन की याद स्मृति-पटल में धीरे-धीरे ओझल होने लगी थी । योजनाबद्ध विकास सामुदायिक विकास योजनाएं तथा चुनावों के दौरान किये गये वायदों ने बढ़ती आशाओं की क्रांति को जन्म दिया किंतु आशाओं की तुलना में सरकार के समाधनों में वृद्धि धीमी रही परिणामतः केक में अपना हिस्सा सुनिश्चित करने के लिए लोग धर्म समुदाय भाषा जाति, क्षेत्र आदि के नाम पर संगठित होने लगे । चुनाव प्रक्रिया ने सांप्रदायिक हितों के लिए मतों का समझौता करने का अल्पसंख्यकों को सुअवसर प्रदान किया । विभिन्न वर्गों द्वारा अपने को स्वायत्त बनाने का प्रयास किया जाने लगा । विभिन्न वर्गों द्वारा स्वायत्तता का प्रयास और राष्ट्र के एकीकरण की प्रक्रिया में संघर्ष होना स्वाभाविक था । प्रायः सरकारों ने भी तुष्टिकरण की नीति अपनायी जो सांप्रदायिक विचारधारा के विकास में अत्यधिक सहायक रही । सांप्रदायिक दल अपनी शक्ति को बढ़ाने में लग गये, बैठकों के आयोजन रैलियों जलूसों तथा प्रदर्शनों और एक-दूसरे के विरुद्ध घृणा के प्रचार अभियान से सामाजिक तनाव बढ़ता गया । स्थिति यहां तक पहुंच गयी कि बहुत ही साधारण घटनाओं ने भी प्रस्फोटक का रूप धारण कर लिया । कभी-कभी केवल अफवाहों का प्रचार कि किसी औरत के साथ बलात्कार किया गया अथवा गाय का वध किया गया है अथवा इसी तरह की अन्य कोई अफवाह भयानक दंगों का रूप लेने लगी । आज विभिन्न समुदायों में घृणा का प्रचार अभियान अफवाह दंगे हिंसा, आगजनी, लूट-खसोट कर्फ्यू मरघट की शांति, जांच आयोग तथा पुनः इन सबकी पुनरावृत्ति हमारी व्यवस्था की विशेषताएं बन गये हैं ।

1950 के दशक में सांप्रदायिक दंगों के संबंध में पर्याप्त आंकड़े प्राप्त नहीं हैं किंतु

इतना तो स्पष्ट है कि वे नही के बराबर थे। 1950 मे बीस घटनाओ का पता चलता है। जिनमे से 11 पश्चिमी बगाल मे हुई। 1951 मे 7, 1952 मे 12 और 1953 मे 4 घटनाए हुई । बाद के वर्षों मे भी इनकी सख्या नगण्य रही। साप्रदायिक दगो में वृद्धि 1960 के दशक मे आरभ हुई सरकार द्वारा प्रकाशित आकडो से पता चलता है कि 1960 मे 26 1961 मे 91 घटनाए हुई थी किंतु 1964 मे यह बढकर 1170 हो गयी। बाद के वर्षों मे ग्राफ कुछ नीचे आया। 1980 के दशक मे पुन साप्रदायिक दगो मे वृद्धि होने लगी। 1983 मे 404 घटनाए हुई जिनमे 202 लोग मारे गये तथा 3478 घायल हुये थे। 1984 मे प्रधानमत्री श्रीमती इदिरा गाधी की हत्या के बाद दगो मे हजारो की सख्या मे हत्याए हुई थी। 1985-86 मे 4666 तथा 1987-88 मे 3572 घटनाए घटित हुई। (देखिए सारिणी द्वितीय तथा तृतीय) ।

साप्रदायिक हिसा के कारण

भारत मे साप्रदायिक हिसा के तात्कालिक कारण प्राय ही मामूली घटनाए रही है किंतु एक बार जब हिसा आरभ हो जाती है तब अनेक कारणो से वह बीभत्स रूप धारण कर लेती है। 1961 से 1970 के बीच की 841 घटनाओं के जिन तात्कालिक कारणो को गृह मत्रालय द्वारा प्रकाश मे लाया गया है वह बहुत ही साधारण हैं। (देखिए सारणी चतुर्थ) ।

अधिकाश झगडो के पीछे व्यक्तिगत कारण रहे हैं। जो स्त्रियो निजी सपत्ति, व्यक्तिगत लेन-देन या झगडो से सबधित होते हैं किंतु धार्मिक/सार्वजनिक कारण कम महत्त्वपूर्ण नही रहे है। बिहार, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बगाल मे अधिकाश हिसाए सार्वजनिक कारणो से हुई हैं। बिहार उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बगाल मे गोहत्या का प्रश्न भी काफी महत्त्वपूर्ण रहा है। धार्मिक स्थानो की अपवित्रता का प्रश्न महाराष्ट्र मे ज्यादा महत्त्वपूर्ण रहा है। कब्रगाहो को लेकर बिहार और उत्तर प्रदेश मे हिसाए हुई है। त्यौहारो के सबध मे अधिकाश राज्यो मे दगे हुए हैं अधिकाश दगे 'घटनाओं की कडी' के रूप मे घटित होते है। अनेक दगो मे पाकिस्तान तत्त्व भी काफी महत्त्वपूर्ण रहा है । जैसाकि 1964 के साप्रदायिक दगो मे देखने मे आया ।

27 दिसबर, 1963 को श्रीनगर के हजरतबाल मकबरे से पैगबर साहब का बाल चोरी हो गया था। तबर्रुक एक चादी के तबर्रुक-पात्र के भीतर रखा गया था जो शीश के दरवाजो के पीछे अदर के कमरे मे रखा गया था। उस दिन दरवाजा टूटा हुआ पाया गया तथा तबर्रुक पात्र सहित वहा से गायब था। श्रीनगर मे सभी समुदायो के लोगो ने इसके लिए विरोध प्रदर्शन किया। यह विरोध मुख्यत भूतपूर्व मुख्यमत्री बक्शी गुलाम मुहम्मद के प्रति था क्योकि यह विश्वास किया जा रहा था कि इसमे उनका ही हाथ था। हालाकि रहस्यात्मक ढग से 4 जनवरी, 1964 को पवित्र तबर्रुक वापस रख दिया गया किंतु तब तक काफी नुकसान हो चुका था। 6 जनवरी को श्रीनगर मे दगे भडक उठे (जो साप्रदायिक नही थे) जिसमे 15 लोग जान से हाथ धो बैठे तथा पुलिस के गोलाबारी मे दो सौ लोग

सारणी द्वितीय

साम्प्रदायिक हिंसा से प्रभावित जिलो की सख्या, 1961-1970

राज्य	1961	1962	1963	1964	1965	1966	1967	1968	1969	1970	जिलोकी कुल सख्या	प्रभावित जिलो की कुल सख्या
आध्र प्रदेश	—	2	2	—	3	2	3	6	3	4	20	11
असम	4	2	4	5	6	3	3	4	2	8	11	9
बिहार	11	4	9	12	9	11	14	15	16	14	17	17
गुजरात	2	3	4	7	5	3	1	2	14	5	17	16
हरियाणा	—	—	1	—	1	—	—	—	—	—	7	1
जम्मू और कश्मीर	—	—	—	—	—	—	—	—	—	1	9	1
कर्नाटक	2	1	2	2	4	2	2	4	4	6	19	14
केरल	2	2	—	1	3	2	2	4	5	4	9	8
मध्य प्रदेश	8	4	1	7	5	2	6	6	9	13	43	29
महाराष्ट्र	4	5	3	10	13	11	7	9	12	17	26	25
उड़ीसा	1	—	1	5	3	3	2	2	4	5	13	10
पजाब	—	—	—	—	—	—	—	—	—	1	11	1
राजस्थान	—	1	—	1	2	3	3	3	2	7	26	11
तमिलनाडु	2	1	1	5	2	2	2	2	3	4	14	11

उत्तर प्रदेश	13	11	6	9	12	9	10	14	9	16	54	31
पश्चिमी बगाल	10	9	5	11	8	5	7	5	10	8	16	15
दिल्ली	1	1	1	—	1	—	—	1	1	1	1	1
मणिपुर	—	—	—	—	—	—	1	—	—	—	1	1
अरुणाचल प्रदेश	—	—	—	—	—	—	—	1	—	—	1	1
त्रिपुरा	1	1	—	1	—	—	—	1	—	1	1	1
भारत	61	47	40	71	77	58	63	79	94	116	316	216

(दिल्ली, मणिपूर, अरुणाचल प्रदेश और त्रिपूरा को एक प्रशासनिक इकाई के रूप मे दिखाया गया है।)

सारणी तृतीय

सांप्रदायिक घटनाएं और हताहतो की सख्या (मृत और घायल) 1961-1970 और 1971 1980

			मृत				घायल			
दशक	घटनाओ की सख्या	कुल हताहतो की सख्या	हिंदू	मुसलमान	अज्ञात	पुलिस	हिंदू	मुसलमान	अज्ञात	पुलिस
1961-70	7964	K 3195 I 12155	282	2397	515	1	4134	5138	1888	995
1971 80	2572	K 1185	373	766	33	13	6674	5683	1072	1772

सारणी चतुर्थ

साम्प्रदायिक हिंसा के कारण 1961 70

राज्य	गोहत्या	धार्मिक स्थलों का अपवित्रीकरण	उत्सव/समारोह	कब्रगाह	योग	क्रमिक घटनाएं (कड़ी)
आंध्र प्रदेश	—	1	21	1	23	680
असम	7	1	11	—	19	106
बिहार	56	4	64	8	132	1199
गुजरात	6	2	6	—	14	724
हरियाणा	—	—	—	—	—	2
कर्नाटक	1	1	8	2	12	100
केरल	—	1	4	1	6	9
मध्य प्रदेश	6	—	11	—	17	429
महाराष्ट्र	8	18	35	2	63	1022
उड़ीसा	5	—	9	—	14	699
पंजाब	—	—	—	—	—	1
राजस्थान	—	-	4	—	4	51
तमिलनाडु	—	1	5	1	7	17

उत्तर प्रदेश	17	4	27	3	51	425
पश्चिमी बंगाल	15	1	17	—	53	1040
दिल्ली	—	—	2	—	2	—
अरुणाचल प्रदेश	—	—	1	—	1	—
त्रिपुरा	—	—	—	—	—	11

घायल हुए। पाकिस्तान रेडियो ने इस घटना में नमक-मिर्च लगाकर दूसरा ही रूप दे दिया। पाकिस्तान सरकार की तरफ से यह आरोप भी लगाया गया कि भारत में मुसलमानों के खिलाफ घृणा और हिंसा के ड्रामे की यह एक शृंखला है। पाकिस्तानी समाचार पत्रों द्वारा विरोध करते हुए मुसलमानों के नर-सहार की रिपोर्ट छापी गयी। विरोध के लिए बैठकें की गयी तथा काला दिवस आयोजित किया गया पूर्वी पाकिस्तान में अल्पसंख्यक हिंदुओं पर हमले किये गये। शरणार्थियों का जमाव पश्चिमी बंगाल में बढ़ने लगा। उनके साथ किये गये अत्याचार तथा क्रूरता की कहानियां सुनकर अनेक लोग क्रुद्ध हो उठे। गुंडे तथा बदमाशों ने इसका भरपूर लाभ उठाया और कलकत्ता में अनेक स्थानों पर दंगे फूट पड़े हमले आगजनी तथा लूट की कई घटनाएं हुई। सेना बुलानी पड़ी। पाकिस्तान अल्पसंख्यक बचाव समिति' ने हड़ताल का आह्वान किया। परिणामत दंगों ने उग्र रूप धारण कर लिया।

पूर्वी पाकिस्तान से आये शरणार्थियों को पुनर्वास के लिए मध्य प्रदेश उड़ीसा में दंडकारण्य और बिहार में ले जाया गया। गंतव्य स्थान को जाते समय जगह-जगह स्टेशनों पर अनेक संगठनों ने शरणार्थियों को भोजन, कपड़ा तथा दवाइयां दी। जहां-जहां वे रुके वहां-वहां उन लोगों ने अपने उत्पीड़न तथा दुर्व्यवहार की कहानियां लोगों को सुनाई जिसके कारण काफी तनाव तथा साम्प्रदायिक दंगे फैले रायगढ़, राउरकेला जमशेदपुर आदि स्थानों को साम्प्रदायिक दंगों ने वीरान बना दिया। इन दंगों ने धर्मनिरपेक्ष मूल्यों के आलीशान बगीचे को तहस-नहस कर दिया।.

साम्प्रदायिक दंगे क्यों घटित होते हैं इस संबंध में विविध सिद्धांत दिये जाते हैं। स्वतंत्रता से पूर्व दंगों के बारे में सीधा-सादा सिद्धांत यह दिया जाता था कि यह विभाजित करके शासन करने की उपनिवेशवादियों की साजिश थी। किंतु आज इस व्याख्या का स्थान मार्क्सवादी विश्लेषण ने ले लिया है जिसके अनुसार ये दंगे पूंजीवादी षड्यंत्र के भाग हैं क्योंकि पूंजीवादी वर्ग मजदूर वर्ग में फूट डालने के लिए साम्प्रदायिक हिंसा का सहारा लेता है। कुछ मार्क्सवादी विचारकों का मानना है कि ये समकालीन पूंजीवादी व्यवस्था के अवश्यंभावी परिणाम हैं क्योंकि आर्थिक समाधनों की असमान प्राप्ति हिंसा को जन्म देती है। मार्क्सवादी विद्वानों के अतिरिक्त अन्य लोगों ने भी साम्प्रदायिक हिंसा का विश्लेषण अपनी-अपनी तरह से किया है। कुछ विद्वानों ने धार्मिक व्याख्या दी है उनका मानना है कि साम्प्रदायिक हिंसा इसलिए घटती है कि विभिन्न समुदायों को एक दूसरे के धर्म के बारे में ज्ञान नहीं होता है अपने धर्म की अच्छाइयों का ज्ञान तो लोगों को होता है किंतु दूसरे धर्मों की अच्छी बातों के बारे में वे अंधकार में होते हैं जिसके कारण यह गलत धारणा उनके दिमाग में घर कर लेती है कि दूसरे धर्म बुराइयों की जड़ हैं। अगर विभिन्न समुदाय यह समझ जाये कि सभी धर्म मूलत एक है अगर सभी एक-दूसरे के साथ सद्भावपूर्ण व्यवहार करे तो विभिन्न समुदायों में साम्प्रदायिक संघर्ष उत्पन्न होने की नौबत ही न आये। कुछ विद्वान शक्ति सिद्धांत का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार जब समुदाय शक्ति में हिस्सेदारी से वंचित रहते हैं तो साम्प्रदायिक हिंसा घटित होती है। समुदाय की संस्कृति तथा पहचान को संरक्षित करने के लिए तथा अपने सदस्यों के

कल्याण को साकार करने के लिए राज्य शक्ति पर नियत्रण अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होता है । स्वतंत्रता से पूर्व मुस्लिम लीग की माग की पीछे राज्य शक्ति पर नियत्रण ही मुख्य तत्त्व था । साम्प्रदायिक दगो पर साइमन आयोग की टिप्पणी यहा उल्लेखनीय है

> "साम्प्रदायिक दगे दोनो समुदायों में भारत के राजनीतिक भविष्य की सभावनाओं से जन्मी व्यग्रता के प्रकाशन थे । जब तक सत्ता की बागडोर मजबूती से अग्रेजो के हाथो मे थी और स्वशासन की कल्पना नही की गयी थी हिंदू मुस्लिम स्पर्धा एक छोटे से दायरे मे सीमित थी ।[26]

साम्प्रदायिक सघर्ष की प्रजातात्रिक सिद्धात के रूप मे यह व्याख्या की जाती है कि यह प्रतिस्पर्धी राजनीतिक प्रक्रिया के भाग हैं । यह तर्क दिया जाता है कि प्रजातन्त्र तभी बलशाली होता है जब विभिन्न समूहो में प्रतिस्पर्धा हो भारत मे धर्म पर आधारित विभिन्न समुदाय विद्यमान हैं उनमे प्रतिस्पर्धा तथा राज्य की शक्ति पर अकुश लगाने की उनकी क्षमता से प्रजातत्र में और अधिक निखार आता है । इन समूहो के प्रजातात्रिक अधिकारो पर कुछ महत्त्वपूर्ण मामलो म प्रतिबंध हिंसा को आकर्षित करता है ।[27]

सम्प्रदायवादी सिद्धात के अनुसार साम्प्रदायिक हिंसा प्रभुत्व प्राप्त करने के सुनियोजित षड्यत्र का भाग होती है । हिंदू सम्प्रदायवादी सिद्धात के अनुसार अल्पसंख्यक राष्ट्र के शत्रु हैं तथा साम्प्रदायिक हिंसा हिंदुओं को नीचा दिखाने के उद्देश्य से जान-बूझकर की जाती है । *मुस्लिम सम्प्रदायवादी सिद्धात के अनुसार साम्प्रदायिक हिंसा सुसगठित तथा* सुनियोजित हिंदू हमला है । जिसका उद्देश्य मुसलमानों को भयाक्रात करना दबाना अपने क्षेत्रो से उन्हे बाहर खदेड़ना तथा उन्हे द्वितीय श्रेणी के नागरिकों मे ला खड़ा करना है । साम्प्रदायिक हिंसा के कारणो पर विभिन्न आयोगो की रिपोर्टो मे काफी प्रकाश डाला गया है । अगस्त से अक्तूबर, 1967 के बीच होने वाले छ साम्प्रदायिक दगो का अध्ययन रघुबर दयाल आयोग ने किया था । आयोग की छ रिपोर्टों मे दगो के कारणो उनमे भाग लेने वाले लोगो तथा उससे क्षति का विश्लेषण किया गया है । अगस्त 1967 के राची के दगो मे पहले आयोग ने अपनी रिपोर्ट मे बताया अनेक घटनाओ ने साम्प्रदायिक विद्वेष फैला दिया था । आम चुनावो के बाद बिहार मे कुल मिलाकर राजनीतिक स्थिति डावाडोल थी तथा राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ और जनसघ की गतिविधिया तेज हो चली थी । हिंदुओ मुसलमानो के सबध विषाक्त होते जा रहे थे । मुसलमानो द्वारा उर्दू को राज्य भाषा का दर्जा दिए जाने की माग का हिंदू विरोध कर रहे थे । इस प्रकार उर्दू विरोधी जलूस तथा उस पर पथराव साम्प्रदायिक दगो का तात्कालिक कारण बना । 1967 मे 24 से 25 *सितबर तक गोरखपुर (उ०प्र०) के जैतपुर और सुबेतपुर मे एक जमीन के* टुकडे पर कब्जे को लेकर दगा हुआ था जिसे मुसलमान अपना कब्रगाह तथा हिंदू अपना श्मशान होने का दावा कर रहे थे । 13 से 15 अक्तूबर के बीच मुरसाँद (मुजफ्फरपुर बिहार) मे दुर्गा मा की शोभा यात्रा के मार्ग को लेकर अशाति फैल गयी थी । 17 सितबर 1967 को शोलापुर के दगे गणपति शोभा यात्रा के दौरान फैले थे । 18 सितबर, 1967 के अहमदनगर म स्थानीय मदिर की मूर्ति को तोड़ने के कारण दगे भड़क उठे थ । मालेगाव

(महाराष्ट्र) में 24 सितंबर 1967 को गोहत्या का मामला दंगों का कारण बना था। इन नगरों के साम्प्रदायिक उपद्रव का एक लंबा इतिहास है किंतु इन दंगों में पाकिस्तान की भूमिका को भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। विभिन्न सम्प्रदायवादियों द्वारा एक-दूसरे के विरुद्ध घृणा की मुहिम ने साम्प्रदायिक हिंसा के लिए उपजाऊ भूमि तैयार की।

1969 के गुजरात के दंगों का रेड्डी आयोग ने अध्ययन किया था। अपनी रिपोर्ट में आयोग ने बताया कि मुसलमानों के एक समूह द्वारा स्थानीय मंदिर के साधुओं पर हमले के आरोप को लेकर 18 सितंबर को अहमदाबाद में दंगे भड़के थे। हालांकि वहां सन् 1965 के भारत-पाक युद्ध के बाद से ही अनेक हिंदुओं और मुसलमानों के बीच घृणा की ज्वाला धधक रही थी। तीन चार वर्ष पहले से ही साम्प्रदायिक तनाव का विष वहां के समाज में फैल रहा था। नगर में साम्प्रदायिक संगठन काफी सक्रिय हो चले थे।

मई 1970 के भिवंडी दंगा का अध्ययन बाबे उच्च न्यायालय के न्यायाधीश श्री डी० पी० मदान ने किया था। मदान आयोग ने दंगों का बहुत ही महत्त्वपूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत किया। आयोग ने दिखाया है कि कैसे विभिन्न समुदायों के बीच फैलती घृणा विकराल रूप धारण कर लेती है। 1964 तक भिवंडी साम्प्रदायिक उपद्रव से मुक्त था किंतु उस वर्ष कुछ हिंदुओं ने एक शोभा-यात्रा निकालकर शिव जयंती मनाने का निर्णय लिया। इस विषय को लेकर हिंदुओं तथा मुसलमानों में मतभेद उत्पन्न हो गया था। प्रथमत: मार्ग को लेकर मतभेद था, मुसलमानों ने महत्त्वपूर्ण मस्जिदों के सामने से शोभा यात्रा ले जाने का विरोध किया विशेषकर जामा मस्जिद के। इस बात पर दोनों समुदायों के बीच समझौता हो गया कि शोभा-यात्रा मस्जिद के सामने के बजाय उसके एक तरफ से गुजरेगी। द्वितीयत: यह तय हुआ कि गुलाल के छिड़कने पर कोई आपत्ति नहीं है किंतु सावधानी बरती जाये कि गुलाल मस्जिद के प्रांगण में न गिरे। तृतीयत, केवल मान्य नारे ही प्रयोग किये जायें। हालांकि इनकी थोड़ी अवहेलना हुई थी फिर भी दोनों समुदायों के बीच शांति बनाये रखी गयी। लेकिन 1967 के आम चुनाव के समय यहां अनेक साम्प्रदायिक संगठन अस्तित्व में आये जैसे मजलिस मुशावरात (1966) मजलिसे तामिरे मिल्लत (नवंबर 1968) जनसंघ (1964) शिवसेना (1966) और राष्ट्रीय उत्सव मंडल (1969)। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और हिंदू महासभा कई वर्षों पहले से ही यहां विद्यमान थे। इन संगठनों ने अपने-अपने समुदायों में साम्प्रदायिकता की भावना बढ़ाने तथा एक-दूसरे के विरुद्ध घृणा अभियान छेड़ दिया। सब्जी मंडी के पास की दीवारों को हिंदुओं ने तथा मस्जिद के पास की दीवारों को मुसलमानों ने इश्तहार-पट्ट की तरह इस्तेमाल करना आरंभ कर दिया जिस पर समाचार पत्रों तथा संपादकीय में लिखी गयी या अन्य उकसाने वाली बातों को लोगों के पढ़ने के लिए लिखने लगे उन पर वे सभी बातें लिखी जाने लगीं जिनसे साम्प्रदायिक भावना में उफान आये। दोनों समुदायों में कहा जाने लगा कि कायरता छोड़कर आत्म रक्षा के लिए संगठित हों। अंतत: मई 1970 में शिव-जयंती समारोह के अवसर पर साम्प्रदायिक हिंसा की ज्वाला फूट पड़ी।

1973 और 1974 के दिल्ली के दंगों का अध्ययन टंडन और प्रसाद आयोग ने किया

था। ये दंगे व्यक्तिगत कारणों से भड़के थे किंतु जिस क्षेत्र में ये दंगे भड़के थे वहां साम्प्रदायिकता की भावना काफी बलवती थी, वहां साम्प्रदायिक उपद्रव का एक लंबा इतिहास था तथा साम्प्रदायिक संगठन अत्यधिक सक्रिय थे।

1979 के जमशेदपुर के दंगों का अध्ययन जितेन्द्र नारायण आयोग ने किया था यहां रामनवमी की शोभा-यात्रा के मार्ग को लेकर दंगा भड़का था, वहीं घृणा अभियान, वहीं मस्जिद के सामने से शोभा-यात्रा को ले जाने का आग्रह/विरोध दोनों समुदायों के अहम् ने इस्पात नगरी, जमशेदपुर में विध्वंश का तांडव नृत्य करा दिया।

हाल के वर्षों में साम्प्रदायिक हिंसा के दो और मुख्य कारण उभरकर आये हैं— धर्मांतरण और आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा। वैसे तो 1920 और 30 के दशक में धर्म परिवर्तन को लेकर प्रायः साम्प्रदायिक तनाव बढ़ जाता था, हिंसा हो जाती थी किंतु कई वर्षों से यह मामला ठंडा पड़ा था क्योंकि व्यापक रूप से धर्म परिवर्तन की कोई घटना कई दशकों तक नहीं हुई। यह तब काफी चर्चित हो गया तथा तनाव का कारण बना, जब 1981 में मद्रास में कई हरिजनों ने एक साथ इस्लाम स्वीकार कर लिया।

1971 के बाद साम्प्रदायिक उपद्रवों के पीछे आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा प्रमुख कारण रहा है। हाल के वर्षों में किये गये कई अध्ययनों में कई विद्वानों ने इस कारण का मुख्य रूप से उल्लेख किया है। मुरादाबाद, अलीगढ़, बिहार, शरीफ और उदयपुर के दंगों की विशेष रूप से चर्चा की जाती है। मुरादाबाद में मुसलमान लगभग 55% हैं। वहां ब्रासवेयर मुख्य उद्योग है जिसमें अधिकांश कारीगर तथा मजदूर मुसलमान हैं। यहां से ज्यादातर माल पश्चिमी एशिया को भेजा जाता है। सामान भेजने वाले दलाल और मुनाफाखोर अधिकांशतः हिंदू थे। 3 अगस्त, 1980 को इदुल फित्र के दिन मस्जिद के पास नमाज पढ़ते समय एक सूअर आ जाने को लेकर हिंसा फैल गयी जिसमें कई लोग मारे गये।

यह तर्क दिया जाता है कि मुरादाबाद की हिंसा मूलतः पुलिस और मुसलमानों के बीच कटुता को लेकर हुई थी। पुलिस ने कुछ समय पहले जावेद नाम के अपराधी को एक मुठभेड़ में मार डाला था, जो स्थानीय मुस्लिम लीग के अध्यक्ष का पाला हुआ था। इस कारण से मुसलमानों के एक गुट तथा पुलिस में अंदर-ही-अंदर तनाव चल रहा था। कुछ मुसलमान असामाजिक तत्व अवसर की तलाश में थे। यही कारण है कि कम-से-कम एक दिन तक यह हिंसा पुलिस और मुसलमानों के बीच चलती रही तत्पश्चात् हिंदू गुंडे भी हिंसा में सम्मिलित हो गये। यहां यह बात स्पष्ट ही है कि ये गुंडे शक्तिशाली उद्योगपतियों के ही पाले हुए होते हैं। यह भी तर्क दिया जाता है कि मुरादाबाद के दंगों में पाकिस्तान और अरब देशों के धन की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।

वास्तविकता यह है कि इन उपद्रवों के पीछे आर्थिक तत्त्व महत्त्वपूर्ण हैं। तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री एच० एन० बहुगुणा के प्रयासों से 1974 में मुरादाबाद में ब्रासवेयर कारपोरेशन की स्थापना की गयी थी। कारपोरेशन स्वयं माल को पश्चिमी एशिया के देशों को भेजने का प्रबंध करने लगा तथा इसमें कारीगरों को अच्छा लाभ मिलने लगा। इसमें दलाल और मुनाफाखोर काफी प्रभावित होने लगे जो मुख्यतः हिंदू

थे। दूसरी तरफ़ मुसलमानो की सपन्नता बढने लगी। वे धन को स्थावर भूसपत्ति मे लगाने लगे, नयी तथा कम आबादी वाली जगह मे बसने लगे तथा धार्मिक अवसरो पर ज्यादा धूम धाम से खर्च करने लगे। इस प्रकार सपन्नता के बढने के साथ-साथ मुसलमानो मे हठधर्मिता भी बढने लगी।[28] परिणामत मामूली कारण भी साप्रदायिक दगो के लिए चिनगारी बन गये।

बिहार शरीफ मे 48% जनसख्या मुसलमानो की है। यह बीडी उद्योग का महत्त्वपूर्ण केद्र है जिसमे मुसलमान तथा निम्न श्रेणी के हिंदुओ के लगभग 15,000 लोग रोजगार मे लगे हुए हैं। यह कताई-बुनाई का भी महत्त्वपूर्ण केद्र है। मुसलमानो मे ज्यादातर मजदूर हैं ज्यादा जमीन लोगो के पास नही है। ज्यादातर आलू की पैदावार यहा पर होती है। ज्यादातर यादव लोग खेती मे लगे हुए हैं। यह जाति खेती के बल पर सपन्नता प्राप्त कर रही है स्वभावत भूसपत्ति मे वृद्धि का प्रयास करती है। कुछ जगहो पर मुस्लिम वक्फ भूमि पर कब्ज़े की घटनाए हुई तथा कुछ मुस्लिम क़ब्रगाहो को लेकर दोनो समुदायों मे तनाव बढता रहा। इस तरह के एक मामले को लेकर तनाव काफी बढ गया तथा 30 अप्रैल 1981 को शराब के नशे मे झगडे को लेकर साप्रदायिक दगा फैल गया जो तत्कालीन प्रधानमत्री श्रीमती इदिरा गाधी के अचानक दौरे के परिणामस्वरूप ही शात हो सका।

बडौदा मे उपद्रवो की जड मे अवैध शराब का धधा था। शराब का धधा पहले मुसलमानो के हाथ मे था इस धधे मे मुसलमानो तथा कहारो मे प्रतिद्वद्विता बढती गयी। जिसके कारण वहा 1982 से कई बार साप्रदायिक दगे हुए। हाल के वर्षो मे राम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद विवाद ने एक ऐसा भूचाल ला दिया है कि भारत मे धर्मनिरपेक्षता के महल की नीव हिल गयी है उसके झटके काफी दूर तक महसूस किये जा रहे हैं। वैसे यह विवाद कोई नया नही है। इतिहास की दूरबीन उठाकर अतीत की पगडडियो पर अगर हम दृष्टिपात करे तो हम पाते हैं कि इस विवाद की शुरुआत मुख्यत 1855 के करीब हुई जब हिंदुओ और मुसलमानो ने इस स्थान पर कब्जा करने के लिए ज़ोर अजमाया था जिसमे कई लोग अपनी जान से हाथ धो बैठे थे। ब्रिटिश काल मे यह मामला करीब शात ही रहा किंतु इस देश के विभाजन के बाद 1949 मे इस विवाद ने बडी मजबूती के साथ अपना सिर उठाया। यह समय ऐसा था कि न तो इसका सिर काटकर प्राणहीन किया जा सकता था और न ही इसे बलवान होने दिया जा सकता था। हिंदू और मुसलमान दोनो उस स्थल का दावा करने लगे। भारतीय सरकार ने उसे विवादास्पद घोषित कर ताला लगवा दिया। तत्पश्चात् यह विवाद न्यायालय की चारदीवारी मे सिमटा रहा। 1983 मे विश्व हिंदू परिषद् ने विवाद को पुन जनता के समक्ष लाना आरभ कर दिया। हालाकि आरभ मे इस विवाद ने लोगो का ध्यान ज्यादा आकर्षित नही किया किंतु शाहबानो विवाद के दौरान और बाद मे राम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद का मामला जोर पकडता गया। फैजाबाद जिला न्यायालय ने 1 फरवरी, 1986 को एक दीवानी अपील मे ताला खुलवाने का आदेश दे दिया। विश्व हिंदू परिषद्, शिव सेना आदि सगठनो ने जहा इसका हर्षोल्लास के साथ स्वागत किया वहीं पर बाबरी

मस्जिद एक्शन कमेटी आदि मुस्लिम संगठनों ने इसकी कटु आलोचना की जगह-जगह प्रदर्शन किया गया। यहां तक कि गणतंत्र दिवस के बहिष्कार के लिए मुसलमानों का आह्वान किया गया, हालांकि दबाव बढ़ने के कारण उसे वापस लेना पड़ा। इस प्रकार समाज में साम्प्रदायिकता का जहर और ज्यादा घुलता चला गया। दोनों समुदायों के नेताओं के भाषणों तथा वक्तव्यों ने स्थिति को और अधिक विस्फोटक बना दिया। 17 से 23 मई, 1987 के दौरान मेरठ में भयानक साम्प्रदायिक दंगा भड़क उठा अनेक लोग मारे गये। मेरठ से बाहर के गांवों हाशिमपुरा और मलियाना में पी० ए० सी० की भूमिका ने पुलिस बल को भी कलंकित कर दिया था।

1987 से नवंबर, 1989 के चुनावों तक हिंदू साम्प्रदायिक संगठनों ने विवाद को व्यापक बनाने के किसी भी अवसर को हाथ से नहीं जाने दिया। ज्यों-ज्यों चुनाव करीब आते गये त्यों-त्यों उनका रुख उग्र होता गया। इसे चुनाव का मुद्दा बनाने का हर संभव प्रयास किया गया। विश्व हिंदू परिषद् ने एक विलक्षण स्कीम बनायी कि देश भर के सभी गांवों से अयोध्या को एक पवित्र ईंट लायी जाये जिससे 9 नवंबर 1989 को राम जन्म स्थान का निर्माण किया जाये। भारतीय जनता पार्टी ने अपना खुला समर्थन दिया तथा इस दल के लोग कई स्थानों पर रामशिला शोभा-यात्राओं में भी सम्मिलित हुए। अनेक स्थानों पर उत्तेजक नारे लगाये गये। इस विवाद के प्रति अधिकांश दलों का व्यवहार आने वाले चुनावों से प्रभावित था। रामजन्म भूमि रामशिला पूजा, हिंदू राष्ट्र आदि का अनेक स्थानों पर खुला प्रचार किया गया। परिणामतः इंदौर रतलाम कोटा जयपुर भागलपुर आदि स्थानों पर भयानक दंगे फूट पड़े। भागलपुर तो क्रूरता के लिए पहले से ही चर्चित था किन्तु इन दंगों ने तो क्रूरता की सीमा ही पार कर दी। दंगों की शुरुआत रामशिला शोभा-यात्रा को लेकर हुई, लगभग एक हजार लोग मारे गये थे।

1989 के आम चुनावों में उर्दू के प्रश्न को लेकर कई स्थानों पर दंगे फूट पड़े। हमारे यहां अधिकांश नेतागण वैसे तो सामान्यतः बड़े-बड़े सिद्धांत की बातें करते नहीं अघाते हैं किंतु चुनावों के समय पूर्व के सारे सिद्धांतों को किनारे रखकर येन केन प्रकारेण चुनाव जीतने की नीति अपना लेते हैं। स्वार्थसाधक नीतियों के आगे सिद्धांत मूक बनकर रह जाते हैं। *चुनावों से कुछ समय पहले बिहार सरकार ने उर्दू को राज्य भाषा का दर्जा* दिया। उत्तर प्रदेश सरकार ने भी मुसलमानों का मन प्राप्त करने के लिए उर्दू को राज्य भाषा का दर्जा दे दिया, जिसको लेकर कई स्थानों पर प्रदर्शन नारेबाजी और हिंसा हुई उर्दू के विरोध के पीछे एक लंबा इतिहास है। ब्रिटिश सरकार ने 1837 में फारसी का स्थान क्षेत्रीय भाषाओं को देने का निर्णय लिया। उर्दू बिहार अवध और आगरा में प्रशासन की भाषा बनी। इसे कुछ हिंदुओं ने सरकार तथा समाज में अपनी स्थिति के लिए खतरा माना। 1860 के दशक में बाबू शिवप्रसाद (उत्तर पश्चिम प्रदेशों के शिक्षा विभाग के एक कर्मचारी) के नेतृत्व में एक आंदोलन उठ खड़ा हुआ कि सरकारी कामकाज की भाषा हिंदी हो, न की उर्दू। मुसलमानों ने इसका विरोध किया उर्दू को बनाये रखने के लिए दबाव डाला। अलीगढ़ इस प्रतिक्रिया का केंद्र रहा। किंतु हिंदुओं के दबाव की अनदेखी न की जा सकी और बिहार (1881) तथा संयुक्त प्रांत (यूनाइटेड

प्राविमेज)(1900) मे देवनागरी लिपि मे लिखी जाने वाली हिंदी को उर्दू के समान दर्जा दिया गया। इस प्रकार हिंदी और उर्दू का राजनीतिकरण आरभ हुआ। विभाजन के बाद पाकिस्तान मे उर्दू ने दो राष्ट्रीय भाषाओ मे से एक का स्थान लिया, भारत मे जहा कही मुसलमानो की आबादी है वहा उर्दू माध्यम मे परपरागत स्कूल, पत्रिकाए तथा समाचार पत्र हैं। इसमे कोई दो राय नहीं कि भारत में यह भाषा मुसलमानो की 'पहचान के निशान' के रूप मे उभरी है। यह भारत के मुसलमानों की सास्कृतिक भाषा है।[29] यही कारण है कि भ्रष्ट राजनीतिक नेता उर्दू को मत बटोरने के साधन के रूप मे इस्तेमाल करते हैं। हिंदी लेखक यह महसूस करते हैं कि उर्दू को सरकारी काम-काज की भाषा का दर्जा दिए जाने से उनकी भाषा तथा साहित्य को खतरा उत्पन्न हो गया है। मुस्लिम छात्र तथा नेता उर्दू के विकास के लिए आदोलन चलाते हैं तो दूसरी तरफ़ हिंदू सप्रदायवादी इसमे देश के विभाजन का खतरा मानते हैं तथा इसे राष्ट्र विरोधी कहकर इसका विरोध करते हैं। उर्दू विरोधी प्रदर्शन तथा उसके प्रतिरोध के कारण बदायू (उ० प्र०) मे 29 सितबर 1989 को साम्प्रदायिक हिंसा भडक उठी थी।

इस प्रकार देश का विभाजन तथा तज्जनित हिंदुओ और मुसलमानो मे परस्पर कटुता साप्रदायिक सगठनो तथा राजनीतिक दलो की गतिविधियों गोहत्या मस्जिद के सामने सगीत धार्मिक स्थानो के अपवित्रीकरण वक्रगाहों के कब्जा मे उत्पन्न होने वाले धार्मिक झगडे स्त्रियो के अपमान तथा धर्म परिवर्तन की क्रियाए आदि साप्रदायिक हिंसा के गभीर कारण रहे हैं। असाप्रदायिक राजनीतिक दलों ने भी देश मे साप्रदायिक भावना के विकास मे योगदान दिया है। चुनावो के समय साप्रदायिक सोच-विचार, समर्थन के लिए साप्रदायिक दबाव के समक्ष हथियार डाल देना तथा साप्रदायिक तत्त्वों के प्रति तुष्टिकरण की नीति इनके लिए कोई नयी बात नही है। यहा तक कि भारतीय गणतन्त्र के शैशवकाल मे काग्रेस दल ने फैजाबाद मे ससद के चुनाव मे आचार्य नरेन्द्र देव के विरुद्ध बाबा राघवदास को उम्मीदवार के रूप मे खडा किया तथा यह प्रचार किया कि आचार्य जी नास्तिक हैं और यज्ञोपवीत नही पहनते हैं। साम्यवादियों को हराने के लिए काग्रेस (इ) ने केरल मे घोर साप्रदायिकतावादी दल मुस्लिम लीग के साथ समझौता किया। मुस्लिम लीग ने काग्रेस (इ) तथा साम्यवादी दलो से लाभ उठाकर पहले मल्लापुरम् फिर बाद मे केसरगोड मे मुस्लिम बहुल जिले का गठन करवाया। पजाब मे अकाली दल के साथ भी राष्ट्रीय दलो ने सरकार बनाने के लिए होड लगा दी तथा उसे प्रतिष्ठा प्रदान की। अत साप्रदायिकता के विकास मे राजनीतिक प्रतिस्पर्द्धा का सबसे अधिक योगदान रहा है।

सिख सप्रदायवाद का विकास

सिख सप्रदायवाद मुस्लिम तथा हिंदू सप्रदायवाद से भिन्न प्रकृति का है। यह दो राष्ट्रों के सिद्धात अथवा विभाजन की यादो से नहीं जुडा हुआ है। यह आर्थिक निर्धनता तथा शोषण से भी सबधित नही है क्योंकि सिखों की प्रति व्यक्ति आय राष्ट्रीय आय के औसत

से ज्यादा है। हिंदू तथा सिखों के उत्सव, विवाह, खान-पान, रहन-सहन के तरीके एक हैं। दोनों समुदायों में पारिवारिक संबंध भी स्थापित होते हैं। प्रायः हिंदू आदरसूचक शब्द 'सरदार जी' कहकर पुकारते हैं। भारतीय सेना में उन्हें जनसंख्या के अनुपात में ज्यादा स्थान मिले हुए हैं। फिर प्रश्न यह उठता है कि सिखों में साम्प्रदायिकता क्यों बढ़ रही है? वास्तव में देखा जाये तो सिख सम्प्रदायवाद मूलतः पहचान का प्रश्न है। हिंदुओं ने हमेशा सिखों को अपने धर्म का एक अविभाज्य अंग माना है। सिखों ने हमेशा से अपनी अलग पहचान स्थापित करने के लिए जो जद्दोजहद की, उसके पीछे यह भय था कि कहीं हिंदू धर्म उनके धर्म को निगल न जाये। 1699 में ही सिखों ने अपनी अलग पहचान बनायी जब गुरु गोविन्द सिंह ने अपने अनुयायियों को आदेश दिया कि 'वे केश रखें, दाढ़ी न कटायें, कंघा, कड़ा, कच्छा और कृपाण धारण करें।' आज भी कट्टर सिखों की पहचान इन पांच (ककारों) से होती है। गुरु के आदेशों के अनुसार खालसा पंथ स्वीकार करने वाले अपने नाम के अंत में सिंह लगाते हैं। सिख धर्म की एक केंद्रीय धारणा यह है कि आध्यात्मिक और लौकिक सत्ता (पीरी और मीरी) धर्म और राजनीति अविभाज्य हैं। 'गुरु ग्रंथ साहब' से सिखों को आध्यात्मिक दिशा निर्देश मिलता है तथा सामाजिक मामलों का निर्णय 'पंथ' खालसा सम्प्रदाय और उनके प्रतिनिधि करते हैं। महाराजा रणजीत सिंह के समय में सिखों ने अपना साम्राज्य बनाया और शासन किया फिर भी सिखों के पहचान की समस्या बनी रही। सिख हिंदुओं के साथ पारिवारिक बंधनों में बंधे हुए थे। गुरुद्वारों के बहुत से महंत सिख से अधिक हिंदू थे, उन्होंने छुआछूत, मूर्तिपूजा और गाय की पवित्रता की धारणा जैसी बहुत सारी हिंदू मान्यताओं और रिवाजों को सिख धर्म में प्रविष्ट किया। नीची जातियों के सिखों के साथ विभेद चलता रहा। सिखों की संख्या भी ब्रिटिश शासन (1846 के बाद) के दौरान घटने लगी थी क्योंकि जब तक खालसा उन्नति पर था अनेक अवसरवादी लोग भी केश रखने लगे थे तथा गुरुओं का आदर करने लगे थे किंतु ब्रिटिश शासन में मिला लिये जाने के बाद वे पुनः हिंदू धर्म में लौट आये। कई नये उदारवादी मत भी सिखों को खालसा पंथ से विमुख कर रहे थे।[10] यही कारण है कि कुछ सिख नेताओं ने सिखों के धार्मिक सिद्धांतों और आचरणों को हिंदू धर्म से अलग और विशिष्ट बनाये रखने के लिए तथा आर्य समाज के विरुद्ध हिंदुओं के बदलकर सिख धर्म में लाने के लिए 1873 में 'सिंह सभा' बनायी। यह आंदोलन तेजी से फैला। अनेक खालसा स्कूल खोले गये जहां पर 'गुरु ग्रंथ साहब' और दूसरे गुरु अंगद देव द्वारा निर्मित पंजाबी लिपि-गुरुमुखी का अध्ययन अनिवार्य था। 1902 में विभिन्न सिंह-सभाओं के बीच का संयोजक पहला सिख राजनीतिक संगठन, 'चीफ खालसा दीवान' बना। अंग्रेजों की 'फूट डालो और शासन करो' की नीति से सिखों को अपनी अलग पहचान बनाये रखने के लिए प्रोत्साहन मिला।

20वीं शताब्दी आते-आते मंदिरों के महंत इतने भ्रष्ट हो गये थे कि सिख धर्म की प्रतिष्ठा को आंच आने लगी थी। मोहिन्दर सिंह गिल ने लिखा है

> मंदिरों में चढ़ावे के रूप में आने वाली कीमती चीजें सरबराह और दूसरे महंतों के घरों में जाने लगी थी। चौहद्दियों में ज्योतिषी और पंडित भरे रहते थे और

गुरुद्वारे के परिसर मे सुलेआम मूर्तियो की पूजा होने लगी थी। उस काल (19वी शताब्दी के अत) के विवरणो के अनुसार वसत और होली के त्यौहारो पर यह जगह चोरो और लफगो के हुल्लड का अड्डा बन जाती थी। अश्लील किताबे धडल्ले से बिकती थी और आसपास के मकानो मे चकले खुले हुए थे, जहा इन पवित्र मदिरो मे आने वाली निर्दोष स्त्रियो को लपट साधुओ, महतो और उनके यार-दोस्तो की हवस का शिकार बनाया जाता था।[31]

1920 मे भ्रष्ट हिंदूकृत महतो के हाथ मे सिख मदिरो को मुक्त कराने के लिए आदोलन फूट पडा। सिख सभाओ ने गुरुद्वारो मे सुधार की माग की। जब आदोलन असफल होने लगा तो 15 नवबर 1920 को गुरुद्वारो पर जबरदस्ती नियत्रण करने के लिए शि० गु० प्र० स० (एस० जी० पी० सी०) का गठन किया गया। एक महीने बाद शि० गु० प्र० स० के सघर्ष करने वाले अग के रूप मे शिरोमणि अकाली दल का गठन किया गया। गाधी जी की इच्छाओ के विरुद्ध भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस ने भी तात्कालिक राजनीतिक लाभ के लिए अपना समर्थन दिया। बदले मे सिख तथा अकाली दल असहयोग आदोलन मे सम्मिलित हो गये। शि० गु० प्र० स० के अध्यक्ष बाबा खडक सिंह को पजाब प्रदेश काग्रेस समिति का अध्यक्ष बनाया गया। इस प्रकार शि० गु० प्र० स० और अकाली दल ने राजनीतिक गतिविधियो मे कदम रखा।

अग्रेज अधिकारी एक केंद्रीय सिख सस्था के बजाय धार्मिक स्थलों के प्रबध को स्थानीय समितियो द्वारा किये जाने के पक्ष मे थे क्योकि केंद्रीय सस्था अपनी शक्ति का दुरुपयोग राजनीतिक हितो के लिए कर सकती थी।[32] 1925 मे गुरुद्वारा आदोलन के सामने अग्रेज सरकार को झुकना पडा और उसने पजाब के 200 से भी अधिक गुरुद्वारो को एस० जी० पी० सी० के अधिकार मे दे दिया। यह सस्था बढकर अब 700 हो गयी है और उनके राजस्व मे सिखो की धार्मिक पार्टी अकाली दल का खर्च चलता है। एस० जी० पी० सी० जो स्वर्णमदिर के देखभाल के लिए एक समिति के तौर पर बनी थी, आगे चलकर यह एक तरह से सिखो की ससद बन गयी जिसका पजाब के सिख मदिरो और उनकी विशाल वार्षिक आमदनी पर पूरा नियत्रण हो गया। सिख राजनीति मे एस० जी० पी० सी० पर नियत्रण सबसे अधिक महत्त्व रखता है तथा अकालियो के विभिन्न प्रतिद्वदी गुटो का यह सतत् लक्ष्य रहा है। एस० जी० पी० सी० के पास विशाल आमदनी के अतिरिक्त बहुत बडी सरक्षण की भी शक्ति है। हजारो पद इसके द्वारा भरे जाते हैं—ग्रथियो, सगीतज्ञो, प्रोफेसरो, चिकित्सा से सबधित लोगो तथा प्रबधको के पद। गुरुद्वारो तथा मेलो आदि मे धार्मिक सभाए सिख जनता के सपर्क मे आने और उन्हें प्रभावित करने का एस० जी० पी० सी० को अवसर प्रदान करती है। एक तरह से यह राज्य के भीतर राज्य बन गयी है। इसमे धार्मिक और राजनीतिक दोनो क्षेत्रो का सम्मिश्रण है। यह जो सैकडो उपदेश देने वालो को लगाती है वे केवल धर्म ग्रथो के लोगो को सुनाने वाले नहीं होते बल्कि वस्तुत उसके एजेट होते है, वे केवल सिख धार्मिक विचारो का प्रचार ही नहीं करते बल्कि वे समुदाय को सघटित करने के साथ-साथ उसके सामाजिक और राजनीतिक हितो की देखभाल करते है।[33]

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान मास्टर तारा सिंह, जो उस समय अकाली राजनीति में छाये हुए थे, युद्ध के मसले पर कांग्रेस से अलग हो गये और उन्होंने ब्रिटेन का समर्थन किया। जब देश में विभाजन की बात चल रही थी तो उस समय सिख नेताओं में काफी मतभेद था। उन लोगों ने भी अपने अलग वतन की मांग शुरू की किंतु वे इतनी दुविधा में थे कि उन्हें अपने अलग वतन की मांग का ठीक-ठाक अर्थ भी पता नहीं था। "एक अलग सिख राज्य के लिए सिख प्रवक्ता जिस ढंग से वकालत कर रहे थे उससे लगता था कि जैसे यह उनकी कोई वास्तविक और स्वाभाविक मांग नहीं है, बल्कि पाकिस्तान बनने के खिलाफ बहस का एक मुद्दा है। इस रवैये ने उनकी मांग पर गंभीरता से ध्यान दिये जाने की स्थिति ही नहीं बनने दी।"[34]

देश के विभाजन से काफी नुकसान उठाने के बावजूद भी सिख बहुत जल्दी संभले तथा स्वतंत्र भारत में उन्नति करने लगे। सिख सारे भारत के लिए शक्ति और सक्रियता तथा पंजाब संपन्नता का प्रतीक बन गया। पंजाब में आधुनिकता की लहर दौड़ने लगी। दूसरी तरफ अकाली नेताओं को आधुनिकता और हिंदू धर्म द्वारा सिख धर्म के विनाश का खतरा नजर आने लगा। भारतीय राष्ट्र-राज्य की अवधारणा 'अनेकता में एकता' की परंपरागत अवधारणा की कमर तोड़ने लगी थी। धर्मनिरपेक्षता और आधुनिकीकरण धर्म और संस्कृति की जड़ों पर आघात कर रहे थे। सिख समुदाय का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा यह महसूस करने लगा कि संपन्नता के साथ आने वाली आधुनिकता के कारण उनका धर्म खतरे में है और सिखों की अस्मिता के लिए संकट पैदा हो गया है। दूसरे हिंदू धर्म का पुराना खतरा भी ऊपर मंडरा ही रहा था। आर्य समाज, राष्ट्रीय स्वयं सेवक आदि तो सक्रिय थे ही। 1951 में जनसंघ की स्थापना हो चुकी थी जिसके सहारे उग्रहिंदूवाद ने राजनीतिक शक्ल ग्रहण कर लिया था। हिंदू समुदाय भले ही जाति और दूसरे खानों में बुरी तरह से बंटा हो, लेकिन हिंदू धर्म ने दूसरे धर्मों को प्रभावित करने और उन्हें आत्मसात् कर लेने की विलक्षण क्षमता को प्रमाणित किया है। यही कारण है कि स्वतंत्रता मिलने के समय से ही अकाली नेता मास्टर तारा सिंह ने निश्चय किया कि अगर सिख धर्म को विनाश से बचाना है तो सिखों को एक अलग कौम के रूप में वैधानिक मान्यता दिलायी जाये। उन्होंने राष्ट्रवाद के नाम पर सिखों की अलग अस्मिता को खत्म कर डालने के लिए भारतीय सरकार की आलोचना की। आजादी से पहले के वर्षों में कई सिख नेताओं ने सिख राज्य की बात कई बार उठायी थी किंतु आजादी के बाद इस तरह की बात सांप्रदायिक लगी इसलिए इसके स्थान पर पंजाबी सूबा की बात करने लगे। किंतु पंजाबी सूबे की मांग ने शीघ्र ही हिंदू-सिख सांप्रदायिक विवाद का रूप धारण कर लिया। संयुक्त पंजाब में हिंदी, उर्दू और पंजाबी — तीन प्रमुख भाषाएं थीं। इन तीनों में पंजाबी सभी समुदायों द्वारा सबसे ज्यादा बोली जाती थी। मुसलमानों के पाकिस्तान चले जाने के बाद उर्दू का दावा तो स्वतः कमजोर पड़ गया। बची थी पंजाबी और हिंदी किंतु अकालियों का कहना था कि पंजाब की भाषा गुरुमुखी लिपि में लिखी पंजाबी ही होनी चाहिए। चूंकि गुरुमुखी का आविष्कार धर्मग्रंथों के लिए किया गया था तथा यह सिखों की धार्मिक संस्थाओं के बाहर ज्यादा नहीं सिखायी जाती थी। इसलिए हिंदुओं का

कहना था कि यह माग साम्प्रदायिक है । अधिकाश हिंदुओ को लगा कि सिख धर्म और सस्कृति की लिपि उन पर जबरदस्ती थोपी जा रही है । आर्य समाज और जनसघ के पढ़ाये जाने पर 1951 की जनगणना मे अधिकाश हिंदुओ ने पजाबी को अस्वीकार कर हिंदी को मातृभाषा घोषित किया । परिणामत 1951 से 1961 के बीच पजाबी भाषी लोगो की सख्या 60% से घटकर 40% हो गयी । इससे सिखो में हिंदुओ के प्रति अत्यत विद्वेष उत्पन्न हुआ । नेहरू ने इस माग को एक साम्प्रदायिक मसला ही माना । वास्तव मे देखा जाय तो इस माग के पीछे सिखो की एक ऐसा राज्य बनाने की महत्त्वाकाक्षा थी, जिस पर वे हमेशा शासन कर सके ।

भारत के विभिन्न भागो से उठने वाली मागो को देखकर राज्यो के पुनर्गठन के लिए 1953 मे आयोग नियुक्त किया गया था । जिसका कार्य भाषायी आधार पर अलग-अलग राज्यो की सीमाओ का पुनर्निर्धारण करना था । आयोग ने अपनी 1955 की रिपोर्ट मे पजाबी सूबे की माग इस तर्क पर ठुकरा दिया कि पजाबी भाषा पूरी तरह से हिंदी से भिन्न भाषा नहीं है और न ही इस क्षेत्र मे रहने वालो का आम समर्थन इस माग को प्राप्त है । आयोग ने मत व्यक्त किया कि अगर पजाबी सूबा बना भी दिया जाता है, तो भी अल्पसख्यको को अपने बच्चो को शिक्षा के लिए हिंदी की सुविधा देनी ही पड़ेगी आयोग द्वारा पेप्सू को पजाब के साथ मिला देने की भी सिफारिश की गयी ।

आयोग के फैसले को मास्टर तारा सिंह ने 'सिखो के विनाश का फैसला माना' आयोग अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करे कि इससे पहले ही उन्होने पजाबी सूबे के लिए आदोलन छेड़ दिया । मास्टर तारा सिंह ने नारा दिया कि सिखो की भाषा, लिपि, धर्म और सस्कृति खतरे मे है । 1956 मे केंद्रीय सरकार और अकाली नेताओ मे बातचीत के बाद एक क्षेत्रीय फार्मूले पर सहमति हुई जिसके द्वारा पजाबी भाषायी और हिंदी भाषायी क्षेत्रो मे विभाजित करके विशेष शक्तियो वाली क्षेत्रीय समितिया बनायी गयी । किंतु यह फार्मूला पूर्णत लागू नही किया जा सका ।

1960 मे पजाबी सूबा आदोलन फिर जोर पकड़ा । मास्टर तारा सिंह को निवारक निरोध के अदर कारावास मे डाल दिया गया । आदोलन का नेतृत्व सत फतेह सिंह ने सभाला । उन्होने आमरण अनशन किया जिसे नेहरू जी के आश्वासन पर 23वे दिन तोड़ा । अकाली नेताओ ने बिना ज्यादा सम्मान गवाये आदोलन वापस लिया । किंतु यह शाति ज्यादा दिनो तक नही चली । 1961 मे मास्टर तारा सिंह स्वय आमरण अनशन पर बैठे । उन्होने कहा कि सिखो को असहनीय विभेद से बचाने का एक ही उपाय है कि उनके लिए एक पजाबी सूबे का निर्माण किया जाये । उन्होने 48वे दिन केंद्र के समझौताकारी रुख के कारण अनशन समाप्त कर दिया । चूकि उन्होने आरोप लगाया था कि सिखो के साथ विभेद किया जा रहा है इसलिए इस आरोप की जाच के लिए केंद्रीय सरकार ने विशिष्ट तीन सदस्यीय आयोग का गठन किया । इसके अध्यक्ष एस० आर० दास (अवकाश प्राप्त मुख्य न्यायाधिपति) तथा सदस्य डॉ० सी० पी० रामस्वामी अय्यर और एम० सी० छागला थे । मास्टर तारा सिंह आयोग के सदस्यो तथा विचारार्थ विषय से सतुष्ट नहीं थे क्योकि उनके द्वारा सुझाये गये न्यायाधीशो को नहीं रखा गया था

इसलिए उनके साथ सहयोग करने से इनकार कर दिया। 1962 मे प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट मे आयोग इस निष्कर्ष पर पहुचा कि 'ऐसा कोई सबूत नहीं मिलता जिसके आधार पर यह कहा जाये कि पजाब मे सिखो के साथ विभेद किया जा रहा है।

जवाहरलाल नेहरू अपनी मृत्यु तक पजाबी सूबे की माग का विरोध करते रहे किंतु बाद मे जब इदिरा गाधी प्रधानमत्री बनी तो उन्हें यह एहसास था कि उनकी पार्टी के दिग्गज नेता कभी भी उन्हें पगु बना सकते हैं क्योकि पार्टी के बुजुर्ग राजनीतिज्ञो ने ही उन्हे प्रधानमत्री बनाया था। उन्होने सोचा कि गर्दिश के दिन मे अकालियो की बैसाखी काम आ सकती है। 1966 मे उन्होने पजाबी भाषी राज्य की माग स्वीकार कर लिया। पर पजाबी सूबा अकालियो के लिए मृगतृष्णा ही साबित हुआ। सिखो को अपना राज्य तो मिल गया। लेकिन इसका सचालन उनके हाथ मे कभी नही आया। 1967 और 1969 के चुनावो के बाद सविद सरकार बनायी गयी, लेकिन ये सरकार थोडे समय बाद गिर गयी। 'अपना जनसमर्थन बरकरार रखने के लिए उन्होने सिखो के भीतर असतोष की भावना को लगातार ज़िदा रखा और सत्ता के बाहर रहते हुए वे आदोलन की राजनीति चलाते रहे। पजाबी सूबे के मामले मे अपनी जीत के बाद भी अकालियो ने हमेशा अपने लिए आदोलन का रास्ता खुला रखा।[11] पजाबी सूबा बन जाने के कुछ ही महीने के भीतर चडीगढ को पजाब के सुपुर्द कर देने के लिए श्रीमती इदिरा गाधी पर दबाव डालने के लिए सत फतह सिह ने फिर से आमरण अनशन आरभ कर दिया। दर्शन सिह फेरुमान ने चडीगढ के लिए मृत्यु तक अनशन जारी रखा। सत फतह सिह ने आत्मदाह कर लेने की घोषणा की, तत्पश्चात् श्रीमती गाधी ने अबोहर और फाजिलका हरियाणा को देने के बदले चडीगढ पजाब को देने की घोषणा की किंतु इसे कभी अमल मे नही लाया जा सका।

1973 मे अकाली दल की कार्य समिति ने 'आनदपुर साहब प्रस्ताव' पारित किया। इस प्रस्ताव को लुधियाना मे अक्टूबर, 1969 म अखिल भारतीय अकाली सम्मेलन म अनुसमर्थित किया गया। आनदपुर साहब प्रस्ताव ही आगे के वर्षो म अकालियो द्वारा चलाये जाने वाले आदोलन की केद्रीय माग बना। इस प्रस्ताव म और तो और 'सुरक्षा विदेश सबध, मुद्रा और सचार' के क्षेत्र मे भी केद्र सरकार के हस्तक्षेप को कम करने की बात कही गयी। इस माग को मानने का अर्थ होता भारत की एकता और अखडता को खतरे मे डालना तथा देश की अर्थव्यवस्था को चौपट करना।

आनदपुर प्रस्ताव को मानने पर भारत का सतुलित विकास ठप्प हो जाता तथा श्रम-गतिशीलता सकट मे पड जाती। केद्र सरकार के पास सार्वजनिक वितरण प्रणाली को नियत्रित और सचालित करने का अधिकार नही रह जाता। प्रस्ताव का उद्देश्य है सिख धर्म का तथा उसमे सबधित आचरण का प्रचार करना और नास्तिकता को समाप्त करना, पथ की विशिष्ट और स्वतत्र पहचान की अवधारणा को सरक्षित करना तथा उसमे वृद्धि करना, गरीबी तथा भुखमरी को खत्म करना, विभेद को समाप्त करना तथा बीमारी और अस्वस्थता को दूर भगाना और नशीली चीजो के सेवन को समाप्त करना।

प्रस्ताव के अनुसार, "शिरोमणि अकाली दल सिख कौम की आकांक्षाओं और उम्मीदों का साकार रूप है और इसलिए इसे अपना उपयुक्त प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए।" यह एक अलोकतांत्रिक दावा था। अनेक सिखों ने इस दावे को कभी स्वीकार नहीं किया इस तथ्य को चुनावों में अकाली दल को मिले मत भली प्रकार सिद्ध करते हैं। सभी सिखों ने तो नहीं, हां सिखों का एक हिस्सा खेतिहर किसानों का जाट तबका अवश्य उसे समर्थन देता रहा है। अकाली दल दावा तो सभी सिखों का दल होने का करता है किंतु यह किसानों का ही ज्यादा पक्ष लेता है। आनंदपुर साहब संकल्प के अनुसार, "अकाली दल ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले सभी वर्गों—विशेष रूप से गरीबों और मध्य वर्ग के किसानों का जीवन स्तर उठाने की पूरी कोशिश करेगा।" यह भूमि सुधारों और गरीब तथा मझले वर्ग के किसानों के लिए अनेक सुविधाओं की बात करता है। प्रस्ताव में खाद्यान्न व्यापार के संपूर्ण राष्ट्रीयकरण की बात की गयी थी। जो निश्चय ही व्यापारी वर्ग के खिलाफ जाता है।

प्रस्ताव में अकालियों की कई अन्य शिकायतें व्यक्त होती हैं। उनका दावा था कि औद्योगिक विकास के क्षेत्र में केंद्र सरकार ने पंजाब की उपेक्षा की है अकालियों ने यह भी दावा किया कि सेना की भर्ती में उनके साथ जान-बूझकर विभेद किया जा रहा है। भारतीय सरकार ने सेना में कुछ ऐसे समुदायों तथा इलाकों को अवसर देने के लिए जो कभी भर्ती नहीं होते थे सेना की भर्ती की नीति में परिवर्तन किया। अकाली सिखों ने इसे बढ़ा चढ़ाकर इसे एक भावनात्मक मसला बना दिया। जाट सिख इसे अपने पारंपरिक पेशे पर आघात मानकर बहुत उद्वेलित हुए जबकि वस्तुस्थिति ऐसी नहीं थी। इसी तरह पानी के मामले को भी एक भावनात्मक मसला बनाया गया तथा गलतफहमी पैदा की गयी। अकालियों ने पानी के मुद्दों को इस प्रकार रखा कि सिख किसान समझने लगे कि पंजाब की नदियों—रावी, सतलज और व्यास—के पानी पर उन्हीं का हक है। उन्होंने पानी को अपनी जायदाद मान लिया। पानी के भरपूर इस्तेमाल का मतलब उन्होंने लगाया कि उनका पानी चुराकर एक नये 'हिंदू राज्य हरियाणा' और दूसरे राज्य राजस्थान को दे देना है। जबकि पानी की कोई कमी नहीं थी, तमाम पानी बेकार बह रहा था — आवश्यकता है मुद्दे के सही परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन की।

सिखों में असंतोष पैदा करने का मुख्य क्षेत्र कृषि ही था। जब 1980 के दशक में अकालियों ने आनंदपुर साहब प्रस्ताव को लागू किये जाने के लिए अपना लंबा आंदोलन छेड़ा, तब पंजाब में हरितक्रांति संतृप्ति की स्थिति में पहुंच चुकी थी, कृषि-उत्पादन उच्चतम सीमा पर पहुंच चुका था। पंजाब की लगभग 85% भूमि सिंचित हो चुकी थी और ज्यादा खेती के लिए जमीन पाना संभव नहीं था। 65% से अधिक फार्म पांच एकड़ से कम के थे और कृषि-उत्पादन के साधनों में बढ़ती कीमतों के कारण वे इतना उत्पादन नहीं कर सकते थे कि ज्यादा मुनाफा कमाया जा सके। अतः किसानों के लिए यह संभव नहीं था कि वे अपने एक से ज्यादा बेटों को खेती के ही कामों में लगाये रहें। इसलिए उन्हें अपने बेटों को नौकरी की तलाश में नये शहरों की ओर भेजना पड़ता था और आजकल नौकरी मिलना तो शिव धनुष तोड़ने के समान होता चला जा रहा है। हालत इसलिए भी

बिगडती चली गयी कि खेतिहर परिवारो से विस्थापित ऐसे बहुत सारे नौजवान शिक्षित भी थे और यह तय है कि किसी भी क्राति के लिए शिक्षित बेरोजगारो से अधिक उपजाऊ कोई और जमीन नही हो सकती ।[36]

यही वे शिकायते थी जिन्हे आनदपुर साहब प्रस्ताव मे स्थान दिया गया। यद्यपि प्रस्ताव मे सघ से विलग होने की बात नही कही गयी है या स्वतत्र खालिस्तान राज्य की बात नही है किंतु जैसा अन्य अनेक साक्ष्यो से प्रकट होना है इस आदोलन के पीछे यही सत्य है। वास्तव मे देखा जाये तो खालिस्तान आदोलन को धीरे-धीरे आगे बढाने मे अकाली सगठनो का भी योगदान है। मुख्य खालसा दीवान ने 54 वे अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन मे यह जोर देकर कहा कि सिख पृथक् राष्ट्र हैं और उन्हे सयुक्त राष्ट्र का सदस्य बनाया जाना चाहिए। इसे एस० जी० पी० सी० ने भी दुहराया।[37] अकाली दल (तलवडी) ने विश्व सिख सम्मेलन मे यह जोर देकर कहा कि सिख पृथक् राष्ट्र हैं और विश्व की प्रमुख शक्तियो ने उन्हे सिख राष्ट्र के रूप मे मान्यता दी है। अकाली नेता भिडरावाले ने लदन मे खालिस्तानी नेता जगजीत सिंह को पत्र लिखा था। सत लोगोवाल इस सिद्धात मे विश्वास रखते थे कि सिख पृथक् मूलवश हैं ।[38]

अकालियो ने अपनी मागो को मनवाने के लिए 1980 के दशक मे श्रीमती इदिरा गाधी की सरकार के खिलाफ व्यापक आदोलन छेड दिया। उन्होने सिखो के आर्थिक असतोष को धार्मिक भावनाओं के साथ गठजोड स्थापित करके कट्टरपथ का एक ऐसा खतरनाक रूप फिर निर्मित किया जिसे वे खुद काबू मे नही रख सके। इसका पूरा लाभ भिडरावाले ने उठाया।

भिडरावाले ने उत्थान के साथ-साथ हिसा घृणा विद्वेष का एक ऐसा अभियान चला कि उसने हिदुओ और सिखो मे साप्रदायिकता का जहर घोल दिया। स्थिति इतनी काबू मे बाहर हो गयी कि जून 1984 मे ऑपरेशन ब्लू स्टार हुआ। दोनो समुदायो मे घृणा, क्रोध और हिसा की ज्वाला ने विकराल रूप धारण कर लिया जब 31 अक्टूबर 1984 को प्रधानमत्री श्रीमती इदिरा गाधी की सिख अगरक्षको द्वारा हत्या किये जाने के कारण सिख विरोधी दगे फूट पडे थे। इन दगो मे तीन हजार से भी ज्यादा निर्दोष सिख मारे गये।

स्थिति को सामान्य बनाने के लिए भारत के तत्कालीन प्रधानमत्री राजीव गाधी और सत लोगोवाल के बीच एक करार किया गया, जिसे पजाब करार कहते हैं। इस करार के अनुसार आनदपुर साहब प्रस्ताव को सरकारिया आयोग को निर्दिष्ट किये जाने और चडीगढ के बदले पजाब के कुछ हिदी भाषी क्षेत्र हरियाणा को अतरित किये जाने की व्यवस्था थी। चडीगढ प जाब को दे दिया जायेगा। साथ ही 1984 के दगो की जाच कराने की भी व्यवस्था की गयी।

हरियाणा को दिये जाने वाले क्षेत्र का निर्धारण करने के लिए एक के
तथा तीसरा आयोग बैठा
फैलाये खडी
नदी-जल विवाद के लिए

। ज्यो-की-त्यो सुरसा
कुछ भी झुकने को तैयार
आ। नवबर, 1984

स्थानों के दंगों का अध्ययन करने के लिए रंगनाथ मिश्र आयोग गठित किया गया था। आयोग को यह पता लगाना था कि हत्याएं पूर्व योजित और संगठित थीं अथवा सहज और एकाएक हुई थीं। इसे उपाय भी सुझाने थे ताकि भविष्य में इस तरह के पागलपन की पुनरावृत्ति संभव न हो सके। आयोग ने मत व्यक्त किया कि दंगे एकाएक हुए थे। पूर्वनियोजित और संगठित नहीं थे। लोगों के मूड और व्यवहार में परिवर्तन कैसे लाया जाये इसके लिए आयोग ने कुछ सलाह दी है आयोग ने नैतिक शिक्षा की व्यवस्था करने की सलाह दी है। पुलिस को नागरिकों के सांविधानिक अधिकारों की रक्षा करने वाली तथा उसकी अवहेलना के लिए उत्तरदायी बनाकर, हर तरह की क्षति के लिए उदारतापूर्वक प्रतिकर देकर सभी नागरिकों के जीवन और संपत्ति की सुरक्षा के लिए प्रत्येक गली और मुहल्ले में सामान्य सामाजिक एजेंसियां बनाकर लोगों में उच्च मूल्य, मैत्री तथा राष्ट्रीय भावना आदि भरने के लिए दूरदर्शन तथा रेडियो जैसे जन-संचार माध्यमों का प्रयोग करके इस तरह की हिंसाएं दुबारा घटित होने से रोकी जा सकती हैं। आयोग ने एक ऐसी सामान्य आचारसंहिता अपनाए जाने पर बल दिया जो सभी धर्मों को स्वीकार्य होने के साथ ही प्रेस को भी स्वीकार्य हो। आयोग पुलिस को भी अपने कर्तव्य के प्रति लापरवाही बरतने के लिए अभ्यारोपित किया इसलिए उसने एक उच्चस्तरीय समिति गठित करने के लिए कहा जो इन आरोपों की जांच करे तथा दोषी लोगों को दंडित करवाये। आयोग ने कुछ व्यक्तियों तथा असामाजिक तत्वों का नाम भी दिया जिन्होंने हिंसा लूट-पाट तथा आगजनी में भाग लिया था उन्हें दंडित करने के लिए कार्रवाई करने की सिफारिश की। न्यायाधिपति मिश्र ने कहा कि संभव है 1984 से पूर्व पंजाब में हो रहे दुराचार से उत्पन्न गुस्सा श्रीमती गांधी की हत्या के कारण 1984 की असह्य और घृणित साम्प्रदायिक हिंसा में बदल गया हो किंतु यह पृष्ठभूमि इसे न्यायोचित कभी नहीं ठहरा सकती। सभी सिक्खों की इंदिरा गांधी के दो हत्यारों से तुलना करना असम्य अपराध है। अगर हत्यारे सिख के बजाय हिंदू होते तो क्या देशवासी ऐसा ही व्यवहार करते ? अगर नहीं, तो दंगों का कोई औचित्य नहीं था।

पंजाब समस्या ने आज कैंसर का रूप धारण कर लिया है इसे हल करने के अनेक प्रयास किये गये। आतंकवादी सब किये धरे पर पानी फेर देते हैं। आतंकवाद को दबाने के लिए प्रशासन भरपूर कोशिश करता रहा है। लेकिन हत्याएं थमने का नाम नहीं लेती हैं। निर्दोष व्यक्तियों की और पुलिस की हत्याएं नित्यप्रति की घटनाएं बनी हुई हैं। इस प्रकार भारत में बढ़ती साम्प्रदायिकता धर्मनिरपेक्ष मूल्यों का गला घोटती जा रही है। साम्प्रदायिक दंगे रोजमर्रा की जिंदगी की आम बात बन गये हैं। आयोग तथा समितियां गठित की जाती हैं, कुछ रिपोर्टें सौभाग्यशाली होती हैं कि उन पर सरसरी निगाह दौड़ा दी जाती है कुछ तो दीमकों का आहार बनकर ही रह जाती हैं। उनके सुझावों और सिफारिशों पर अमल करने को कौन कहे कुछ तो प्रकाशित हो जनता के समक्ष भी नहीं आ पाती हैं। इनमें से अनेक अतीत के ऐसे दस्तावेजों में शामिल हो जाती हैं, जिन्हें कभी कुछ शोधकर्ता और एकेडेमिशियन याद कर लिया करते हैं।

अहमदाबाद के 1985 के दंगों पर गठित दवे आयोग की रिपोर्ट अभी आती है यह

आयोग आज मे पाच वर्ष पहले की घटनाओं की गहराई मे जा सकेगा, सभव नहीं लगता। मेरठ दगो के ज्ञान प्रकाश आयोग ने अपनी रिपोर्ट जल्दी प्रस्तुत कर दी। प्रश्न उठता है कि उसे प्रकाशित क्यो नही किया गया ? उस पर अमल क्यो नही किया गया ? 1980 के मुरादाबाद दगो पर गठित आयोग ने अपनी रिपोर्ट मई, 1983 मे दे दिया था, किन्तु अभी तक यह प्रकाशित नही की गयी, उत्तर प्रदेश सरकार ही न प्रकाशित करने के कारणो को बेहतर जानती है। अलीगढ दगो के लिए न्यायाधिपति शशिकात वर्मा की अध्यक्षता मे 20 अक्टूबर, 1978 को आयोग गठित किया गया। आयोग को 200 से ज्यादा साक्षियो की जाच करनी थी तथा चार महीने के अदर अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करनी थी, किन्तु इसने जुलाई, 1980 मे भग किये जाने तक केवल आठ साक्षियो की जाच की थी आयोग को बिना जाच पूरा किये ही भग कर दिया गया। धीरे धीरे यह विचार बनता जा रहा है कि सरकारे समस्या का विश्वसनीय निदान ढूढने के बजाय समय लेना चाहती हैं। आयोग और समितिया नियुक्त की जाती हैं कि कुछ समय खिच जाये और समय सर्वोत्तम रोगहर है। जबकि ब्रिटेन मे 10-12 अप्रैल 1981 को भयानक दगे हुए। लार्ड स्कारमैन ने जाच की और 25 नवबर, 1981 को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी। विलियम व्हाइटला तत्कालीन गृहसचिव ने तुरत अनेक सिफारिशो को स्वीकार कर लिया। सभी दलो के नेताओ तथा पुलिस के प्रमुख ने इसका हार्दिक स्वागत किया। लेकिन हमारे कान पर तब तक जू नही रेंगती जब तक बीमारी लाइलाज न हो जाये। आखिर हम हैं भी तो विश्व के सबसे बडे प्रजातत्र। पहल जनता को ही करनी पडेगी।

सदर्भ

1 द ब्लैकवेल इनसाइक्लोपीडिया ऑफ पालिटिकल इन्स्टीट्यूशन्स 1987 पृ० 371

2 जे० ए० लापॉन्स द प्रोटेक्शन आफ माइनारिटीज 1960

3 एल० वर्थ द प्राब्लम आफ माइनारिटी ग्रुप आर० लिंडन द्वारा सपादित द साइस ऑफ मैन इन द वर्ल्ड क्राइसिस मे 1945

4 मोइन शाकिर पालिटिक्स आफ माइनारिटीज अजन्ता प्रकाशन 1980 पृ० 33

5 डी० डी० बसु भारत का सविधान — एक परिचय 1989 पृ० 353

6 अनुच्छेद 350 ख

7 अनुच्छेद 30, 29

8 लूथरा वी० पी० द कान्सेप्ट ऑफ द सेक्युलर स्टेट एड इंडिया, 1964 पृ० 5/6

9 बेने सी० ए० इनर्स टाउन्समेन एड कायार्स कैब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस 1983 पृ० 335-338

10 गोपाल कृष्ण, इकानॉमिक एड पॉलिटिकल वीकली जनवरी 12 1985 पृ० 61-62

11 गिरिलाल जैन टाइम्स ऑफ इंडिया नयी दिल्ली 7 जनवरी 1988

12 के० आर० मलकानी मेनस्ट्रीम अक्टूबर 28, 1989 पृ० 40
13 वही पृ० 117
14 दि ट्रिब्यून मार्च 23 1940
15 इन्दर प्रकाश व्हेअर वी डिफर कांग्रेस एंड द हिंदू महासभा दिल्ली 1942 पृ० 259
16 कीर डी० सावरकर एंड हिज टाइम्स बंबई 1967 पृ० 229 31
17 इन्दर प्रकाश पूर्वोद्धृत पृ० 66
18 सोम आनन्द हिंदुस्तान टाइम्स मई 1 1987
19 प्रभा दीक्षित साम्प्रदायिकता का ऐतिहासिक संदर्भ मैकमिलन नयी दिल्ली 1980 में उद्धृत पृ० 104
20 रेडियम जुलाई 3 1966
21 हिंदुस्तान टाइम्स मई 1 1987
22 द आर्गनाइजर अक्टूबर 29 1951
23 वही जनवरी 7 1957
24 गोलवलकर एम० एस० विचार नवनीत ए बन्च आफ थाट का हिंदी अनुवाद (लखनऊ) पृ० 138
25 वही पृ० 192
26 'स्टैट्यूटरी कमीशन की रिपोर्ट जिल्द 1 पृ० 29
27 हुमायूं कबीर माइनारिटीज इन डेमाक्रेसी' कलकत्ता 1968
28 टाइम्स आफ इंडिया दिसंबर 1 1981
29 टी० एन० मदान टाइम्स आफ इंडिया अक्टूबर 16 1989
30 खुशवन्त सिंह ए हिस्ट्री आफ द सिख्स जिल्द द्वितीय एलेन और अनविन् 1966 पृ०136
31 मोहिन्दर सिंह दि अकाली मूवमेंट मैकमिलन दिल्ली 1978 पृ० 20
32 पी०सी० चटर्जी हिंदुस्तान टाइम्स जून 27 1988
33 गोकुल चन्द नारंग ट्रांसफारमेशन आफ सिक्खिज्म न्यू बुक सोसायटी लाहौर 1946 पृ० 328 स्मिथ द्वारा उद्धृत पृ० 445
34 खुशवन्त सिंह पूर्वोद्धृत ।
35 मार्कटली कऔर सतीश जेकब अमृतसर राधाकृष्ण नयी दिल्ली 1986 पृ० 53
36 वही पृ० 58 59
37 टाइम्स ऑफ इंडिया मार्च 18 तथा अगस्त 30 1981
38 स्टेटमैन जून 16 1983

उपसंहार

भारतीय संविधान भारत की एक धर्मनिरपेक्ष प्रजातंत्र के रूप में पहचान बनाता है। यह स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान धार्मिक भिन्नताओं को बिना कोई राजनीतिक महत्त्व दिये आंदोलन को चलाते रहने के भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रयासों को प्रतिबिंबित करता है। यह एक ऐसी सामाजिक और आर्थिक क्रांति को लक्षित करता है जो श्रेणीबद्ध समाज के दुर्ग को ढहाकर समता पर आधारित समाज को साकार करना चाहता है, यह एक ऐसे आंदोलन को दिशा देता है जिसमें व्यक्ति अथवा समुदाय के पंथ (विश्वास) राज्य के संबंध में उनके अधिकारों एवं दायित्वों को विशेष रूप से प्रभावित नहीं करते हैं। विद्वानों में यह सामान्य सहमति है कि भारत धर्मनिरपेक्ष राज्य स्थापित करने में सफल रहा है। जहां पाकिस्तान जन्म से ही धर्मबद्ध राज्य रहा है वहीं पर भारतीय गणतंत्र के आधार धर्मनिरपेक्ष मूल्य रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार दिया गया है। भारत की नागरिकता किसी धर्मविशेष पर आधारित नहीं है, धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर विभेद का प्रतिषेध किया गया है, अस्पृश्यता का तथा उपाधियों का अंत कर दिया गया है। धर्म, वर्ण तथा जाति का बिना कोई विचार किये प्रत्येक व्यक्ति प्रजातांत्रिक प्रक्रिया में अपनी जिम्मेदारी निभा सकता है।

भारत के संविधान निर्माताओं का मानना था कि भारत जैसी जाति, धर्म, लिंग, भाषा, क्षेत्र, जनजाति आदि पर आधारित भिन्नताओं वाले देश में एक एकीकृत सबल राष्ट्र-राज्य के निर्माण के लिए धर्मनिरपेक्ष प्रजातंत्र को अपनाया जाना आवश्यक है। धर्मनिरपेक्ष प्रजातंत्र की स्थापना ही प्रमुख रूप से स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान हमारा उच्च आदर्श था जिसे पूरा करने के लिए स्वतंत्रता के बाद हमने संकल्प लिया। हमने वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना को विकसित करने की तरफ कदम बढ़ाया तथा पं० जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में हम इस दिशा में काफी कुछ सफल भी रहे, किंतु आज धर्मनिरपेक्ष मूल्यों के महल की दीवार चरमरा रही है। राजनीति में धर्म अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाने में सफल रहा है। शासकगण, राजनेता, सरकारी पदाधिकारी जिस तरह से धार्मिक अनुष्ठानों तथा उत्सवों में भाग

लेते हैं वह निश्चय ही हमारे धर्मनिरपेक्ष चरित्र को कलंकित कर रहा है। तीर्थस्थलों का दर्शन करने पवित्र जल में स्नान करने यज्ञों, कथाओं और कीर्तनों में हिस्सा लेने की प्रवृत्ति में वृद्धि हो रही है। राजनीतिक हितों के लिए एक तरफ साधुओं, महंतों और आचार्यों की कृपा प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है तो दूसरी तरफ उलेमाओं और इमामों से गहरे संबंध स्थापित करने के प्रयास किये जाते हैं। अगर एक मुख्यमंत्री स्वर्ण मंदिर में जाकर जूते साफ करता है तो दूसरा मुख्यमंत्री भोपाल में मृत आत्माओं की शांति के लिए क्विंटलों अनाज और घी हवन कराता है। चुनावी राजनीति में धार्मिक प्रतीकों और अनुष्ठानों का प्रयोग आम बात होती जा रही है। धार्मिक रूढ़ियां, अंधविश्वास, जातिवाद और संप्रदायवाद अपनी जड़ें जमाये हुए हैं। इतने प्रयासों के बावजूद छुआछूत समाप्त नहीं किया जा सका है। निषेधात्मक कानूनों के बावजूद कर्नाटक और महाराष्ट्र के सीमा क्षेत्रों में देवदासी प्रथा का पालन किया जाता है। यद्यपि सती प्रथा 1829 में समाप्त कर दी गयी थी फिर भी राजस्थान की ओमकुंवर जैसी घटनाएं आज भी उस बर्बर प्रथा के पद चिह्न के रूप में विद्यमान हैं। आज भी धर्म के नाम पर बलि और शारीरिक यातनाओं की खबरें समाचार पत्रों में छपती रहती हैं। आज भी वोहराओं को चुनाव लड़ने के लिए दाई की अनुमति चाहिए। सामाजिक कल्याण के लिए संगठन बनाये या न बनाये, कौन-सा समाचार पत्र पढ़े और कौन-सा नहीं, किसके साथ संबंध रखे किसके साथ नहीं, ये सब बातें वोहरा समुदाय के लिए दाई ही निर्धारित करता है। यदि कोई इस समुदाय के सुधार की बात करता है या इनकी प्रथाओं का विरोध करता है तो उसे इस समुदाय के कोप का भाजन बनना पड़ता है। संविधान में धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार होने के बावजूद संत निरंकारियों की हत्याएं और उत्पीड़न जारी है। विभिन्न संप्रदायों में आपसी सामंजस्य और भ्रातृत्व की भावना बढ़ने के बजाय परस्पर कटुता, विद्वेष और घृणा बढ़ती ही जा रही है। सांप्रदायिक हिंसा हमारे सामाजिक जीवन की वास्तविकता बन गयी है। धर्म, पश्चिम-विरोधवाद और वर्ग-संघर्ष—तीनों का मेल मस्जिद में हो रहा है। मस्जिदों, मंदिरों, गुरुद्वारों तथा चर्चों की संख्या बढ़ती ही जा रही है कट्टरवाद बढ़ रहा है। यहां सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि आधुनिकीकरण का सबसे ज्यादा विरोध पढ़े लिखे लोगों द्वारा किया जा रहा है। कट्टरवादी प्रगति का विरोध नहीं करते लेकिन वे बाहर से थोपी गयी आधुनिकता का विरोध करते हैं। यह तथ्य पश्चिमी राजनीतिक वैज्ञानिकों और राजनयिकों को, जो आधुनिकीकरण और धर्मनिरपेक्षवाद में समानता स्थापित करते हैं उनको आश्चर्य में डाल देता है। आधुनिकीकरण सिद्धांत का यह मानना है कि जब देश विकसित और आधुनिक हो जाते हैं, वे ज्यादा-से-ज्यादा धर्मनिरपेक्ष हो जाते हैं किंतु देखने में आया है कि पश्चिमीकरण में वृद्धि के साथ ही पुनर्जागरणवाद में भी वृद्धि हुई है। इस प्रकार भारत में अगर एक तरफ अल्पसंख्यकों में हठधर्मिता बढ़ रही है तो दूसरी तरफ बहुसंख्यकों में उग्रराष्ट्रवाद की प्रवृत्ति बढ़ रही है परिणामतः 'अनुमत संप्रदायवाद' (परमिसिव कम्युनलिज्म) जोर पकड़ता जा रहा है तथा धर्मनिरपेक्ष मूल्यों को बल प्रदान करने वाले तत्त्व अपना आकर्षण खोते जा रहे हैं।

भारतीय समाज स्वभावतः परंपराबद्ध घोर जातिवादी और सत्तावादी है तथा राज्य का उद्देश्य आधुनिकीकरण और सामाजिक-आर्थिक न्याय प्राप्त करना है। हम भौगोलिक अखंडता, राजनीतिक स्थायित्व और आधुनिक राज्य के रूप में राष्ट्रीय पहचान बनाने के लिए संकल्प लिये हैं जोकि धर्मनिरपेक्षवाद के बिना असंभव है अतः धर्मनिरपेक्ष मूल्यों को बल प्रदान करना हमारा परम कर्त्तव्य है। धर्म और राजनीति का सम्मिश्रण भारतीय प्रजातंत्र की सफलता में सबसे अधिक बाधक है। भारत जैसे परंपरात्मक देश में, जहां लोगों के दिलों में धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है धर्म और राजनीति में पूर्ण पृथक्करण संभव नहीं है धर्म को व्यक्तिगत जीवन तक सीमित करने का प्रश्न ही नहीं उठता है। *अतः वास्तविक प्रश्न यह नहीं है कि धर्म को राजनीति से* पृथक् किया जा सकता है या नहीं, बल्कि प्रश्न यह है कि क्या धर्म को राजनीति में प्रमुखता स्थापित करने दिया जाये। धार्मिक रूढ़ियों, अंधविश्वासों और संप्रदायवाद की *समाज पर पकड़ न हो इसके लिए आवश्यक है कि जहां तक संभव हो धर्म को राजनीति से* अलग रखा जाये। धार्मिक, प्रजातिवादी, भाषीय अथवा जाति पर आधारित किसी भी समूह को इस रूप में पंजीकृत होने अथवा अपने को राजनीतिक दल के रूप में प्रदर्शित करने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए तथा चुनावों में भाग लेने की स्वीकृति नहीं दी जानी चाहिए। अर्थात् ऐसा कोई भी दल अथवा समूह जो नाम, विचारधारा और पुराने रिकार्ड के अनुसार किसी एक धार्मिक समुदाय को समर्पित करता है उसके चुनावों में भाग लेने पर रोक लगा देनी चाहिए। धार्मिक स्थलों का प्रयोग राजनीतिक उद्देश्यों के लिए नहीं किया जाना चाहिए। धार्मिक स्थानों में जो लोग सत्ता में हैं, राजनीतिक पदों *के लिए उन पर रोक लगा दी जानी चाहिए। अब समय आ गया है कि प्रमुख दल यह* परंपरा बनायें कि वे सांप्रदायिक गुटों से कोई संबंध नहीं रखेंगे। चुनावों में कोई भी धार्मिक अथवा तथाकथित आध्यात्मिक प्रतीकों का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए, यदि कोई उनका प्रयोग करता है तो उसका चुनाव अवैध घोषित कर दिया जाना चाहिए। मंदिरों, मस्जिदों, चर्चों और गुरुद्वारों का राजनीतिक प्रचार के लिए प्रयोग पर रोक लगायी जानी चाहिए। राजनीतिक नेताओं, पदाधिकारियों और वरिष्ठ प्रशासकों द्वारा धार्मिक स्थलों के दर्शन का सार्वजनिक दिखावा नहीं किया जाना चाहिए। उनका मंदिरों, मस्जिदों, चर्चों और गुरुद्वारों का भ्रमण व्यक्तिगत हैसियत से होना चाहिए।

हमारे सभी धर्म अनेक प्रकार के नैतिक मूल्यों पर बल देते हैं जिनमें बहुत कुछ समानता है। सच्चाई, ईमानदारी, कर्त्तव्यपरायणता, आत्मसंयम, नम्रता, दयालुता, क्षमाशीलता, संतोष आदि मूल्य सभी धर्मों के आधार हैं, किंतु कालांतर में सभी धर्मों के साथ अनेक कुरीतियां और अंधविश्वास आकर जुड़ गये हैं जो धर्म के मूल को गौड़ बनाते *जा रहे हैं। धर्म का सांप्रदायिक उद्देश्यों के लिए प्रयोग किया जा रहा है* इसलिए आवश्यकता है कि सभी धर्मों के प्रमुखों को धर्मों के मानववादी सामान्य मूल्यों पर बल देने के लिए कार्यप्रवृत्त किया जाये। यह बात स्पष्ट की जानी चाहिए कि सांप्रदायिक उद्देश्यों के लिए धर्म का प्रयोग धर्म विरोधी है।

का प्रबंध किया जाना चाहिए ताकि एक-दूसरे के धर्मों के बारे में जो अज्ञानता और ग़लत धारणाएं हैं उन्हें दूर किया जा सके। धर्माधिकारियों तथा धर्मोपदेशकों के लिए धर्म तथा धर्म-ग्रंथों के संबंध में उच्च शिक्षा का प्रबंध किया जाना चाहिए ताकि उनके अंदर की धार्मिक रूढ़ियों और अंधविश्वासों का स्थान सम्यक् ज्ञान ले सके जैसाकि सच्चिदानंद वात्सायन 'अज्ञेय' ने कहा, "मैं यह नहीं कहता और मैं नहीं समझता कि धर्म ही हमारा शत्रु है या धर्म को जड़ से उखाड़कर ही हम अच्छे नागरिक बन सकते हैं, ऐसा मैं बिलकुल नहीं मानता। लेकिन धर्म में किस तरह का विश्वास वास्तव में धर्म है और कौन से धार्मिक विश्वास धर्म में ही बाधक हो जाते हैं, इसकी ओर मैं समझता हूं कि हमें ध्यान देना चाहिए।" *(नवभारत टाइम्स 23 दिसंबर 1984)*

देश को एकता के सूत्र में पिरोने में विधियों का बहुत बड़ा योगदान होता है, विशेषकर सिविल विधि का। आज एक समान सिविल संहिता तैयार करने की परम आवश्यकता है। दलीय राजनीति तथा चुनावी सोच-विचार को किनारे रखकर सरकार को इस दिशा में शीघ्र कदम उठाना चाहिए। अकर्मण्यता तथा भ्रष्टाचार के साथ सत्ता में बने रहने के बजाय अगर इन सिद्धांतों के लिए कुर्सी गंवानी पड़े तो भी वह स्पृहणीय है। तात्कालिक हानि भले ही किसी सरकार को उठानी पड़े किंतु अगर एक समान सिविल संहिता कोई सरकार बना देती है तो निश्चय ही जनमत उसका साथ देगा तथा उस राजनीतिक दल को श्रेय मिलेगा। उस राजनीतिक दल की महत्ता घटने के बजाय बढ़ेगी ही। अगर सरकार समझती है कि सीधे एक समान सिविल संहिता लाना संभव नहीं है तो उसे चाहिए कि पहले हिंदू विधि की तरह विभिन्न स्वीय विधियों को अलग-अलग उनकी विषमताओं को दूर कर सामाजिक न्याय के सिद्धांत के आधार पर संहिताबद्ध करे, तत्पश्चात् एक समान सिविल संहिता की तरफ कदम बढ़ाया जाये किंतु ऐच्छिक संहिता जैसाकि किसी समय राजीव गांधी की सरकार में चर्चा चल रही थी, किसी भी स्थिति में उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकेगी क्योंकि ऐच्छिक एक समान सिविल संहिता अपने आपमें विरोधी है।

स्वीय विधियों के संहिताकरण का औचित्य यह है कि जैसे सबसे बड़ा अल्पसंख्यक वर्ग मुस्लिम है। इस्लामी फिक़ह 'शरीअत' एवं लिखित संहिता के रूप में नहीं है। इस समय इस्लाम जगत में लगभग एक दर्जन फिक़ह की विचारधाराएं व्यवहार में हैं और पालन की जाती हैं। फिक़ह, हनफी, मलकी शफेई हनबली इमामिया, इस्माइलिया जैदिया, बातिनिया और रबाजिया आदि। इनमें से कई विचारधाराएं भारत में मानी जाती हैं तथा उनका पालन किया जाता है। इन सभी का पालन करने वाले मुसलमान हैं। अल्लाह, पैगंबर साहब, पवित्र कुरान तथा कल्माईतैय्यबा सबका एक है इनमें से कोई भी फिक़ह कुरान तथा हदीस के विरुद्ध नहीं है फिर भी आपस में अनेक मामलों में काफी भिन्नता है। कुछ नरम रुख अपनाते हैं तो कुछ सख्त रुख अपनाते हैं। विवाह, मेहर, तलाक़, मातृत्व, वलायत, हिबा अर्थात् दान, वक्फ, शुफा, वसीयत, विरासत आदि के *मामले में अनेक भिन्नताएं हैं। इन भिन्नताओं को दूर करने के लिए आज भी* परिस्थितियों के अनुरूप उदार अर्थान्वियन करके एक संहिता मुस्लिम स्वीय विधि भी

बनायी जानी चाहिए ।

समुदाय का कमजोर वर्ग, विशेषकर स्त्रिया, अतीत से चली आ रही रूढियो तथा कुप्रथाओ की शिकार रहीं हैं । सुन्नी मत अगर मुता विवाह को वर्जित करता है तो सिया मत अनुमति देता है । कुछ विचारधाराओ के द्वारा तलाक के बर्बर तरीके इस्तेमाल किये जाते हैं । विरासत में भी स्त्रियो के साथ विभेद किया जाता है इसी प्रकार वे मुस्लिम बच्चे जो अनाथ हैं उन्हें मा-बाप का साया नहीं मिल सकता है । हिंदू दत्तक ग्रहण तथा भरण-पोषण अधिनियम, 1956 जैसी कोई व्यवस्था न होने के कारण मुस्लिम, ईसाई, पारसी तथा यहूदी **संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1980** की प्रक्रियाओ का सहारा लेते हैं किंतु प्रतिपाल्य के शरीर और सपत्ति की सरक्षकता उसे पुत्र की विधिक, प्रास्थिति प्रदान नहीं करता है । अत आज की परिस्थितियो के अनुरूप अनेक फिकहो के उदार सिद्धातो को ग्रहण करके, स्त्रियो तथा अनाथ मुस्लिम बच्चो के साथ न्याय करने की भावना से भी मुस्लिम स्वीय विधि को सहिताबद्ध किया जाना चाहिए । यह कार्य केवल परपरागत उलेमाओ द्वारा नहीं किया जाना चाहिए बल्कि इसमे प्रबुद्ध मुस्लिम बुद्धजीवियो तथा फिकहो के विशेषज्ञो की इनमे सक्रिय भूमिका होनी चाहिए तथा अन्य मुस्लिम देशो मे इस दिशा मे किये गये परिवर्तनों को अवश्य ध्यान मे रखा जाये । उदारवादी मुस्लिम विचारधारा के समर्थक प्रो० ए० ए० ए० फैजी आदि भी इस *सहिताकरण का समर्थन करते हैं । सहिताकरण की इस प्रकार से अलग-अलग प्रक्रिया को* पूरा करने के पश्चात् एक समान सिविल सहिता के लिए प्रयास किया जा सकता है । यहा यह बात अवश्य ध्यान मे रखी जानी चाहिए कि ऐसा न लगे कि चूंकि हिंदू बहुमत मे हैं इसलिए हिंदू कोड मुस्लिमो पर या अन्य अल्पसख्यको पर थोपा जा रहा है । एक समान सिविल सहिता महज हिंदू कोड का विस्तृत रूप नहीं होना चाहिए । द्वितीयत , हिंदू कोड मे जो खामिया हैं वे भी समान सिविल सहिता मे न घुसने पाये इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए । तृतीयत', एक समान सिविल सहिता मे भारत मे लागू होने वाली सभी स्वीय विधियो की अच्छी बातो को, साथ ही अन्य देशो की विधियो की अच्छी बातो को शामिल किया जाना चाहिए । अतत एक समान सिविल सहिता का आधार सामाजिक-*आर्थिक न्याय, स्वतत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व और सबसे बढ़कर देश की एकता तथा* अखडता हो ।

आरक्षण का उद्देश्य समाज के दलित और शोषित वर्गों को विशेष सरक्षण प्रदान करके अन्य वर्गों के स्तर पर लाना था, किंतु दलीय हितो के लिए इसका दुरुपयोग किया जा रहा है, अपने 'वोट बैंक' को मजबूत करने के लिए प्राय' आरक्षण को माध्यम बनाया जाता है इसके विरोध मे अत्यधिक हिसाए हुई, कभी-कभी इन हिंसाओं ने साम्प्रदायिक रूप धारण कर लिया फिर भी अनुसूचित जातियो और जनजातियो के हित मे आरक्षण को जारी रखना आवश्यक है लेकिन इस आरक्षण का लाभ जो गरीब है उन्हें मिलना चाहिए इसका आधार योग्यता और गरीबी होना चाहिए तथा हर पाच वर्ष बाद इसका पुनरीक्षण किया जाना आवश्यक है । ससद तथा विधान सभाओ के चुनाव क्षेत्रो का आरक्षण चक्रानुक्रम से होना चाहिए ताकि इसका लाभ सभी क्षेत्रो को मिल सके । अतत

केवल आरक्षण करके किनारे हो लेने से हमारा उद्देश्य पूरा नहीं होगा, आज आवश्यकता है महात्मा गाधी जैसे महापुरुषो के सेवा भाव को विकसित करने की तभी हम अछूतो और दलितो का सही माने मे उद्धार कर सकेगे ।

अनुसूचित जातियो तथा जनजातियो को आर्थिक तथा शैक्षिक रूप से मजबूत बनाने की आवश्यकता है। हमारी आर्थिक व्यवस्था ऐसी हो जो गरीबी की सीमा से नीचे रहने वाले लोगो को अधिक लाभ पहुचा सके। अनुसूचित जातियो तथा जनजातियो मे अधविश्वास रूढिया गरीबी भुखमरी तथा बीमारी को दूर करने के लिए मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए। इन्हे मुफ्त भोजन, वस्त्र तथा आवास दिया जाना चाहिए। इसके साथ ही इन नीतियो का सही रूप से कार्यान्वयन किया जाना आवश्यक है ।

इतिहास की पाठ्य-पुस्तको से जहा तक सभव हो साप्रदायिकता की भावना को विकसित करने वाले खडो को निकाल दिया जाना चाहिए, किंतु इससे भी ज्यादा आवश्यक है कि सभी तरह के विद्यालयो मे धर्मनिरपेक्ष शिक्षा की व्यवस्था की जाये। कम-से-कम दसवी कक्षा तक विज्ञान, प्राथमिक स्वास्थ्य के उपचार के ज्ञान और नैतिक *शिक्षा की व्यवस्था की जानी आवश्यक है।*

भारत की सबसे विकराल समस्या बढती साप्रदायिकता है। साप्रदायिक हिंसा हमारी व्यवस्था की सबसे बडी कमजोरी बन गयी है। ऐसा मानना कि भारत ने धर्मनिरपेक्ष प्रजातत्र के बजाय कोई और व्यवस्था अपनायी होती तो सप्रदायवाद की समस्या समाप्त हो गयी होती, सत्य से कोसो दूर है। आज यह माना जा रहा है कि साप्रदायिक सघर्ष सार्वभौमिक तथ्य है। वर्तमान सामाजिक परिवेश मे विभिन्न समूहो की साप्रदायिक पहचान एक स्वाभाविक मानवीय तथ्य है। व्यक्ति के लिए अपनी सस्कृति अथवा अन्य निहित स्वार्थो के सरक्षण को चुनौती देने वाले परिवर्तनो का साप्रदायिक पहचान द्वारा विरोध करना स्वाभाविक है। राष्ट्रवाद के प्रसिद्ध विद्वान अर्नेस्ट गेलनर ने पता लगाया है कि विश्व मे 7000 आदोलन चल रहे हैं। या तो अपनी पहचान बनाये रखने के लिए या अलग राज्य के लिए लोग जिस राज्य मे रह रहे हैं उसमे लड रहे हैं। सोवियत रूस मे इतने वर्षों एकाधिकारवादी शासन रहने के बावजूद जातीय सघर्ष को नहीं मिटाया जा सकता। भारत मे बढते सप्रदायवाद पर काबू पाने के लिए दगो के जाच आयोगो की सिफारिशों और राष्ट्रीय एकता सम्मेलन (1969) के साप्रदायिक हिंसा के सबध मे सुझावो को समेकित करके तुरत लागू किया जाना चाहिए। हमने साप्रदायिक प्रतिनिधित्व को ठुकराकर, सार्वजनिक वयस्क मताधिकार व्यवस्था को अपनाया है, जब-जब देश के सामने कोई सकट आया, सभी धर्मों, जातियो, वर्गों के लोगो ने एकजुट होकर उसका सामना किया, सभी अल्पसख्यको ने राज्य के धर्मनिरपेक्ष आधार को स्वीकार किया तथा अधिकाशत धर्मनिरपेक्ष दलो को ही मतदान किया है, मैं समझता हू यह पूरे राष्ट्र के हित मे होगा कि सविधान से अल्पसख्यक शब्द को हटा दिया जाये तथा अल्पसख्यक आयोग के स्थान पर मानवाधिकार आयोग बनाया जाये। साथ ही राज्यो मे सहयोग और विश्वास तथा केद्र मे नियमन (मॉडरेशन) का भाव विकसित

करने की आवश्यकता है ।

सदियो तक गुलामी की जजीरो मे जकड़े रहे, आपसी फूट, वैमनस्यता, झगड़ो का हमेशा शिकार रहे, धार्मिक अंधविश्वास, अशिक्षा और रूढियो जैसी अफीम की आदत वाले, उपनिवेशवादी, सामतवादी आर्थिक व्यवस्था के पैरो तले रौंदे हुए देश को एक सबल, न्याय पर आधारित, वैभवशाली तथा सशक्तिशील राज्य-राष्ट्र बनाने के लिए गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर की निम्नलिखित पक्तिया देश की नीति का मूलमत्र बनायी जानी चाहिए

चित्त येथा भयशून्य, उच्च येथा शिर
ज्ञान येथा मुक्त येथा गृहेर प्राचीर
आपन प्राङ्गणतले दिवसशर्वरी
वसुधारे राखे नाइ खड क्षुद्र करि
येथा वाक्य हृदयेर उत्समुख हते
उच्छ्वसिया उठे, येथा निर्वारित स्रोते
देशे देशे दिशे दिशे कर्मधारा धाय
अजस्र सहस्रविध चरितार्थताय
येथा तुच्छ आचारेर मरुबालुराशि
विचारेर स्रोतःपथ फेले नाहि ग्रासि-
पौरुषेरे करे नि शतधा, नित्य येथा
तुमि सर्व कर्मचिता आनन्देर नेता,
निज हस्ते निर्दय आघात करि पितः,
भारतेरे सेइ स्वर्गे करो जागरित । *(प्रार्थना 'नैवेद' 1901)*

[जहा चित्त में भय नहीं है, जहा सिर ऊचा है, जहा ज्ञान मुक्त है जहा घर की चारदीवारी ने दिन रात अपने आगन मे पृथ्वी को छोटा टुकडा बनाकर नही रखा है, जहा वाक्य हृदय के स्रोत से (अनायास) प्रसारित होता है, जहा देश-देश, दिशा दिशा मे कर्म की धारा का अबाध स्रोत नित्य सहस्रो रूप मे चरितार्थ होकर बहता है, जहा तुच्छ आचार की मरुभूमि के रेत की राशि ने विचार के स्रोत के प्रवाह को ग्रस नही लिया है जहा पौरुष सौ टुकडो मे विभक्त नही हुआ है हे हमारे सब कामो की चिंता करने वाले और आनद के देने वाले पिता (परमात्मा) ! अपने हाथ के प्रबल आघात से भारत को उस स्वर्ग मे जाग्रत कीजिए]

ग्रंथ सूची

(BIBLIOGRAPHY)

Abdul-Rauf, M, *The Islamic Doctrine of Economics and Contemporary Economic Thought,* Washington, D C, American Enterprise Institute for Public Policy Research, 1979

Adhikari, Gautam, *Secularism in India,* 1983

Ahmad, A (ed), *Religion and Society in South Asia,* Leiden, E.J Brill, 1971

Abraham, Henry J, *The Judiciary — The Supreme Court in the Governmental Process,* 4th ed, Allyn, 1977

Ahmad, Kurshid, *Islam and the West,* Chicago, Kazi Pub, (n d)

Altekar, A S, *State and Government in Ancient India, Motilal Banarasidas,* Varanasi, 3rd ed, 1958

Ali, S (ed) Congress and the Problem of Minorities Allahabad, Law Journal Press, 1947

Anderson, N *Law Reforms in the Muslim World* London, University of London, The Athlone Press, 1976

Arblaster, A, The Rise and Decline of Western Liberalism, Blackwell, 1984

Archer, M S, with M Vaughan *Social Conflict and Educational Change in England and France 1789-1848 London,* Cambridge University Press, 1971

Ardagh, J, The New France, A Society in Transition, 1945-1973 Penguin, 1973

Argyle, M with Beit-Hallahmi, *The Social Psychology of Religion,* London Routledge, 1975

Austin, G, *The Indian Constitution Cornerstone of a Nation* Oxford, Clarendon Press, 1966

Avineri, S , *The Social and Political, Thought of Karl Marx*, Oxford, Cambridge University Press, 1968

Baltzell, E Digby, *The Protestant Establishment*, New York, Random House, 1964

Bandyopadhyaya, N C , *Development of Hindu Polity & Political Theories*, New Delhi, Munshiram Manoharlal 1980

Barber, B , *Strong Democracy, University of California* Press, 1984

Barker, E , *Alexander to Constantine* Oxford Clarendon Press, 1961

Basham, A L , *The Wonder that Was India* Fontana Collins, 1971

Basu, D D , *Commentary on the Constitution of India*. Calcutta, Sarkar, 1965

Bell, D , *The Cultural Contradictions of Capitalism*, New York, Basic Books, 1975

Bellah, R N , *Religion and Progress in Modern Asia* New York, Free Press, 1965

in R N Bellah and W G Mcloughlin (eds) Religion in America, Boston, Houghton Mifflin, 1968

Berger, S ed , *Religion in West European Politics* London Cass, 1983

Berger, P , *The Social Reality of Religion* London Faber 1969

Bocock, R , *Ritual in Industrial Society* London Allen & Unwin 1974

Bordeaux, M , *Opium of the People* London Faber 1965 —Religious Ferment in Russia, London Macmillan 1968

Bounquet, A C *Hinduism* London Hutchinson University Library, 1949

Brecher, M , *Nehru A Political Biography* New York Oxford University Press, 1959

Brown, D M , *White Umbrella*, Berkeley, University of California Press, 1964

Campbell, C , *Towards a sociology of Irreligion* London Macmillan, 1971

Chadwick, O , *The Secularization of the European Mind in the nineteenth Century*, Cambridge, Cambridge University Press, 1975

Chandra, Bipin, *Communalism in Modern India*, New Delhi Vikas Pub House, 1984

Charlton, D , *Secular Religion in France*, Oxford, Oxford University Press, 1963

Chatterji, P C , Secular Values for Secular India, Lola Chatterji, *1984*

Collins, L and D Lapierre, Freedom at Midnight, London Pan Books Ltd 1977

Coomaraswamy, A , *Buddha and the Gospel of Buddhism,* London, George G Harrap & Co Ltd , 1923

Cooray, J A L , *Constitutional Government and Human Rights in a Developing Society,* Colombo, C A L Ltd , 1969

Corwin, E S , *The Constitution of Powers in a Secular State,* Charlottesville, The Michie Co , 1951

Curran J A *Militant Hinduism in Indian Politics,* New Delhi, 1979 reprint

Currie R with *A Gilbert, Churches and Church Going,* Oxford University Press 1978

Dahl, R *Political Oppositions in Western Democracies,* New Haven, Yale University Press, 1966

Dahrendorf, R , *Class and Class Conflict in Industrial Society* Stanford University Press, 1959

Davies, C *Permissive Britain,* London Pitman, 1975

Derrett, J D M , *Hindu Law Past and Present,* Calcutta A Mukherjee & Co , 1975

Derrett, J D M *Introduction to Modern Hindu Law,* Oxford Oxford University Press, 1963

Desai, A R , *Social Background of Indian Nationalism,* Bombay Popular Book Depot 1954

Dixit, P , *Communalism — A struggle for Power,* New Delhi, 1974

Dube, M P , *Jawaharlal Nehru Legacy and Legend,* Nainital kumaun University Pub , 1989

Dube, S C , *Modernization and Development,* New Delhi Vistaar Pub 1988

—(ed), *India Since Independence A Social Report on India 1947-1972* New Delhi, 1977

Dumont, L , *Homo Hierarchicus Caste System and Its Implications,* Chicago, 1970

— *Religion / Politics and History in India,* in his collected papers in Indian Sociology, Paris, 1970

Dunn, J , *The Political Philosophy of John Locke,* Cambridge University Press, 1969

Durant, W , *The Life of Greece,* New York Simon, Schuster, 1939

Edwards, M , *A History of India From the Earliest Times to the Present Day* London Thames and Hudson, 1961
—British India London Sidgwick and Jackson, 1967
Eisenstadt, S N (ed), *The Protestant Ethn and Modernization* London Basic Books, 1968
Enayat, H , *Modern Islamic Poltical Thought* London Macmillan 1982
Esposite, John L (ed) *Islam and Development Religion and Sociopolitical Change* New York Syracuse University Press 1980
Fletcher, W C , *A Study in Survival The Church in Russia 1927-1943* New York Macmillan 1965
— *The Russian Orthodox Church Underground*, 1917-1970 Oxford Oxford University Press, 1971
Fischer, Michael M J *Islam and the Revolt of the Petit Bourgeoisie* Daedalus, Winter, 1982
Fullinwider, R K , *The Reverse Discrimination Controversy* Rowman and Littlefield, 1980
Fyzee, A A A Outlines of Muhammadan Law 4th ed , Oxford Oxford University Press, 1974
Gajendragadkar, P B , *Secularism and the Constitution of India* Bombay, University of Bombay 1971
— *The Indian Parliament and Fundamental Rights* Calcutta Eastern Law House, 1972
Galanter, Marc, *Competing Equalities Law and the Backward Classes in India* Oxford University Press, 1984
Gellner, E , *Contemporary Thought and Politics*, Routledge, 1974
Ghoshal U N , *A History of Hindu Political Theories* Calcutta Oxford University Press, 1966
Ghouse, M , Secularism, Society and Law in India Vikas Publishing House, 1972
Ghurye, G S , *Caste and Race in India* Bombay Popular Prakashan, 1969
Glasner, P , *Scularization*, London Routledge, 1977
Goldman A H , *Justice and Reverse Discrimination*, Princeton University Press, 1979
Gopal, S , *British Policy in India, 1858-1905*, New Delhi, 1975 reprint
— *Jawaharlal Nehru — A Biography*, 3 Vols , O U P , 1978
Golwalkar, M S , *Bunch of Thoughts*, Bangalore, 1966

Guillaume, A , *Islam* Penguin Books, 1954
Gopal, Ram, *Indian Muslims A Political History (1858-1947)*, Bombay, 1959
Gore, M S , *Urbanisation and Social Change*, New Jeresy, 1968
Goyal, D R , *Rashtriya Swayamsewak Sangh*, New Delhi, 1979
Hadden, J K (ed), *Religion in Radical Transition*, Transaction Books, 1971
Hammond, P E (ed) *The Sacred in the Secular Age* Berkeley, University of California Press, 1985
Hastings J (ed), *Encyclopaedia of Religion and Ethics* Edinburgh, New York, 1913
Holyoke, G.J , *Christianity and Secularism*, London, 1863
Ikram S M , *Muslim Civilization in Indus* (ed A T Embree), New York, Columbia University Press, 1964
Iyer R N , *The Moral and Poltical Thought of Mahatma Gandhi*, New York Oxford University Press 1973
Jack, H A (ed), *The Gandhi Reader London* Dennis Dobson, 1958
Jain, P C, *Law and Religion Allahabad* A C S Chand, Meergamy,
1974
Jayswal, K P , *Hindu Polity*, Calcutta Butterworth 1924
Jenkins, D , *The British Their Identity and Their Religion* London S C M Press 1975
Kabir Humayun *Muslim Politics 1906 1947 and Other Essays*, Calcutta 1969
Kant, I *The Metaphysical Elements of Justice* 1787
Kauper, P O , *Civil Liberties and the Constitution* Michigan University Press 1962
Kolarz W , *Religion in the Soviet Union* New York St Martin's Press 1962
Kothari Rajni *Politics in India* Boston Little Brown, 1970
Laponce, J A , *The Protection of Minorities* Berkeley University of California Press, 1960
Lewis, E , *Medieval Political Ideas*, Routledge & Kegan Paul, 1954
Lively, J , Democracy Oxford Blackwell, 1975
Luthera, V P , *The Concept of the Secular State and India*, O U P , 1964
Mahar, Michael (ed), *Untouchables in Contemporary India*, Tucson, 1972

Mahmood, T , *Family Law Reforms in the Muslim World*, Bombay, N M Tripathi, 1972

Majumdar, R C (ed) with H C Raychaudhuri and K Datta *An Advanced History of India* London, Melbourne, Toronto St Martin's Press, 1965

Mandelbaum, D G , *Society in India*, 2 Vols , Berkeley, 1970

Mansfield, H C Jr , *The Spirit of Liberalism* Harvard University Press, 1978

Marshall, R H (ed), *Aspects of Religion in the Soviet Union, 1917-1967*, University of Chicago Press, 1971

Martin, D , *A General Theory of Secularization* Oxford, Blackwell, 1978

McGovern, W M , *From Luther to Hitler* London George G Harrap, 1941

McLellan, D , *The Thought of Karl Marx*, London Macmillan, 1981

McLoughlin, W , with R N Bellah, *Religion in America*, Boston Houghton Mifflin, 1968

Merkl, P and Smart N (eds), *Religion and Politics in the Modern World* University of New York Press 1983

Miller, D , *Social Justice* Oxford Clarendon Press, 1976

Mishra, B B , *The Judicial Administration of the East India Co , in Bengal, 1765-1782*, Motilal Banarasidas 1961

Mol, H (ed), *Western Religion*, The Hague Mouton, 1972

Moyser, G (ed), *Church and Politics Today* Edinburgh Clark 1985

Mujeeb, M , *The Indian Muslims*, London 1969 impression

Narang, A S , *Democracy, Development and Distortion* Punjab Politics in National Perspective, New Delhi, Gitanjali, 1986

Nicholls, D *Church and State in Britain Since 1820*, London Routledge, 1967

Niebuhr, H R , *The Kingdom of God in America*, New York, 1949

Nozick, R , *Anarchy, State and Utopia* New York, 1974

Panikkar, K M , *A Survey of Indian History* London Asia Pub House, 1964

—, *The Foundations of New India*, George Allen & Unwin Ltd , 1963

Pantham, T and K L. Deutsch (eds), *Political Thought in Modern India*, New Delhi · Sage, 1986

Pfeffer, L., Church, *State and Freedom*, Boston, Mass Beacon, 1967.

Parry, G , John Locke, London Allen & Unwin, 1978
Philips, C H and Wainwright, M D , *The Partition of India,* London, 1970
Radhakrishnan, S , *An Idealist View of Life,* Allen & Unwin, 1957
—, *East and West Allen & Unwin, 1955*
—, *Eastern Religions and Western Thoughts, O U P , 1940*
—, *The Hindu View of Life, Unwin Books, 1960*
—, *Religion and Society Allen & Unwin, 1947*
—, *Indian Philosophy* 2 Vols
Raphael D , Hobbes, London Allen & Unwin, 1977
— Justice and Liberty, London, 1980
Rao B et al , *The Framing of India's Constitution A Study Select Documents* New Delhi, I I P A , 1968
Rawls J , *A Theory of Justice* Cambridge, 1971
Rosenthal, E I J , *Islam in Modern National State,* Cambridge, 1963
Runciman, S , *The Orthodox Churches and the Secular State,* O U P , 1971
Ryan, A , J S Mill Routledge, 1974
Schneider, L (ed), *Religion,* Culture and Society, New York John Wiley, 1964
Seervai, H M , *Constitutional Law of India,* Bombay, 1989
Sen, K M , Hinduism, Penguin Books, 1961
Shah, A B (ed), *Cow Slaughter — Horns of a Dilemma* Bombay, 1967
Shakir, M , *Politics of Minorities,* Ajanta, 1988
—, *Khilafat to Partition,* New Delhi, 1970
Sharma, G S (ed), *Secularism Its Implications for Life and Law in India,* Bombay, Tripathi, 1966
Shelat, J M , *Secularism, Principles and Applications,* Bombay, Tripathi, 1972
Smith, D E , *India as a Secular State,* Princeton University Press, 1963
Smith, W C , *Modern Islam in India,* Lahore, 1963
Shourie, A , *Religion in Politics,* Roli, New Delhi, 1987
Sills, D (ed), *International Encyclopaedia of the Social Sciences,* T Parsons 1968
Simon, W M , *European Positivism in the Nineteenth Century,* Cornell University Press, 1963
Singer, Milton *When a Great Tradition Modernizes,* New York, 1970

Singh, A (ed), *Punjab in Indian Politics Issues and Trends* Delhi Ajanta, 1985
Smith, D E , *Religion, Politics and Social Change in the Third World*, New York Free Press, 1971
Spellman, J , *The Political Theory of Ancient India*, Clarendon Press, Spencer, R F , Religion and Change in Contemporary Asia University of Minnesota Press 1971
Spiro, M E , *Buddhism and Society*, New York Harper and Row, 1970
Srinivas, M N , *Social Change in Modern India*, Orient Longman 1966
—, *Nation-Building in Independent India*, New Delhi, 1977
Sturzo, L , Church and State 2 Vols Harmondsworth, Penguin 1962
Tarachand, *The History of the Freedom Movement in India* Vol II Tully, Mark and Satish Jacob, Amritsar Mrs Gandhi's Last Battle, 1986
Thapar, R , *A History of India Penguin Books*, 1966
Thomas, K , *Religion and the Decline of Magic*, London, 1971
Tyabji, F B , *Muslim Law*, Tripathi, 1968
Weiner, M , *Party Building in a New Nation The Indian National Congress* University of Chicago Press 1967
White, M G , *The Political Philosophy of the American Revolution* New York O U P , 1978
Willihams, M M , *Hinduism* Delhi Rare Books, 1971
Wilson B R , *Religion in Secular Society* London Watts, 1966
Zaehner, R C , *Hinduism*, Oxford Oxford University Press, 1968